बौद्धभारतीग्रन्थमाला–१९

Bauddh Bharati Series-19

आर्य-असङ्गविरचितः

महायानसूत्रालंकारः

[आचार्यनरेन्द्रदेवकृतहिन्दीरूपान्तरसहितः]

(अनेकविधसूची-पाठान्तरादिसंवलितः)

सम्पादकः

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

महायानसूत्रालंकार

(असंग का दर्शन)

विज्ञानवाद के प्रथम आचार्य असंग हैं। उनके गुरु आर्य मैत्रेयनाथ इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक हैं। महायानसूत्रालंकार इन गुरु-शिष्यों की सम्मिलित कृति है। मूलभाग मैत्रेयनाथ का और टीकाभाग आर्य असंग का कहा जाता है। इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञानवाद का सबसे प्रधान ग्रन्थ महायानसूत्रालंकार है।

हम देखेंगे कि असंग का दर्शन समन्वयात्मक है। इसमें सौत्रान्तिकों का क्षणिकवाद, सर्वास्तिवादियों का पुद्गल-नैरात्म्य, और नागार्जुन की शून्यता का प्रतिपादन है। किन्तु वे इस समन्वय को पारमार्थिक विज्ञानवाद की परिधि मे संपादित करना चाहते हैं।

वस्तुतः असंग का दर्शन विज्ञानवादी अद्वयवाद है, जिसमे द्रव्य का अभाव है। मानना होगा कि यह एक नवीन मतवाद है।

इस महायानसूत्रालङ्कार में इसी विज्ञानवाद का विस्तृत विवेचन किया गया है।

—आचार्य नरेन्द्रदेव

मूल्य : ७५.००

बौद्धभारतीग्रन्थमाला-१९

Bauddha Bharati Series-19

महायानसूत्रालङ्कारः

सम्पादक

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

Bauddha Bharati Series–19

MAHĀYĀNASŪTRĀLAṄKĀRA

By

ĀRYA ASAṄGA

With

Hindi Summary

By

Acharya Narendra Deva

Editor

Swami Dwarika Das Shastri

BAUDDHA BHĀRATĪ

VĀRĀṆASĪ

1985

बौद्धभारतीग्रन्थमाला–१९

आर्य-असङ्गविरचितः

महायानसूत्रालङ्कारः

[आचार्यनरेन्द्रदेवकृतसंक्षिप्तहिन्दीरूपान्तरसहितः]

(अनेकविधसूची-पाठान्तरादिसंवलितः)

सम्पादकः

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

व्याकरणपालि-साहित्यबौद्धदर्शनाचार्यः

१९८५ ख्रिष्टाब्दः] वाराणसी [२५२७ बुद्धाब्दः

प्रकाशकीयम्

सर्वलोकमहोरात्रं षट्कृत्वः प्रत्यवेक्षसे।
महाकरुणया युक्त हिताशय नमोऽस्तु ते॥

मान्या विद्वद्वरेण्याः !

महान् प्रमोदावसरोऽयमस्मत्कृते यद् वयं बौद्धभारतीग्रन्थमालाया एकोनविंशपुष्परूपेण, नानाविधसूच्यादिपरिशिष्टांशेन सह साधु संस्कृत्य, यथोपलब्धम्, आर्य-असङ्गपादैर्विरचितम् **महायानसूत्रालङ्कार**ग्रन्थं (संक्षिप्तहिन्दीरूपान्तर-सहितं) श्रीमतां करकमलेषु सादरं समुपाहरामः।

इतः पूर्वमस्माभिरस्यामेव ग्रन्थमालायाम् आचार्य धर्मकीर्तेः ग्रन्थचतुष्कम्, आचार्यवसुबन्धोरभिधर्मकोशम्, आर्यनागार्जुनस्य मध्यमकशास्त्रम्, आचार्यशान्तरक्षितस्य तत्त्वसंग्रहश्च—इत्येतानि ग्रन्थरत्नानि साधु संस्कृत्य प्रकाशितानि। एषां सर्वेषामेव ग्रन्थानामस्मत्सम्पादितानि संस्करणानि नातिचिरमेव मुद्रणावशेषाणि जातानीत्यहो अस्या ग्रन्थमालाया माहात्म्यं प्रामाण्यं च !

ग्रन्थस्यास्य संस्करणमिदं श्री सिल्वन लेवी महोदयेन सम्पादितं संस्करणम्, भारते च दरभंगास्थ बौद्धसंस्कृतग्रन्थावली (१३) संस्करण माधारीकृत्य सम्पादितम्। अत्र संस्कृताल्पज्ञानामनुसन्धित्सूनां कृते ग्रन्थस्यातीवोपयोगि नातिसंक्षिप्तं परन्तु प्रामाणिकं हिन्दीरूपान्तरमपि, समायोजितम्, येन ग्रन्थागतविषयसौलभ्यमनायासेनेव स्यादिति। रूपान्तरविषये न केनापि सन्दिहानेन भवितव्यम्, यतो हीदं रूपान्तरं महामतिनाऽऽचार्यनरेन्द्रदेवेन (स्वकीये बौद्धधर्म-दर्शने आर्यअसङ्गस्य विज्ञानवादनिरूपणावसरे) कृतमिति न भास्करं प्रमाणयितुं दीपमार्गणा कर्तव्या।

ग्रन्थस्य विस्तृतविषयसूची अपि आर्यासङ्गपादानां शब्दैरेव अत्र संस्कृत-भाषयोपनिबद्धा, येन ग्रन्थावबोधः सुगमो भवेत्।

ग्रन्थे सम्पादनोपयोगीनि विरामादिचिह्नानि तु यथा बौद्धभारतीग्रन्थ-मालाया अन्येषु ग्रन्थेषु प्रयुक्तानि तथैवात्रापि तद्रीत्या प्रयुक्तानीति ग्रन्थावगतिः सुकरा जाता।

अन्ते चानुसन्धित्सूनां कृते श्लोकसूची, विशिष्टशब्दसूची, ग्रन्थ-ग्रन्थकृन्नामसूची अपि महता श्रमेण संयोजिता ।

इत्येवं साङ्गोपाङ्गमिदं संस्करणं विदुषाम्, अनुसन्धित्सूनामन्तेवासिनां च कृते हिताय सुखाय च भविष्यतीत्याशास्महे ।

वाराणसी
दीपावलिः, २०४२ वि०

प्रकाशकः
(बौद्धभारतीपरिषन्मन्त्री)

महायानसूत्रालङ्कार

का

हिन्दीसंक्षेप

(आर्य असंग का विज्ञानवाद)

—आचार्य नरेन्द्रदेव

असंग का दर्शन

आर्य असंग विज्ञानवाद के प्रथम आचार्य हैं। उनके गुरु मैत्रेयनाथ इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक हैं। महायानसूत्रालंकार इन गुरु-शिष्यों की संमिलित कृति है। मूलभाग मैत्रेयनाथ का और टीकाभाग आर्य असंग का कहा जाता है। इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञानवाद का सबसे प्रधान ग्रन्थ महायान-सूत्रालङ्कार है। हम देखेंगे कि असंग का दर्शन समन्वयात्मक है। इसमें सौत्रा-न्तिकों का क्षणिकवाद, सर्वास्तिवादियों का पुद्गल-नैरात्म्य, और नागार्जुन की शून्यता का प्रतिपादन है। किन्तु असंग इस समन्वय को पारमार्थिक विज्ञानवाद की परिधि में संपादित करना चाहते हैं। वस्तुतः असंग का दर्शन विज्ञानवादी अद्वयवाद है, जिसमें द्रव्य का अभाव है। मानना होगा कि यह एक नवीन मत-वाद है। हम यहाँ महायानसूत्रालङ्कार के आधार पर असंग के दर्शन का विवेचन कर रहे हैं।

१. महायानसिद्धयधिकार

महायान का बुद्ध-वचनत्व—प्रथम अध्याय में महायान की सत्यता सिद्ध की गयी है। विप्रतिपन्न कहेंगे कि महायान बुद्धवचन नहीं है। यदि महायान सद्धर्म में अन्तराय होता, और महायानसूत्रों की रचना पीछे से किसी ने की होती, तो जिस प्रकार भगवान् ने अन्य अनागत भयों का पहले ही व्याकरण कर दिया था तद्वत् इस अनागत भय का भी व्याकरण किया होता। पुनः श्रावकयान और महायान की प्रवृत्ति आरंभ से ही एक साथ हुई है। महायान की प्रवृत्ति पश्चात् नहीं हुई है। यह एक उदार और गंभीर धर्म है। अतः यह तार्किकों का गोचर नहीं है। तीर्थिक शास्त्रों में यह प्रकार नहीं पाया जाता। अतः यह कहना युक्त नहीं है कि तीर्थिकों ने इस धर्म का व्याख्यान किया है। पुनः यदि इस धर्म का व्याख्याता कोई अन्य है, जो सम्यक्-संबोधि को प्राप्त है, तो यह

निःसन्देह बुद्धवचन है, क्योंकि वही बुद्ध है जो संबोधि की प्राप्ति कर देशना देता है।

पुनः यदि कोई महायान है, तो इसका बुद्धवचनत्व सिद्ध है, क्योंकि किसी दूसरे महायान का अभाव है। अथवा यदि कोई महायान नहीं है, तो उसके अभाव में श्रावकयान का भी अभाव होगा। यह कहना युक्त न होगा कि श्रावकयान तो बुद्धवचन है, और महायान नहीं है। क्योंकि बुद्धयान के बिना बुद्धों का उत्पाद नहीं होता।

महायान की भावना से क्लेश प्रतिपक्षित होते हैं, क्योंकि यह सर्व निर्वि-कल्प ज्ञान का आश्रय है। यह भी इसके बुद्धवचन होने का प्रमाण है।

महायान का अर्थ गंभीर है। यह रुतार्थ से भिन्न है, अतः रुतार्थ का अनु-सरण करने से इसका अभिप्राय विदित नहीं होता; किन्तु इसलिए यह कहना कि यह बुद्धवचन नहीं है, अयुक्त है।

यदि कोई यह कहे कि भगवान् ने इस अनागत भय को उपेक्षा के कारण व्याकृत नहीं किया, तो यह अयुक्त है। बुद्ध प्रत्यक्षदर्शी हैं। उनके ज्ञान की प्रवृत्ति अयत्नतः होती है। वे शासन के रक्षक हैं। उनमें अनागत ज्ञान का सामर्थ्य भी है, क्योंकि सर्वकाल में उनका ज्ञान अव्याहत होता है। अतः शासन में होने वाले किसी अनागत उपद्रव की वे उपेक्षा नहीं कर सकते।

इन विविध कारणों से महायान का बुद्धवचनत्व सिद्ध होता है।

महायान की उत्कृष्टता—यदि कोई यह कहे कि श्रावकयान महायान है, और इसी से महाबोधि की प्राप्ति होती है, तो हम इसका विरोध करते हैं।

श्रावकयान में वैकल्य है, क्योंकि इसमें श्रावकों के लिए अपनी विमुक्ति-मात्र के उपाय का ही उपदेश किया गया है, और परार्थ कोई भी आदेश नहीं है। स्वार्थ परार्थ नहीं हो सकता। पुनः यह विरुद्ध है कि जो अपने ही परिनिर्वाण का अर्थी है, और उसी के लिए प्रयोग करता है, वह अनुत्तर सम्यक्-संबोधि का लाभ करेगा। चाहे कोई बोधि के लिए चिरकाल तक श्रावकयान का अनुसरण करे वह बुद्ध नहीं हो सकता। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए श्रावकयान उपाय नहीं है, और अनुपाय द्वारा प्रार्थित अर्थ की प्राप्ति नहीं होती; चाहे आप चिरकाल तक उसका प्रयोग क्यों न करें। पुनः श्रावकयान में महायान का सा उपदेश नहीं उपलब्ध होता, अतः यह सिद्ध होता है कि श्रावकयान महायान होने की पात्रता नहीं रखता।

श्रावकयान से विरोध—इतना ही नहीं, श्रावकयान और महायान का अन्योन्यविरोध है। पाँच प्रकार से इनका विरोध है :—आशय, उपदेश, प्रयोग, उपस्तम्भ, काल। श्रावकयान में आत्मपरिनिर्वाण के लिए ही आशय होता है।

इसी के लिए इसका आदेश और प्रयोग है। इसका उपस्तम्भ (आधार) परीत्त है, और पुण्यज्ञान-संभार में संगृहीत है। इसके अर्थ की प्राप्ति भी अल्पकाल में ही होती है, यहाँ तक कि तीन जन्म में भी हो जाती है। किन्तु महायान में इसका सब विपर्यय है। इस अन्योन्य विरोध के कारण जो यान हीन है, वह वस्तुतः हीन ही है; वह महायान होने की योग्यता नहीं रखता।

कदाचित् यह कहा जायगा कि बुद्धवचन का लक्षण यह है कि इसका सूत्र में अवतरण और विनय में संदर्शन होता है, और यह धर्मता का विरोध नहीं करता (बुद्धवचनस्येदं लक्षणं यत् सूत्रेऽवतरति, विनये संदृश्यते, धर्मतां च न विलोमयति)[१]। किन्तु महायान का यह लक्षण नहीं है, क्योंकि सर्व धर्म निःस्वभाव है, यह उसका उपदेश है, अतः यह बुद्धवचन नहीं है।

यह आक्षेप अयथार्थ है। लक्षणों का कोई विरोध नहीं है। स्वकीय महायानसूत्र में महायान का अवतरण है। महायान में बोधिसत्त्वों का जो क्लेश उक्त है, उसके विनय में महायान का संदर्शन होता है। वस्तुतः विकल्प ही बोधिसत्त्वों का क्लेश है। श्रावकयान के विनय में भिक्षुओं के नियमों का उल्लेख है। महायान का विनय बोधिचर्या और शील का उपदेश देता है। पुनः महायान धर्मता के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि यह उदार और गंभीर है। धर्मता से ही महाबोधि की प्राप्ति होती है। फिर महायान धर्मता के विरुद्ध क्यों हो ?

महायान से त्रस्त होने का कोई कारण नहीं है। इसमें केवल शून्यता का ही आख्यान नहीं है, इसमें संभारमार्ग का भी आख्यान है। इस आख्यान का यथारुत अर्थ नहीं है, और बुद्धों का भाव अतिगहन है। इस कारण महायान से त्रास करने का कोई स्थान नहीं है। 'मुझे बोध न होगा', 'बुद्ध भी गम्भीर पदार्थ का बोध नहीं रखते, फिर वह क्या उपदेश देंगे ?' 'गम्भीर अतर्कगम्य क्यों हैं ?' 'गम्भीर पदार्थ के अर्थवेत्ताओं का ही मोक्ष क्यों है, तार्किकों का क्यों नहीं है ?' इत्यादि त्रास के हेतु अयुक्त हैं।

महायान उत्कृष्ट है। उसकी देशना उदार और गम्भीर है। इसलिए उसमें अधिमुक्ति (=श्रद्धा) होनी चाहिये।

---

१. ''तानि चे सुत्ते ओतरियमानानि विनये सन्दिस्सियमानानि सुत्ते चेव ओतरन्ति, विनये च सन्दिस्सन्ति, निट्ठंयेत्थ गन्तब्बं 'अद्धा इदं तस्स भगवतो वचनं' ति। महापरिनिब्बानसुत्त [दीघनिकाय, १५।४।८]। इसमें 'धर्मता के अविलोमन' का लक्षण नहीं है, किन्तु चुल्ल-सद्द-नीति में यह वाक्य पाया जाता है :—''भगवा पन धम्मस्सभावं अविलोमेन्तो तथा तथा धम्मदेसनं नियमेति''।

इस प्रकार महायान की सत्यता को सिद्ध कर असंग शरणगमन को बोधिसत्त्व की अधिमुक्ति का मूल आधार बताते हैं ॥

२. शरणगमनाधिकार

शरण-गमन—यह यथार्थ है कि शरण (= त्रिरत्न) गमन शासन के आदि से ही सब बौद्धों को समान रूप से मान्य है। किन्तु असंग का कहना है महायान में जो त्रिरत्न की शरण में जाता है, वही शरणागतों में सर्वश्रेष्ठ है। इसमें चार हेतु हैं—सर्वत्रगार्थ, अभ्युपगमार्थ, अधिगमार्थ एवं अभिभवार्थ। यह अग्रयान है, क्योंकि इसमें जो सिद्धि प्राप्त करता है, वह सत्त्वहित का साधन करता है। इसका प्रणिधान और इसकी प्रतिपत्ति विशिष्ट है, अतः इस यान का शरण भी अग्र है।

इस यान में शरणप्रगत सर्वत्रग है। उसने सब सत्वों के समुद्धरण का भार अपने ऊपर लिया है। वह सब यानों में (श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध, बोधिसत्त्व) कुशल है। वह सर्वगत ज्ञान में कुशल है, अर्थात् पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान रखता है। उसमें निर्वाण का सर्वत्रगार्थ है, क्योंकि वह निर्वाण और संसार में एकरस है, और उसके लिए निर्वाण और संसार में गुण अथवा दोष की दृष्टि से विशेष नहीं है। (यो निर्वाणे संसरणेऽप्येकरसोऽसौ ज्ञेयो धीमानेष हि सर्वत्रग एवम्–म० सू० ८ पृ०)।

इस विचार में नागार्जुन की शिक्षा की प्रतिध्वनि मिलती है। आरम्भ से ही हमको माध्यमिक विचार-सरणी के चिह्न मिलते हैं।

शरणगमन के अन्य लक्षण जैसा कि महायान में उपदिष्ट है, बोधिसत्त्व की पारमिताओं का अभ्युपगम और अधिगम है। पारमिताओं के अभ्युपगम से वह बुद्धपुत्र हो जाता है। उसका प्रणिधान और प्रयोग विशिष्ट है। वह सत्त्वों के समुद्धरण के आशय से बोधिचित्त का समादान करता है, और अत्यन्त उत्साह के साथ बोधि के लिए प्रयोग करता है।

इस बुद्धपुत्र का बीज बोधिचित्त का उत्पाद है। प्रज्ञापारमिता इसकी माता है, और प्रज्ञापारमिता से संप्रयुक्त पुण्य-ज्ञान-संभार गर्भ है, और करुणा अप्रतिम धात्री है।

उसका अधिगम भी विशिष्ट है। उसको महापुण्य-स्कन्ध का लाभ होता है, उसके सर्व दुःख का उपशम होता है; सम्यक्-संबोधि के क्षण में उसको बुद्ध के धर्मकाय की प्राप्ति होती है; उसको बलवैशारद्यादि कुशल-संभार की प्राप्ति होती है, और वह भव तथा निरोध दोनों से विमुक्त होता है।

इसी प्रकार बोधिसत्त्व अपने विपुल, उदग्र और अक्षय कुशल-मूल से श्रावकों को अभिभूत करता है। निर्वाण में यह उसका विशिष्ट अभिभवार्थ है। उसके कुशल-मूल क्षीण नहीं होते। उसके गुणों की अप्रमेय वृद्धि होती है, और

वह अपने कृपाशय से इस जगत् का प्रतिवेध करता है, और महायान धर्म को प्रसिद्ध करता है ॥

३. गोत्राधिकार

बोधिसत्त्व के गोत्र

शरण-गमन से बोधिसत्त्व के गोत्र[1] में प्रवेश होता है। गोत्र का अस्तित्व धातु-भेद, अधिमुक्ति-भेद, प्रतिपत्ति-भेद और फलभेद से निरूपित होता है। सत्त्वों के अपरिमाण धातु-भेद है। इसीलिए तीन यानों में गोत्र-भेद है। सत्त्वों में अधिमुक्ति-भेद (= श्रद्धाभेद) भी पाया जाता है। किसी की किसी यान में पहले से हो अधिमुक्ति होती है। यह गोत्र-भेद के विना नहीं हो सकता। प्रत्ययवश अधिमुक्ति के उत्पादित होने पर भी प्रतिपत्ति-भेद होता है। कोई निर्वोढा होता है, कोई नहीं। यह गोत्र-प्रभेद के विना संभव नहीं है। फल-भेद भी देखा जाता है, जैसे किसी की बोधि हीन, किसी की मध्य और किसी की विशिष्ट होती है। क्योंकि बीज के अनुरूप फल होता है। इसलिए यह प्रभेद भी गोत्र-भेद के बिना नहीं हो सकता।

निमित्त—चार निमित्तों से बोधिसत्त्वों के गोत्र का अग्रत्व प्रदर्शित होता है। श्रावकों के इस प्रकार के उदग्र कुशल-मूल नहीं होते। उनमें सब कुशल-मूल भी नहीं होते, क्योंकि उनमें बलवैशारद्यादि का अभाव है। श्रावकों में परार्थ भी नहीं होता और उनके कुशल-मूल अक्षय भी नहीं हैं, क्योंकि निरुपधिशेष-निर्वाण में उनका अवसान होता है।

बोधिसत्त्व-गोत्र में चार लिङ्ग होते हैं—१. सत्त्वों के प्रति कारुण्य, २. महायान धर्म में अधिमुक्ति, ३. क्षान्ति अर्थात् दुष्करचर्या की सहिष्णुता, ४. पारमितामय कुशल का समाचार (निष्पत्ति)। संक्षेप में गोत्रों के चार भेद हैं :—
१. नियत, २. अनियत, ३. प्रत्ययवश अहार्य, ४. प्रत्ययवश हार्य।

असंग बोधिसत्त्व-गोत्र की उपमा महासुवर्णगोत्र से देते हैं, और इसके माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह अप्रमेय कुशल-मूल और ज्ञान का

---

१. अंगुत्तर निकाय ४।३७३ और ५।२३ में 'गोत्रभू' शब्द आता है। नौ या दश आर्य-पुद्गलों की सूची में इसका निम्नतम स्थान है। एक में स्रोतापत्तिफलप्रतिपन्नक के पश्चात्, दूसरी सूची में श्रद्धानुसारी के पश्चात्। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' में 'पुथुज्जन' (= पृथग्जन) से इसका ऊँचा स्थान है। इसके अनुसार 'गोत्रभू' वह पुद्गल है, जो आर्य धर्म में प्रवेश करने के लिए आवश्यक धर्म से युक्त है। महाव्युत्पत्ति (६४) में पाँच गोत्र गिनाए गए हैं :—श्रावकयानाभिसमय, प्रत्येकबुद्ध, तथागत, अनियत और अगोत्रक।

आश्रय है, तथा इससे बहुसत्त्व का परिपाक होता है। यह बोधिवृक्ष का प्रशस्त मूल है। इससे सुख-दुःख का उपशम होता है, और अपने तथा पराए हित-सुख के फल का अधिगम होता है ॥

४. चित्तोत्पादाधिकार

बोधिचित्तोत्पाद—बोधिसत्त्वचर्या का आरम्भ बोधिचित्त के उत्पाद से होता है। इस चेतना के दो आलम्बन है :—महाबोधि और सत्त्वार्थ-क्रिया। इसके तीन गुण हैं :—इसमें पुरुषकार-गुण है, क्योंकि इसमें महान् उत्साह और दुष्कर प्रयोग होते हैं। इसमें अर्थक्रिया-गुण और फलपरिग्रह-गुण हैं, क्योंकि यह आत्म-पर-हित का साधन करता है, और इससे बोधि का समुदागम होता है।

इस चित्तोत्पाद का मूल करुणा है। सदा सत्त्वों का हित संपादित करना इसका आशय है; महायानधर्म अधिमोक्ष है; इसका ज्ञान इस चेतना का आलंबन है; इसका यान उत्तरोत्तर छन्द है; इसको प्रतिष्ठा बोधिसत्त्व के शीलसंवर में है; इसका आदीनव अन्य यान में चित्त की उत्थापना या अधिवासना है; इसका अनुशंस पुण्यज्ञानमय कुशलधर्म की वृद्धि है; इसका निर्याण पारमिताओं का सतत अभ्यास है; इसका भूमिपर्यवसान उस भूमि में प्रयोग से होता है। जिस चेतना का प्रयोग होता है, उसका उस भूमि में पर्यवसान होता है।

एक समादान सांकेतिक चित्तोत्पाद होता है, और एक पारमार्थिक। समादान परविज्ञापन से होता है; यथा कल्याणमित्र के अनुरोध से, गोत्रसामर्थ्य से, कुशलमूल के बल से, श्रुतबल से अथवा शुभाभ्यास से। पारमार्थिक चित्तोत्पाद उपदेश-विशेष, प्रतिपत्ति-विशेष और अधिगम-विशेष से होता है। प्रमुदिता भूमि में इस चित्त का उत्पाद होता है। उसकी धर्मों में समचित्तता होती है, क्योंकि वह धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान रखता है। उसकी सत्त्वों में समचित्तता होती है, क्योंकि वह आत्म-पर-समता से उपगत है। उसकी सत्त्वकृत्यों में समचित्तता होती है, क्योंकि अपनी ही तरह वह सत्त्वों के दुःखक्षय की आकांक्षा करता है। उसकी बुद्धत्व में समचित्तता होती है, क्योंकि वह अपने में धर्म-धातु का अभेद जानता है।

जो सत्त्व इस चित्तोत्पाद से वर्जित होते हैं, वे उन चार सुखों को नहीं प्राप्त कर सकते जिनका लाभ बोधिसत्त्वों को होता है। जो सुख परार्थ-चिन्तन से, परार्थ के उपायलाभ से, महायान के गंभीर सूत्रों के आभिप्रायिक अर्थ के जानने से और परम तत्त्व के संदर्शन से बोधिसत्त्व को होता है, उससे वह विरहित होता है। वह इस सुख को त्याग कर शम का लाभ करता है।[1]

---

१. परार्थचित्तात्तदुपायलाभतो महाभिसन्ध्यर्थसुतत्त्वदर्शनात्।
महार्हचित्तोदयवर्जिता जनाः शमं गमिष्यन्ति विहाय तत्सुखम् ॥ [१७ पृ०]

जो सत्त्व बोधिचित्त का उत्पाद करता है, उसका चित्त अनन्त दुष्कृतों से सुसंवृत होता है, और इसलिए उसको दुर्गति से भय नहीं होता। वह शुभ कर्म और कृपा की वृद्धि करता है। वह सदा सुख-दुःख में प्रसन्न रहता है।

उसकी आत्मा की उपेक्षा पर प्रियतर है। वह पराए के लिए अपने शरीर और जीवन की उपेक्षा करता है। वह कैसे अपने लिए दूसरों का उपघात कर दुष्कृत में प्रवृत्त होगा!

संपदावस्था तथा विपदावस्था में वह क्लेश और दुःख से भयभीत नहीं होता। वह पर के लिए उद्योग करता है। अवीचि भी उसके लिए रम्य है। फिर वह कैसे दूसरे के कल्याण के निमित्त दुःखोत्पाद से त्रस्त होगा!

वह सत्त्वों की उपेक्षा कभी नहीं कर सकता। उसके चित्त में महाकारुणिक भगवान् नित्य निवास करते हैं। उसका चित्त दूसरे के दुःख से दुःखी होता है। पर-कल्याण के लिए कुछ करने का अवसर प्राप्त होने पर यदि उसके कल्याण-मित्र समादापना करें, तो उसको अति लज्जा होती है। बोधिसत्त्व ने अपने ऊपर सत्त्वों का महान् भार लिया है। वह सत्त्वों में अग्र है, अतः शिथिल गति उसको शोभा नहीं देती। उसको श्रावकों की अपेक्षा सौगुना वीर्य करना चाहिये[1]।

५. प्रतिपत्त्यधिकार

बोधिसत्त्व का संभार—५वें अधिकार में असंग बताते हैं कि यह सुगतात्मज है। जिसने बोधिचित्त का ग्रहण किया है, वह कैसे महाकरुणा से प्रेरित हो महाबोधि के लिए प्रस्थान कर संभार में प्रवृत्त होता है। वह अपने और पराए में विशेष नहीं करता। उसको समानचित्तता प्राप्त है। वह अपने से पराए को श्रेष्ठतर भी मानता है। उसका कौन स्वार्थ है, कौन परार्थ! उसके लिए दोनों एक समान हैं। इसीलिए अपने को सन्तप्त करके भी वह परार्थ को साधित करता है। संसार में शत्रु के प्रति भी लोग इतने निर्दय न होंगे, जितना कि अपने प्रति बोधिसत्त्व निर्दय होता है, जब वह दूसरों के लिए अत्यन्त दुःख का अनुभव करता है। विमूढ़ जन अपने सुख के लिए सचेष्ट होता है, और उसके न प्राप्त होने पर दुःखी होता है; किन्तु जो परार्थ के लिए उद्यत है, वह स्वार्थ का संपादन कर निर्वृति-सुख को प्राप्त होता है। अनेक प्रकार से बोधिसत्त्व हीन, मध्य, विशिष्ट गोत्रस्थों का हित संपादित करता है। वह उनको देशना देता है; ऋद्धि-प्रातिहार्य से उनका आवर्जन करता है; उनको शासन में अवतीर्ण करता

---

१. "शिरसि विनिहितोच्चसत्त्वभारः शिथिलगतिर्नहि शोभतेऽग्रसत्वः।" (१९ पृ०)

है; अनेक संशयों का निराकरण करता है; कुशल में उनका परिपाक करता है; अववाद-चित्तस्थिति, प्रज्ञाविमुक्ति में सहायक होती है; उनको अभिज्ञादि विशेष गुणों से विभूषित करता है, तथागत-कुल में जन्म, आठवीं भूमि में व्याकरण, दशवीं भूमि में अभिषेक और साथ ही साथ तथागत-ज्ञान का लाभ उनको कराता है।

प्रजुलुस्की के शब्दों में महायान बार बार इस वाक्य को दुहराता है कि—"स्वर्ग जाना छोटी सी बात है। मेरी तो प्रतिज्ञा है कि मैं तुमको भी वहाँ ले चलूँगा।"

६. तत्त्वाधिकार

असंग के दार्शनिक विचार

अद्वयवाद—इसके पश्चात् असंग दार्शनिक प्रश्नों को लेते हैं। छठे अधिकार के आरम्भ के विचार माध्यमिक है "परमार्थ न सत् है, न असत्; न तथा है, न अन्यथा; न इसका उदय होता है, न व्यय, न इसकी हानि होती है, न वृद्धि; यह विशुद्ध नहीं होता है, पुनः विशुद्ध होता है। यह परमार्थ का लक्षण है।"

परमार्थ अद्वयार्थ है। परिकल्पित और परतन्त्र लक्षणवश यह सत् नहीं है, और परिनिष्पन्न लक्षणवश यह असत् नहीं है। परिनिष्पन्न परिकल्पित और परतन्त्र से एकत्व का अभाव है। इसलिए यह 'तथा' नहीं है। यह 'अन्यथा' भी नहीं है, क्योंकि परिनिष्पन्न का उनसे अन्यत्व भी नहीं है। परमार्थ का उदय-व्यय नहीं होता, क्योंकि धर्म-धातु अनभिसंस्कृत है। इसकी हानि-वृद्धि नहीं होती, क्योंकि संक्लेश-पक्ष के निरोध और व्यवदान-पक्ष के उत्पाद पर यह तदवस्थ रहता है। यह विशुद्ध नहीं होता, क्योंकि प्रकृति से यह असंक्लिष्ट है, और विशुद्ध भी होता है, क्योंकि आगन्तुक उपक्लेश का विगम होता है।

अनात्मदृष्टि—सब बौद्धवादों के समान असंग भी आत्मदृष्टि-विपर्यास का प्रतिषेध करते हैं। आत्मदृष्टि का लक्षण आत्मा नहीं है, दुःसंस्थितता भी आत्म-लक्षणा नहीं है; आत्मदृष्टि परिकल्पित आत्मलक्षण से विलक्षण है, क्योंकि पञ्च-स्कन्ध दुःखमय है, और दुःसंस्थितता पुनः पञ्चोपादान-स्कन्ध है। इन दो से, अर्थात् आत्मदृष्टि और पञ्चोपादान-स्कन्ध से अन्य किसी आत्मलक्षण की उप-पत्ति नहीं होती, अतः आत्मा का अस्तित्व नहीं है। यह आत्मदृष्टि भ्रममात्र है, अतः आत्मा का अभाव है। मोक्ष भी भ्रममात्र का संक्षय ही है। कोई मुक्त नहीं है।

असंग पूछते हैं कि यह क्यों है कि लोग विभ्रममात्र आत्मदर्शन पर

आश्रित हो यह नहीं समझते कि दुःख की प्रकृति संस्कारों में सतत अनुबद्ध है। जो दुःख का संवेदन नहीं करता, वह उस दुःख-स्वभाव के ज्ञान से दुःखी होता है। जो वेदक है, वह दुःख के अनुभव से दुःखी है। यदि वह दुःखी है, तो इस-लिए कि दुःख अप्रहीण है। यदि वह दुःखी नहीं है, तो इसलिए कि दुःखयुक्त आत्मा का अभाव है। जब लोग भावों का प्रतीत्य-समुत्पाद प्रत्यक्ष देखते हैं, जब वे देखते हैं कि उस उस प्रत्ययवश वह वह भाव उत्पन्न होता है, तो उनकी यह दृष्टि क्यों होती है कि दर्शनादिक अन्यकारित हैं, प्रतीत्य-समुत्पन्न नहीं है ? यह कौन सा अज्ञानप्रकार है, जिसके कारण लोग विद्यमान प्रतीत्य-समुत्पाद को नहीं देखते, और अविद्यमान आत्मा को देखते हैं ? यह हो सकता है कि तम के कारण विद्यमान न देखा जा सके, किन्तु अविद्यमान का देखा जाना शक्य नहीं है।[1]

असंग एक आक्षेप का उत्तर देते हुए कहते हैं कि आत्मा के विना भी (पुद्गल का) शम और जन्म का योग है। परमार्थ-दृष्टि से संसार और निर्वाण में किञ्चिन्मात्र अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों का समान नैरात्म्य है। तथापि यह विधान है कि जो शुभ कर्म के करने वाले हैं, जो मोक्षमार्ग की भावना करते हैं, उनको जन्मक्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2] नागार्जुन की भी यही शिक्षा है। विज्ञानवाद और माध्यमिक दोनों का परमार्थ-सत्य एक ही है।

परमार्थ-ज्ञान—आत्मदृष्टि-विपर्यास को निरस्त कर असंग कहते हैं कि इस विपर्यास का प्रतिपक्ष पारमार्थिक ज्ञान है। इस ज्ञान में प्रवेश पुण्यज्ञान-संभार और चिन्ता द्वारा धर्मों के विनिश्चय से होता है। उस समय बोधिसत्त्व अर्थ की गति को जान जाता है। उसको यह अवगत हो जाता है कि अर्थ जल्प-मात्र हैं, और वह अर्थाभास चित्तमात्र में अवस्थान करता है। यह बोधिसत्त्व की निर्वेधभागीय अवस्था है। पुनः उसको धर्मधातु का प्रत्यक्ष होता है, और

---

१. "न चात्मदृष्टिः स्वयमात्मलक्षणा न चापि दुःसंस्थितता विलक्षणा।
द्वयान्न चान्यद् भ्रम एव तूदितस्ततश्च मोक्षो भ्रममात्रसंक्षयः॥
कथं जनो विभ्रममात्रमाश्रितः परैति दुःखप्रकृतिं न सातताम्।
अवेदको वेदक एव दुःखितो न दुःखितो धर्ममयो न तन्मयः॥
प्रतीत्यभावप्रभवे कथं जनः समक्षवृत्तिं श्रयतेऽन्यकारितम्।
तमः प्रकारः कतमोऽयमीदृशो यतोऽविपश्यन् सदसन्निरीक्षते" ॥ (पृ० २३)

२. "न चान्तरं किञ्चन विद्यतेऽनयोः सदर्थवृत्त्या शमजन्मनोरिह।
तथापि जन्मक्षयतो विधीयते शमस्य लाभः शुभकर्मकारिणाम्" ॥ (पृ० २४)

इससे वह ग्राह्यग्राहकलक्षण से विमुक्त होता है। यह दर्शनमार्ग की अवस्था है[१]। बुद्धि द्वारा यह अवगत कर कि चित्त से अन्य आलंबन (ग्राह्य) नहीं है, उसको यह भी अवगत होता है कि चित्तमात्र भी नहीं है, क्योंकि जब ग्राह्य का अभाव है, तब ग्राहक का भी अभाव है।

द्वय में इसके नास्तित्व को जान कर वह धर्मधातु में अवस्थान करता है। भावनामार्ग को अवस्था में आश्रय-परिवर्तन से पारमार्थिक ज्ञान में प्रवेश होता है। समतानुगत अविकल्पक ज्ञान के बल से वह दोष-संचय का निरसन करता है, और बुद्धत्व को प्राप्त होता है।

बोधिचर्या

बोधिचर्या में प्रथम चरण विज्ञप्तिमात्रता है, अर्थात् यह ज्ञान कि ग्राह्य और ग्राहक चित्तमात्र हैं। दूसरे चरण में यह विज्ञानवाद अद्वयवाद में परिवर्तित हो जाता है—"धर्म-धातु का प्रत्यक्ष होने से वह द्वयलक्षण से विमुक्त हो जाता है।" तृतीय चरण—नागार्जुन का यह मत है कि जब बुद्धि से यह अवगत हो गया कि चित्त के अतिरिक्त कोई दूसरा आलंबन नहीं है, तो यह जाना जाता है कि चित्तमात्र का भी अस्तित्व नहीं है; क्योंकि जहाँ ग्राह्य नहीं है, वहाँ ग्राहक भी नहीं है। वह किसी नास्तित्व में पतित नहीं होता, क्योंकि जब बोधिसत्व द्वय में चित्त के नास्तित्व को जान जाता है, तब ग्राह्य-ग्राहक-लक्षण से रहित हो वह धर्म-धातु में अवस्थान करता है। यह मूल चित्त है, जो सम्पिण्डित धर्म को आलंबन बनाता है। चतुर्थ चरण में इस परमार्थ-ज्ञान का प्रयोग बोधिचर्या के लिए होता है[२]॥

७. प्रभावाधिकार

छः अभिज्ञाएँ—छः अभिज्ञा ही बोधिसत्त्वों के प्रभाव हैं। असंग दिखाते हैं कि किस निश्रय, किस ज्ञान, किस मनसिकार से इस प्रभाव का समुदागम होता है। इस प्रभाव का त्रिविध फल है। वह आर्य और दिव्य ब्राह्म-विहारों में नित्य विहार करता है, तथा जिस लोक-धातु में वह जाता है, वहाँ बुद्धों का पूजन और सत्त्वों का विशोधन करता है।

---

१. "अर्थान् स विज्ञाय च जल्पमात्रान् सन्तिष्ठते तन्निभचित्तमात्रे।
प्रत्यक्षतामेति न धर्मधातुस्तस्माद् वियुक्तो द्वयलक्षणेन"॥ (पृ० २४)

२. "नास्तीति चित्तात् परमेत्य बुद्धया, चित्तस्य नास्तित्वमुपैति तस्मात्।
द्वयस्य नास्तित्वमुपैति धीमान्, सन्तिष्ठतेऽतद्गतिधर्मधातौ॥
अकल्पनाज्ञानबलेन धीमतः समानुयातेन समन्ततः सदा।
तदाश्रयो गह्वरदोषसञ्चयो महागदेनेव विषं निरस्यते॥" (पृ० २४)

वस्तुतः जब सविकल्पक ज्ञान का स्थान प्रज्ञा-पारमिता लेती है, अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान का परिग्रह होता है, तब यह ज्ञान धर्म-समूह पर अपना कारित्र कर प्रभाव-सिद्धि निष्पन्न करता है। तब कोई भी कार्य चित्त को व्याघात नहीं पहुँचाता, और योगी अर्थवशित्व प्राप्त करता है। असंग इन अभिज्ञाओं का सविस्तर वर्णन करते हैं, और इस प्रकार विज्ञानवाद का दूसरा नाम योगाचार सार्थक होता है।

यह मत माध्यमिक और एक प्रकार के अद्वय-विज्ञानवाद के बीच की वस्तु है। यह मत आत्मप्रतिषेध को वर्जित कर उपनिषदों का स्मरण दिलाता है। इस प्रकार महायानसूत्रालङ्कार दो दृष्टियों का सन्तुलन करने की चेष्टा करता है, किन्तु दोनों एक बिन्दु पर मिलते हैं। लोक भ्रान्तिमात्र है, यह समान बिन्दु है। यह बिन्दु नागार्जुन और विज्ञानवादी अद्वयवाद दोनों में पाया जाता है (रेने ग्रूसे)। निर्विकल्पक ज्ञान का परिग्रह कर चतुर्थ ध्यान में समापन्न हो योगी सब लोकधातुओं को उनके सत्त्वों के सहित तथा उनके विवर्त-संवर्त के सहित माया के सदृश देखता है, और वह विचित्र प्रकारों से उनका यथेष्ट संदर्शन कराता है; क्योंकि उसको वशिता का लाभ है।

ज्ञानवशित्व से वह शुद्धि को प्राप्त होता है, और अपनी इच्छा के अनुसार बुद्धक्षेत्र को विनेयजनों को दिखाता है और वह सत्त्वों का परिशोधन भी करता है। जो सत्त्व ऐसे लोकधातुओं में उत्पन्न हैं, जो बुद्धनाम से विरहित हैं, उनको वह बुद्धनाम सुना कर बुद्ध में प्रतिपन्न करता है, और वह बुद्धनाम से अविरहित लोकधातुओं में उत्पन्न होता है। उसमें सत्त्वों के परिपाचन की शक्ति होती है। वह क्लेशपरवश जगत् को अपने वश में स्थापित करता है। वह सदा परहित-क्रिया में सुख का अनुभव करता है, और भव का भय नहीं करता ॥

८. परिपाकाधिकार

आत्म-परिपाक व पारमिताओं के प्रयोग—उक्त प्रभाव के कारण बोधिसत्त्व आत्मपरिपाक करता है, तदनन्तर सत्त्वों के परिपाक को योग्यता को प्राप्त होता है, और सत्त्वों का प्रतिशरण होने के कारण जगत् का अग्रबन्धु होता है।

महायान-देशना में रुचि, देशिक में प्रसाद (= श्रद्धा), क्लेशों का प्रशम, सत्त्वों पर अनुकम्पा, दुष्करचर्या में सहिष्णुता, ग्रहण-धारण-प्रतिवेध की मेधा, अधिगम की प्रबलता, मारादि से अहार्यता और प्राहाणिक (= प्रधान) अंगों से समन्वागम आत्म-परिपाक के लक्षण हैं।

अपना परिपाचन कर बोधिसत्त्व दूसरों का परिपाक करता है। वह सत्त्वों का प्रतिशरण होता है। वह सतत धर्मकाय की वृद्धि करता है।

जिस आशय से बोधिसत्त्व सत्त्वों का परिपाक करता है, वह आशय माता-पिता-बान्धवादि के आशय से विशिष्ट है, और आत्म-वात्सल्य से भी विशिष्ट है। आत्म-वत्सल पुरुष अपना हित-सुख संपादित करता है, किन्तु यह कृपात्मा पर-सत्त्व-वत्सल है, क्योंकि यह उनको हित-सुख से समन्वित करता है[१]।

जिस प्रयोग से बोधिसत्त्व सत्त्वों का परिपाक करता है, वह पारमिताओं का प्रयोग है। वह त्रिविध दान से उनका परिपाक करता है। उसके लिए कुछ भी अदेय नहीं है। वह अपना सर्वस्व शरीर, भोगादि दान में देता है। उसका दान विषम नहीं होता, और उससे उसकी कभी तृप्ति नहीं होती। वह सत्त्वों पर दो प्रकार का अनुग्रह करता है—दृष्ट-धर्म में वह उनकी इच्छाओं को पूर्ण करता है, और उनकी कुशल में प्रतिष्ठा करता है।

वह स्वभाव से स्वयं शीलवान् है, और वह दूसरों को शील में सन्निविष्ट करता है। वह क्षान्ति द्वारा सत्त्वों का परिपाक करता है। यदि कोई उसका अपकार करता है, तो वह भी प्रतिउपकार की ही बुद्धि रखता है। वह उग्र व्यतिक्रम को भी सह लेता है। वह उपायज्ञ है, और वह ऐसे सत्त्वों का भी आवर्जन करता है और उनको कुशल में संनिविष्ट करता है। वह अनन्त सत्त्वों के परिपाक के लिए कुशल कर्म करते हुए भी नहीं थकता। इसी प्रकार ध्यान और प्रज्ञा से वह परिपाचन-क्रिया करता है। वह विविध प्रकार से सत्त्वों का परिपाचन करता है। किसी का विनयन सुगति-गति के लिए, किसी का यानत्रय के लिए होता है॥

९. बोध्यधिकार

बुद्धत्व (बोधि) का लक्षण—इस प्रकार आत्म-परिपाक कर बोधिसत्त्व बोधि का लाभ करता है। नवें अधिकार में बोधि का सविस्तर वर्णन है। सर्वगत ज्ञान होने के कारण बोधि लोकधातु से अनन्य है, क्योंकि सर्वज्ञान अपने अर्थ से अभिन्न है; अतः सर्व धर्म बुद्धत्व है। बुद्धत्व तथता से अभिन्न है, और तथता की विशुद्धि से प्रभावित है। बुद्धत्व स्वयं कोई धर्म नहीं है क्योंकि धर्मस्वभाव परिकल्पित है। बुद्धत्व शुक्ल धर्ममय है, क्योंकि पारमितादि कुशल की प्रवृत्ति उसके अस्तित्व से होती है। शुक्ल धर्मों से यह निरूपित नहीं होता, क्योंकि पारमितादि पारमितादिभाव से परिनिष्पन्न नहीं हैं, यह अद्वय लक्षण है।

---

१. "हिताशयेनेह यथा जिनात्मजो व्यवस्थितः सर्वजगद् विपाचयन्।
तथा न माता न पिता न बन्धवः सुतेषु बन्धुष्वपि सुव्यवस्थिताः॥
तथा जनो नात्मनि वत्सलो मतः कुतोऽपि सुस्निग्धपराश्रये जने।
यथा कृपात्मा परसत्त्ववत्सलो हिते सुखे चैव नियोजनान्मतः"॥ (पृ० ३२)

यद्यपि यह तथता है, तथापि यह अधर तथताओं का समुदाय नहीं है। इसमें वह है, किन्तु यह उनके अन्तर्गत नहीं है।

आश्रय-परावृत्ति से ही चित्त इस अवस्था को प्राप्त होता है। यह परावृत्ति चित्त का विपरिणाम करती है, और उसको उत्कृष्ट बनाती है, यहाँ तक कि चित्त आकाशसंज्ञा को प्राप्त होता है, जो अत्यन्त विशुद्ध और अत्यन्त सर्वगत है, और जिससे सब विकल्प अपगत हो गए हैं।

अनास्रव-धातु (वह धातु जो धर्मों के प्रवाह से रहित है) में बोधि का एक प्रकार का द्रव्य होता है। यहाँ बोधिसत्त्व निवास करते हैं, और यह धर्मतथता से अन्य नहीं है। किन्तु जब एक बार बोधि विविध भूमियों से होकर अपने स्थान को पहुँचाती है, तब इसका क्या कारण है कि यह विपरीतभाव से धर्मों की ओर पुनः प्रवृत्त होती है ?

महायान मानता है कि बुद्धों का उपकारक कारित्र नित्य होता है. और इसी से यह कठिनता उत्पन्न होती है; किन्तु उसने त्रिकायवाद से इस कठिनता को दूर किया है। धर्मकाय स्वाभाविक काय है। संभोगकाय वह काय है, जिससे पर्षन्मण्डल में वह धर्मसंभोग करते हैं। निर्माणकाय वह काय है, जिसको निर्मित कर बुद्ध सत्त्वों का उपकार करते हैं। किन्तु इन विशेषों के मूल में केवल भ्रान्ति की लीला है, जिससे सविकल्प परिकल्पित-चित्त को मौलिक शान्ति को क्षुब्ध करता है। बुद्ध न एक है, न अनेक । केवल बोधिमात्र है, जिसकी वृत्ति एक समान और सतत है। (सिलवाँ लेवी की भूमिका, पृ० २४)।

लक्षण—बोधि पर जो अध्याय है, वह वस्तुतः विज्ञानवाद का एक प्रधान ग्रन्थ है। ९।१-२ में बुद्धत्व का लक्षण यही दिया है कि यह सर्वावरण से निर्मल सर्वाकारज्ञता है। ९।४-५ में कहा है कि बुद्धत्व का लक्षण अद्वय है। बुद्धत्व का अर्थों के साथ अतिसूक्ष्म संबन्ध है। सब धर्म (अर्थात् सब अर्थ) बुद्धत्व, किन्तु यह स्वयं धर्म नहीं है।

यह शुक्लधर्ममय है, किन्तु यह शुक्लधर्मों से निरूपित नहीं होता। ९।५ में कहा है कि सब धर्म बुद्धत्व हैं, क्योंकि यह तथता से अभिन्न है, और तथता की विशुद्धि से प्रभावित हैं[1]। किन्तु बुद्धत्व कोई धर्म नहीं है, क्योंकि धर्मों का

---

१. "सर्वधर्माश्च बुद्धत्वं धर्मो नैव च कश्चन ।
शुक्लधर्ममयं तच्च न च तैस्तन्निरूप्यते" ।। (पृ० ३५)

स्वभाव परिकल्पित होता है, और बुद्धत्व परमार्थ है। पुनः बुद्धत्व सब धर्मों का समुदाय है, अथवा सब धर्मों से व्यपेत है[१]।

बुद्धानुभाव—यह बुद्धत्व सर्वक्लेश से सदा परित्राण करता है; जन्म, मरण तथा दुश्चरित से भी परित्राण करता है। बुद्धानुभाव से सब उपद्रव शान्त होते हैं। अन्धे आँख पाते हैं, बधिर श्रोत्र; विक्षिप्त-चित्त स्वस्थ होते हैं; ईतियाँ शान्त होती हैं। बुद्ध की प्रभा अपाय से परित्राण करती है। बुद्धत्व तीर्थिक-दृष्टि और सत्काय-दृष्टि से परित्राण करता है। यह अनुपम शरण है। जब तक लोक का अवस्थान है, जब तक बुद्धत्व सब सत्त्वों का सबसे बड़ा शरण है[२]।

आश्रय परिवृत्ति—क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के बीज जो अनादिकाल से सतत अनुगत हैं, बुद्धत्व में अस्त होते हैं। बुद्धत्व ही आश्रय-परिवृत्ति है। बुद्धत्व से ही विपक्ष बीज का वियोग और प्रतिपक्ष-संपत्ति का योग होता है, और बुद्धत्व को प्राप्ति निर्विकल्प ज्ञान-मार्ग से होती है। इस प्रकार सुविशुद्ध लोकोत्तर ज्ञान का लाभ कर तथागत नीचे लोक को देखते हैं; जैसे कोई महान पर्वत के शिखर पर से देखता हो। उनमें श्रावक-प्रत्येकबुद्ध के लिए भी जो शमाभिराम है, और अपना ही निर्वाण चाहते हैं, करुणा उत्पन्न होती है। फिर दूसरों की क्या कथा, जिनकी रुचि भव में है[३]!

सर्वगतत्व—तथागतों की परिवृत्ति परार्थ-वृत्ति है। यह अद्वय है, और सर्वगत वृत्ति है। यह संस्कृत और असंस्कृत है, क्योंकि यह न संसार और न निर्वाण में प्रतिष्ठित है[४]।

असंग नागार्जुन के दिए एक दृष्टान्त को देखकर बुद्धत्व के सर्वगतत्व को दिखाते हैं; जैसे आकाश सदा सर्वगत है, उसी प्रकार बुद्धत्व का स्वभाव सर्व-

---

१. "बुद्धत्वं सर्वधर्मः समुदितमथ वा सर्वधर्मव्यपेतम्,
प्रोद्भूतैर्धर्मरत्नप्रततसमुहतो धर्मरत्नाकराभम्।
भूतानां शुक्लसस्यप्रसवसुमहतो हेतुतो मेघभूतम्,
दानाद् धर्माम्बुवर्षप्रततसुविहतस्याक्षयस्य प्रजासु" ॥ (पृ० ३५-३६)

२. "आकालात् सर्वसत्त्वानां बुद्धत्वं शरणं महत्।
सर्वव्यसनसम्पत्तिव्यावृत्त्यभ्युदये मतम् ॥" (पृ० ३६)

३. "स्थितश्च तस्मिन् स तथागतो जगन्महाचलेन्द्रस्य इवाभ्युदीक्षते।
शमाभिरामं करुणायते जनं भवाभिरामेऽन्यजने तु का कथा" ॥ (पृ० ३७)

४. "प्रवृत्तिरुद्वृत्तिरवृत्तिराश्रयो निवृत्तिरावृत्तिरथो द्वयाद्वया।
समा विशिष्टा अपि सर्वगात्मिका तथागतानां परिवृत्तिरिष्यते" ॥ (पृ० ३७)

गतत्व है। जैसे विविध रूपों में आकाश सर्वग है, उसी प्रकार सत्त्वों में बुद्धत्व का सर्वगतत्व है। बुद्धत्व सब सत्त्वों में असन्दिग्ध रूप से व्यवस्थापित है, क्योंकि यह सब सत्त्वों को परिनिष्पत्तितः अपने से अंगीकृत करता है[1]।

फिर ऐसा क्यों है कि बुद्धत्व का यह सर्वगतत्व नाम-रूप के जगत् में नहीं प्रकट होता? असंग उत्तर देते हैं :—यथा भिन्न (भग्न) जलपात्र में चन्द्र-बिम्ब नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार दुष्ट सत्त्वों में जो अपात्र हैं, बुद्धबिम्ब का दर्शन नहीं होता[2]; यथा अग्नि अन्यत्र जलती है, अन्यत्र शान्त होती है, उसी प्रकार जहाँ बुद्ध विनय होते हैं, वहाँ बुद्ध का दर्शन होता है, और जब विनीत हो जाते हैं तब उनका अदर्शन होता है। शांकर वेदान्त में हम इन्हीं दृष्टान्तों को पाते हैं। वहाँ पूर्ण ब्रह्म को सर्व-विशुद्ध और सर्व-परिपूर्ण माना है और उसके आगन्तुक आवरण और उपाधियाँ इस स्वाभाविक परिपूर्णता को, कम से कम देखने में, अविच्छिन्न रूप से आच्छादित करती हैं।

अर्थचर्या का अभिप्राय—पुनः हम किस प्रकार इसका समन्वय करते हैं कि बोधिसत्त्व सत्त्वों की अर्थचर्या करते हैं, और उनका बुद्धकार्य अनाभोग से ही सिद्ध होता है, और साथ ही साथ अनास्रव धातु निश्चल और निष्क्रिय है? असंग इसके उत्तर में कहते हैं—आभोग के बिना बुद्ध में देशना का समुद्भव उसी प्रकार होता है, जैसे अघटित तूर्य (=वाद्यविशेष) में शब्द की उत्पत्ति होती है। पुनः जैसे बिना यत्न के मणि अपने प्रभाव का निदर्शन करती है, उसी प्रकार आभोग के बिना बुद्धों में भी कृत्य का निदर्शन होता है[3]। जैसे आकाश में लोक-क्रिया अविच्छिन्न देखी जाती है, उसी प्रकार अनास्रव-धातु में बुद्ध की क्रिया अविच्छिन्न होती है, और जैसे आकाश में लोक-क्रियाओं का अविच्छेद होने

---

१. "यथाम्बरं सर्वगतं सदा मतं तथैव तत् सर्वगतं सदा मतम्।
यथाम्बरं रूपगणेषु सर्वगं तथैव तत् सत्त्वगणेषु सर्वगम्" ॥ (पृ० ३७)

२. "यथोदभाजने भिन्ने चन्द्रबिम्बं न दृश्यते।
तथा दुष्टेषु सत्त्वेषु बुद्धबिम्बं न दृश्यते" ॥ (पृ० ३८)

३. "अघटितेभ्यस्तूर्येभ्यो यथा स्याच्छब्दसम्भवः।
तथा जिने विनाऽऽभोगं देशनायाः समुद्भवः ॥
यथा मणेर्विना यत्नं स्वप्रभासनिदर्शनम्।
बुद्धेष्वपि विनाऽऽभोगं तथा कृत्यनिदर्शनम् ॥" (पृ० ३८)

पर भी अन्यान्य क्रिया का उदय-व्यय होता है, उसी प्रकार अनास्रव-धातु में बुद्धकार्य का उदय-व्यय होता है[१]।

बुद्धत्व का परमात्म-भाव—बुद्धत्व और लोक का क्या संबन्ध है? असंग कहते हैं—यद्यपि तथता पौर्वापर्य से विशिष्ट है, और इसलिए शुद्ध नहीं है; तथापि जब वह सर्व आवरण से निर्मल हो जाती हैं, तब वह मलापगम के कारण शुद्ध हो जाती है, और बुद्धत्व से अभिन्न हो जाती है[२]।

बुद्ध, जिन्होंने नैरात्म्य द्वारा मार्ग का लाभ किया है, विशुद्धिशून्यता में आत्मा की शुद्धता का लाभ करते हैं, और आत्म-महात्मता को प्राप्त होते हैं[३]।

यह अनास्रव धातु में बुद्धों के परम आत्मा का निर्देश है। यह 'परमात्मा' शब्द आश्चर्यजनक है। असंग यह भी कहते हैं कि इसका कारण यह है कि बुद्धों का परमात्मा अग्र नैरात्म्यात्मक है। अग्र नैरात्म्य विशुद्ध तथता है। यही बुद्धों की आत्मा है, अर्थात् स्वभाव है। इसके विशुद्ध होने पर अग्र नैरात्म्य की प्राप्ति होती है और यह शुद्ध आत्मा है। अतः शुद्धात्मा के लाभी होने से बुद्ध आत्म-माहात्म्य को प्राप्त होते हैं, और इसी अभिसन्धि में बुद्धों की परम आत्मा अनास्रव-धातु में व्यवस्थापित होती है।

शंकर के आत्मवाद से तुलना—यहाँ हम यह कह सकते हैं कि यह विचार कतिपय उपनिषदों के वाक्यों का स्मरण दिलाते हैं। जो आत्मा नैरात्म्य-स्वभाव है, अथवा यों कहिये कि जो आत्मा अपने मूल में, नैरात्म्य में, विलीन है, वह बृहदारण्यक के निर्गुण आत्मा के समीप है। इस प्रकार नागार्जुन की दृष्टि से प्रस्थान कर एक अनजान मोड़ हमको शंकर के अद्वैतवाद की चौखट पर ले आई है। इसमें सन्देह नहीं कि शंकर का अद्वैतवाद आत्मवाद कहलायेगा, जब कि असंग का अद्वैतवाद विज्ञानवाद है; किन्तु यह विज्ञानवाद ऐसा है कि स्पर्श से ही विलुप्त होने लगता है। आत्मसंज्ञा का (जिसका स्वभाव नैरात्म्य का है) व्यवहार कर असंग के वाद की भाषा वेदान्त की भाषा के अत्यन्त

---

१. "यथाऽऽकाशे अविच्छिन्ना दृश्यन्ते लोकतः क्रियाः।
तथैवानास्रवे धातौ अविच्छिन्ना जिनक्रियाः॥
यथाऽऽकाशे क्रियाणां हि हानिरभ्युदयः सदा।
तथैवाऽनास्रवे धातौ बुद्धकार्योदयव्ययः" ॥ (पृ० ३८)

२. "पौर्वापर्याद् विशिष्टापि सर्वावरणनिर्मला।
न शुद्धा नापि चाशुद्धा तथता बुद्धता मता" ॥

३. "शून्यतायां विशुद्धायां नैरात्म्यान्मार्गलाभतः।
बुद्धाः शुद्धात्मलाभित्वात् गता आत्ममहात्मताम्" ॥ (पृ० ३९)

समीप आ जाती है, और इसी प्रकार यदि हम उपनिषद् और शंकर के निर्गुण, निर्विशेष आत्मा को लें, जो शून्यता से इतना मिलता जुलता है, तो हमको ज्ञात होगा कि शंकर के आत्मा और असंग के आत्म-नैरात्म्य के बीच कितना कम अन्तर है (रेने ग्रुसे)।

किन्तु इसके आगे के श्लोक[1] में असंग कहते हैं—इसी कारण कहा गया है कि बुद्धत्व न भाव है, अभाव है। बुद्ध के भावाभाव के प्रश्न में (मरणानन्तर तथागत होते हैं या नहीं इत्यादि) हमारा अव्याकृत नय है। हम नहीं कह सकते कि बुद्धत्व भाव है, क्योंकि पुद्गल और धर्म का अभाव इसका लक्षण है, और यह तदात्मक है। पुनः हम यह भी नहीं कह सकते कि यह अभाव है, क्योंकि तथता इसका लक्षण है, और इसलिये यह भाव है।

असंग अपने बुद्धत्व को भाव और अभाव के बीच रखने के लिए कुछ और भी हेतु देते हैं। लोहे की दाह-शान्ति और दर्शन की तिमिर-शान्ति भाव नहीं हैं, क्योंकि दाह और तिमिर का अभाव इसका लक्षण है। यह अभाव भी नहीं है, क्योंकि इसका लक्षण शान्ति भाव है। इसी प्रकार बुद्धों के चित्त-ज्ञान में राग और अविद्या की शांति को भाव नहीं कहा गया है, क्योंकि राग और अविद्या के अभाव से इसका उत्पाद होता है, तथा इसे अभाव भी नहीं कहा गया, क्योंकि उस उस विमुक्ति लक्षण के कारण यह भाव है[2]।

असंग का अद्वैतवाद—यह एक प्रकार के अद्वैतवाद के समीप है। बुद्धों के अनास्रव-धातु में न एकता है, न बहुता। एकता नहीं है, क्योंकि बुद्धों के पूर्व देह थे; और बहुता नहीं है, क्योंकि आकाश के तुल्य बुद्ध का देह नहीं है[3]। पुनः—(क) जैसे[4] सूर्य के मण्डल में अप्रमेय रश्मियाँ व्यामिश्र हैं, जो सदा एक ही कार्य में संलग्न रहती हैं; और लोक में प्रकाश करती हैं, उसी प्रकार अनास्रव-

---

१. "न भावो नापि चाभावो बुद्धत्वं तेन कथ्यते।
तस्माद् बुद्धतथाप्रश्ने अव्याकृतनयो मतः॥" (पृ० ३९)

२. "दाहशान्तिर्यथा लोहे दर्शने तिमिरस्य च।
चित्तज्ञाने तथा बौद्धे भावाभावो न शस्यते"॥ (पृ० ३९)

३. "बुद्धानाममले धातौ नैकता बहुता न च।
आकाशवददेहत्वात् पूर्वदेहानुसारतः"॥ (पृ० ३९)

४. (क) "अमेया रश्मयो यद्वद्व्यामिश्रा भानुमण्डले।
सदैककार्या वर्तन्ते लोकमालोकयन्ति च॥ (पृ० ३९)
तथैवानास्रवे धातौ बुद्धानामप्रमेयता।
मिश्रैककार्या कृत्येषु ज्ञानालोककरा मता॥" (पृ० ३९)

धातु में अप्रमेय बुद्ध होते हैं जो एक ही मिश्र कार्य में संलग्न होते हैं, और ज्ञान का आलोक करते हैं। (ख) जैसे[१] एक सूर्य-रश्मि के निःसरण से सब रश्मियों की विनिःसृति होती है, उसी प्रकार बुद्धों की ज्ञान-प्रवृत्ति एक काल में होती है। (ग) जैसे[२] सूर्य-रश्मियों की वृत्ति में ममत्व का अभाव है, उसी प्रकार बुद्ध के ज्ञान की वृत्ति में ममत्व नहीं है। (घ) जैसे[३] सूर्य की रश्मियों से जगत् सकृत् अवभासित होता है, उसी प्रकार बुद्ध-ज्ञान से सर्व सकृत् प्रभासित होता है। (ङ) जिस प्रकार[४] सूर्य की किरणें मेघादि से आवृत होती हैं, उसी प्रकार सत्त्वों की दुष्टता बुद्ध-ज्ञान का आवरण है। (च) यथा[५] पांशुवश वस्त्र कहीं रंगों से विचित्रित और कहीं अविचित्रित होता है, तथैव आवेशवश अर्थात् पूर्व प्रणिधानचर्या के बलाधान से बुद्धों की विमुक्ति में ज्ञान की विचित्रता होती है; किन्तु श्रावक-प्रत्येकबुद्ध की विमुक्ति में अविचित्रता होती है।

ये उपमाएँ हमको अद्वैतवाद के दरवाजे पर ले जाती है। द्रव्य और स्वभाव के स्थान में असंग तथता और बुद्धत्व का प्रयोग करते हैं। सब की तथता निर्विशिष्ट है, किन्तु यही तथता जब विशुद्धिस्वभाव की हो जाती है, तब तथागतत्व हो जाती है। इसलिए सब सत्त्व तथागत-गर्भ हैं[६]।

पुनः लौकिक से बुद्धत्व में परिणत होने में सब धर्मों की जो परावृत्ति

---

१. (ख) "यथैकरश्मिनिःसारात् सर्वरश्मिविनिःसृतिः।
भानोस्तथैव बुद्धानां ज्ञेया ज्ञानाविनिःसृतिः"॥ (पृ० ४०)

२. (ग) "यथैवादित्यरश्मीनां वृत्तौ नास्ति ममायितम्।
तथैव बुद्धज्ञानानां वृत्तौ नास्ति ममायितम्॥ (पृ० ४०)

३. (घ) "यथा सूर्यैकमुक्ताभै रश्मिभिर्भास्यते जगत्।
सकृज्ज्ञेयं तथा सर्वं बुद्धज्ञानैः प्रभास्यते॥" (पृ० ४०)

४. (ङ) "यथैवादित्यरश्मीनां मेघाद्यावरणं मतम्।
तथैव बुद्धज्ञानानामावृतिः सत्त्वदुष्टता"॥ (पृ० ४०)

५. (च) "यथा पांशुवशाद् वस्त्रं रङ्गचित्राऽविचित्रता।
तथाऽऽवेधवशान्मुक्तौ ज्ञानचित्राऽविचित्रता॥
श्रावकप्रत्येकबुद्धानां विमुक्तावविचित्रता।
गाम्भीर्यममले धातौ लक्षणस्थानकर्मसु।
बुद्धानामेतदुदितं रङ्गैर्वाऽऽकाशचित्रणा"॥ (पृ० ४०)

६. "सर्वेषामविशिष्टापि तथता शुद्धिमागता।
तथागतत्वं तस्माच्च तद्गर्भाः सर्वदेहिनः"॥ (पृ० ४१)

होती है, उसका वर्णन असंग करते हैं। बुद्धों का विभुत्व अप्रमेय और अचिन्त्य होता है। विभुत्व के साथ साथ निर्विकल्पक सुविशुद्ध ज्ञान होता है। उनके अर्थ विज्ञान और विकल्प की परावृत्ति होती है। इससे वह यथाकाम भोग-संदर्शन करते हैं, और उसके सब ज्ञान और कर्मों को कभी व्याघात नहीं पहुँचता। प्रतिष्ठा की परावृत्ति से बुद्धों के अनास्रव धातु में (अचलपद या अमलपद) अप्रतिष्ठित-निर्वाण होता है[१]। तथागत न संस्कृत धातु में प्रतिष्ठित हैं, और न असंस्कृत धातु में; और न वहाँ से व्युत्थित हैं।

निर्वाण

हीनयान दो प्रकार के निर्वाण से अभिज्ञ है—सोपधिशेष और निरुपधिशेष। पहली जीवन्मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में अर्हत् को शारीरिक दुःख भी होता है। दूसरा निर्वाण वह है जिसमें अर्हत् का, मृत्यु के पश्चात्, अवस्थान होता है।

अप्रतिष्ठित निर्वाण—महायान में एक अवस्था अधिक है। यह अप्रतिष्ठित निर्वाण की अवस्था है, क्योंकि बुद्ध यद्यपि परिनिर्वृत हो चुके हैं और विशुद्ध तथा परम शान्ति को प्राप्त हैं, तथापि वह शून्यता में विलीन होने के स्थान में संसार के तट पर संसरण करने वाले जीवों की रक्षा के निमित्त स्थित रहना चाहते हैं; किन्तु इससे उनको इसका भय नहीं रहता कि उनका विशुद्ध ज्ञान समल हो जायगा (सिलवाँ लेवी की भूमिका, पृ० २८ टिप्पणी ४)।

बोधिसत्त्व का परिपाक—विज्ञानवाद की दृष्टि में सकल लोकधातु शुभ में वृद्धि को प्राप्त होता है, अर्थात् कुशलमूल का उपचय करता है, और विशुद्ध विमुक्ति में परमता को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह परिपाक नित्य होता है, क्योंकि लोक अनन्त हैं[२]। असंग कहते हैं कि बोधिसत्त्वों के परिपाक का यह लक्षण आश्चर्यमय है, क्योंकि यह धीर सदा सब समय नित्य और ध्रुव महाबोधि का

---

१. प्रतिष्ठायाः परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
अप्रतिष्ठितनिर्वाणं बुद्धानामचले पदे॥ (पृ० ४२)

२. शुभे वृद्धो लोको व्रजति सुविशुद्धौ परमताम्,
शुभे चानारब्ध्वा व्रजति शुभवृद्धौ परमताम्।
व्रजत्येवं लोको दिशि दिशि जिनानां सुकथितै-
रपक्वः पक्वो वा न च पुनरशेषं ध्रुवमिह"॥ (पृ० ४३)

लाभ करते हैं, जो अशरणों का शरण है। इसमें आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि वे तदनुरूप मार्ग की चर्या करते हैं[1]।

जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया गया है बुद्ध का कार्य विना आभोग के निरन्तर होता है, और वे हितसुखात्मक निश्चलता का कभी त्याग नहीं करते। वे अनेक उपायों का प्रयोग करते हैं। कभी अनेक प्रकार से धर्मचक्र का दर्शन कराते हैं, कभी जातकभेद से विचित्र जन्मचर्या, कभी कृत्स्न बोधि, और कभी निर्वाण का दर्शन कराते हैं। किन्तु वे अपने स्थान से ही सत्त्वों का विनयन करते हैं। वह अनास्रवधातु से विचलित नहीं होते, किन्तु यह सब वही करते हैं। बुद्ध नहीं कहते कि इसका मेरे लिए परिपाक हो गया है, इसका मुझको परिपाक करना है, या इसका परिपाक अब होने वाला है। विना किसी संस्कार के जनता का परिपाक शुभ धर्मों से सब दिशाओं में नित्य होता है। जिस प्रकार सूर्य विना किसी यत्न के अपनी प्रतत शुभ्र किरणों से सर्वत्र सस्य का पाक करता है, उसी प्रकार धर्म का सूर्य अपनी शान्त धर्म-किरणों को समन्तात् विस्तीर्ण कर सत्त्वों का पाक करता है[2]।

रेनेग्रूसे की आलोचना—असंग की यह चेष्टा निरन्तर रहती है कि वह नागार्जुन के मतवाद के विरुद्ध न जाँय, किन्तु कभी कभी वह हमको उनसे बहुत दूर जाते प्रतीत होते हैं। इस वाक्य[3] को लीजिए—यथा महासागर की कभी

---

१. "तथा कृच्छ्रावाप्यां परमगुणयोगाद्भुतवतीम्,
महाबोधिं नित्यां ध्रुवमशरणानां च शरणम्।
लभन्ते यद्धीरा दिशि दिशि सदा सर्वसमयम्,
तदाश्चर्यं लोके सुविधिचरणान्नाद्भुतमपि"॥ (पृ० ४३)

२. "न बुद्धानामेवं भवति मम पक्वोऽयमिति चा-
प्रपाच्योऽयं देही अपि च अधुना पाच्यत इति।
विना संस्कारं तु प्रपचमुपयात्येव जनता,
शुभैर्धर्मैर्नित्यं दिशि दिशि समन्तात् त्रयमुखम्"॥ (पृ० ४३)

"यथाऽयत्नं भानुः प्रततविशदैरंशुविसरैः,
प्रपाकं सस्यानां दिशि दिशि समन्तात् प्रकुरुते।
तथा धर्मार्कोऽपि प्रशमविधिधर्मांशुविसरैः,
प्रपाकं सत्त्वानां दिशि दिशि समन्तात् प्रकुरुते"॥ (पृ० ४४)

३. "यथा तोयैस्तृप्तिं व्रजति न महासागर इव,
न वृद्धिं वा याति प्रततविशदाम्बुप्रविशनैः।
तथा बौद्धो धातुः सततसमितैः शुद्धिविशनै-
र्न तृप्तिं वृद्धिं वा व्रजति परमाश्चर्यमिह तत्"॥ (पृ० ४४)

जल से तृप्ति नहीं होती और प्रतत जल के प्रवेश से उसकी वृद्धि ही होती है, तथैव विमुक्ति में परिपक्वों के प्रवेश से न धर्मधातु की तृप्ति होती है, और न उसकी वृद्धि होती है; क्योंकि उससे कोई अधिक नहीं है। क्या असंग, जान में हो या अनजान में, बुद्धत्व का निदर्शन इस प्रकार नहीं कर रहे हैं कि मानों वह एक प्रकार का आध्यात्मिक आकाश है, जहाँ सर्व धर्म को तथता विलीन होकर सुविशुद्ध और अद्वय हो जाती है!

सर्व परतन्त्र और सर्व विशेष की 'विशुद्धि' का भाव, उपशम द्वारा एकता और विशुद्धि प्राप्त करने का भाव असंग में निरन्तर विद्यमान है। वह दुहराते हैं कि बुद्धत्व का लक्षण सर्व धर्म की तथता की क्लेशावरण और ज्ञेयावरण से विशुद्धि है[1]। इसका अर्थ यह है कि 'बुद्धत्व में तथता सर्व धर्मों से विशुद्ध हो जाती है'।

त्रिकायवाद

असंग बुद्धत्व की भिन्न वृत्तियों का आरम्भ कर त्रिकायवाद का निरूपण करते हैं। त्रिकाय की कल्पना से वह विज्ञानवाद की कठिनाइयों को दूर करते हैं। बुद्धकाय के तीन विभाग हैं:—स्वाभाविक, सांभोगिक, नैर्माणिक। स्वाभाविक काय धर्मकाय है। आश्रयपरावृत्ति इसका लक्षण है। सांभोगिक काय वह काय है, जिससे पर्षन्मण्डल में बुद्ध धर्म-संभोग करते हैं। नैर्माणिक काय वह काय है, जिसका निर्माण कर वह सत्त्वार्थ करते हैं।

धर्मकाय—धर्मकाय सब बुद्धों में समान और निर्विशिष्ट है। यह सूक्ष्म है क्योंकि यह दुर्ज्ञेय है। यह सांभोगिक काय से संबद्ध है, और संभोग के विभुत्व में हेतु है[2]। सांभोगिक काय धातुत्रय के ऊपर अवस्थित है। यह बुद्धों का अचिन्त्य आविर्भाव है। कम से कम हमारे लिए यह अगोचर है। बोधिसत्त्व ही अपनी प्रज्ञा से इनका चिन्तन कर सकते हैं। यह काय नित्य है, किन्तु यह एक आविर्भाव है। पर्षन्मण्डल, बुद्ध-क्षेत्र, नाम, शरीर, और धर्म-संभोग-क्रिया की दृष्टि से भिन्न भिन्न लोकधातु का यह काय भिन्न है। नैर्माणिक काय अप्रमेय है। इसका लक्षण परार्थ-संपत्ति है जब कि सांभोगिक काय का लक्षण स्वार्थ-संपत्ति है। इसी काय का दर्शन विनेयजन करते हैं। विनेयजनों के विमोचन का यह महान् उपाय है।

---

१. "सर्वधर्मद्वयावारतथताशुद्धिलक्षणः।
वस्तुज्ञानतदालम्बवशिताक्षयलक्षणः" ॥ (पृ० ४४)

२. "समः सूक्ष्मश्च तच्छ्लिष्टः कायः स्वाभाविको मतः।
सम्भोगविभुताहेतुर्यथेष्टं भोगदर्शने" ॥ (पृ० ४५)

क्या इनमें से एक ही अभिसंबुद्ध होगा, और अन्य न होंगे ? ऐसा कैसे हो सकता है ! इस प्रकार दूसरों के पुण्यज्ञानसंभार व्यर्थ होंगे, क्योंकि उनकी अभिसंबोधि न होगी। किन्तु यह व्यर्थता अयुक्त है। इस हेतु से भी बुद्ध एक नहीं हैं। पुनः कोई आदिबुद्ध नहीं है, क्योंकि संभार के बिना बुद्ध होना असंभव है, और बिना दूसरे बुद्ध के संभार का योग नहीं है, अतः एक बुद्ध नहीं है। बुद्ध की अनेकता भी इष्ट नहीं है, क्योंकि अनास्रवधातु में बुद्धों के धर्मकाय का अभेद है[१]।

जो अविद्यमानता है वही परम विद्यमानता है; अर्थात् जो परिकल्पित स्वभाववश अविद्यमानता है, वही परिनिष्पन्न स्वभाववश परम विद्यमानता है। भावना का जो अनुपलम्भ है, वही परम भावना है। जो बोधिसत्व इन सबको कल्पनामात्र देखते हैं, उनको बोधि की प्राप्ति होती है।

उपनिषदों के आत्मवाद से तुलना—हम उपनिषदों के अद्वयवाद के इतने समीप हैं कि असंग भी उपनिषदों का प्रसिद्ध दृष्टान्त देते हैं :—जब तक नदियों के आश्रय अलग-अलग हैं, उनका जल भिन्न-भिन्न है, उनका कृत्य अलग-अलग होता है; जब तक उनका जल स्वल्प होता है, थोड़े ही जलाश्रित प्राणी उनका उपभोग करते हैं। किन्तु जब ये सब नदियाँ समुद्र में प्रवेश करती हैं, और उनका एक आश्रय हो जाता है, उनका एक महाजल हो जाता है, उनके कृत्य मिश्र होकर एक हो जाते हैं, तब वे बृहत्समूह की उपभोग्य हो जाती हैं, और यह क्रम नित्य चलता रहता है[२]। इसी प्रकार बोधिसत्वों का आश्रय जब तक पृथक-पृथक् होता है, उनके मत भिन्न-भिन्न होते हैं, उनके कृत्य पृथक्-पृथक् होते हैं, और उनका अवबोध स्वल्प होता है, तब तक वे सत्त्व का ही उपकार करते हैं। बुद्धत्व में उनका प्रवेश नहीं हुआ; किन्तु जब वह बुद्धत्व में प्रविष्ट हो जाते हैं तब सबका आश्रय एक हो जाता है, उनका एक महान् अवबोध हो जाता है,

---

१. "गोत्रभेदादवैयर्थ्यात् साकल्यादप्यनादितः।
अभेदान्नैकबुद्धत्वं बहुत्वं चामलाश्रये"॥　　(पृ० ४८)

२. "भिन्नाश्रया भिन्नजलाश्च नद्यः अल्पोदकाः कृत्यपृथक्त्वकार्याः।
जलाश्रितप्राणितनूपभोग्या भवन्ति पातालमसम्प्रविष्टाः॥
समुद्रविष्टाश्च भवन्ति सर्वा एकाश्रया एकमहाजलाश्च।
मिश्रैककार्याश्च महोपभोग्या जलाश्रितप्राणिगणस्य नित्यम्"॥ (पृ० ४९)

और उनका कार्य मिश्र होकर एक हो जाता है, तब वे सब सत्त्वों के उपभोग्य हो जाते हैं[1] ॥

११. धर्मपर्येष्ट्यधिकार

धर्म-पर्येषण—ग्यारहवें अधिकार में धर्म (आलम्बन) का पर्येषण किया गया है। 'धर्म' शब्द के दो अर्थ हैं। बुद्ध की शिक्षा, उपदेश, सिद्धान्त धर्म है। दूसरे अर्थ में धर्म अध्यात्म-आलम्बन और बाह्य आलम्बन दोनों है। कायादिक आध्यात्मिक और बाह्य दोनों हैं। ग्राहकभूत कायादिक आध्यात्मिक है, ग्राह्यभूत बाह्य है, द्वय इन्हीं दो की तथता है। द्वयार्थ से दो आलम्बनों का लाभ होता है। यदि वह देखता है कि ग्राह्यार्थ से ग्राहकार्थ अभिन्न है और ग्राहकार्थ से ग्राह्यार्थ अभिन्न है तो समस्त आध्यात्मिक और बाह्य आलम्बन की तथता का लाभ होता है, क्योंकि उन दो के द्वयभाव का अनुपलम्भ है[2]। असंग कहते हैं कि यदि मनोजल्पवश अर्थख्यान का प्रधारण (प्रविचय) होता है और यदि चित्त नाम पर स्थित होता है तो धर्मालम्बन का लाभ होता है । मनोजल्प के अतिरिक्त कुछ नहीं है और द्वय का अनुपलम्भ है[3]।

इस विषय पर सिलवाँ लेवी अपनी भूमिका में कहते हैं कि जब चित्त समाहित होता है तब निश्चित यथोक्त अर्थ का मनोजल्प से प्रधारण होता है। चिन्तामय ज्ञान अर्थ (और उसके आलंबन) का मनोजल्प से अभेद सिद्ध करता है। अन्त में भावनामय ज्ञान से चित्त अर्थविरहित नाम पर ही स्थित होता है। अष्टादशविध मनस्कार इस कार्य में योग देते हैं। तब धर्मतत्त्व का लाभ होता है।

धर्म के तीन स्वभाव—धर्मत्त्व में तीन स्वभाव संगृहीत हैं। ये इस प्रकार हैं :— १. परिकल्पित, २. परतन्त्र, ३. परिनिष्पन्न।

---

१. "भिन्नाश्रया भिन्नमताश्च धीराः स्वल्पावबोधाः पृथगात्मकृत्याः।
परीत्तसत्त्वार्थसदोपभोग्या भवन्ति बुद्धत्वमसम्प्रविष्टाः ॥
बुद्धत्वविष्टाश्च भवन्ति सर्वे एकाश्रया एकमहावबोधाः।
मिश्रैककार्याश्च महोपभोग्याः सदा महासत्त्वगणस्य ते हि" ॥ (पृ० ४९)

२. "आलम्बनं मतो धर्मः अध्यात्मं बाह्यकं द्वयम्।
लाभो द्वयोर्द्वयार्थेन द्वयोश्चानुपलम्भतः" ॥ (पृ० ५४)

३. "मनोजल्पैर्यथोक्तार्थप्रसन्नस्य प्रधारणात्।
अर्थख्यानस्य जल्पाच्च नाम्नि स्थानाच्च चेतसः ॥
धर्मालम्बनलाभः स्यात् त्रिभिर्ज्ञानैः श्रुतादिभिः।
त्रिविधालम्बनलाभश्च पूर्वोक्तस्तत्समाश्रितः" ॥ (पृ० ५५)

परिकल्पित ग्राह्यग्राहक लक्षणात्मक है। अतः द्वयात्मक है। परतन्त्र द्वय का संनिश्रय है। परिनिष्पन्न अनभिलाप्य और अप्रपञ्चात्मक है। किन्तु धर्म स्वयं भ्रान्तिमात्र है, माया है। चित्त में ही द्वयभ्रान्ति है। चित्त स्वयं धर्मों का निर्माण करता है, और ग्राह्यग्राहकभाव में द्विधा विभक्त हो जाता है; तथापि वह धर्मों को सत् मानता है। द्वय को अद्वय करने के लिए इनके बुद्धि-संबन्ध का जानना आवश्यक है। चित्त अपना विवेचन कर या तो अपना लक्षण परिकल्पित बताता है जो जल्प और तदर्थ (या आलंबन) है; अथवा परतन्त्र बताता है, जो नाम, रूप, चित्त, विज्ञानादि है; अथवा परिनिष्पन्न बताता है, तथता है। वस्तुतः इन अप्रत्यक्ष लक्षणों से यह अवगत होता है कि कोई धर्मों की परिचित विज्ञप्ति है, जिससे ही चित्त और उसके लक्षणों के बीच का संबन्ध युक्त हो सकता है। जो मनस्कार इस संबन्ध को स्थापित और निरूपित करता है, वह लौकिक नहीं है, यह मनस्कार योगियों का है। यह पाँच पाद में द्वय से अद्वय को जाता है :—यह धर्महेतुत्व का निग्रह करता है; यह योनिशोमनस्कार का लाभ कराता है; यह समाधि की अवस्था में चित्त का स्वधातु में अवस्थान कराता है; यह भाव-अभाव का एक अविशिष्ट दर्शन कराता है; यह आश्रय की परावृत्ति करता है। यह परावृत्ति प्रत्यगात्मा से परमात्मा को आकृष्ट करती है। उस समय सबका परिनिर्वाण में मिलन होता है (सिलवाँ लेवी की भूमिका, पृ० २५-२६)।

मनस्कार और उसके विविध आकारों की पर्येष्टि से इस क्रम का आरंभ होता है। चर्या के बहुत सूक्ष्म नियम हैं। इस साधना में इन्द्रियार्थ का अनुपलंभ, उपलंभ का अनुपलंभ, धर्मधातुवशित्व, पुद्गल नैरात्म्य और विविध आशयों का प्रतिवेध होता है; जो चित्त की अवस्थाओं को निश्चित करता है।

तत्त्व का लक्षण—इस साधना से धर्मतत्त्व का लाभ होता है। यह धर्मों का स्वभाव है। यहाँ स्वभाव किसी आत्मा को प्रज्ञप्त नहीं करता, किन्तु यह धर्मों के स्वकीय गुण को सूचित करता है।

असंग तत्त्व का यह लक्षण बताते हैं :—तत्त्व वह है जो सतत द्वय से रहित है, जो अनभिलाप्य है, जो निष्प्रपञ्चात्मक है, और जो विशुद्ध है[1]। पुनः असंग कहते हैं कि ग्राह्यग्राहकलक्षणवश यह तत्त्व जो सतत द्वय से रहित है, परिकल्पित और असत् होगा। किन्तु भ्रान्ति का संनिश्रय परतन्त्र है, क्योंकि

---

१. "तत्त्वं यत् सततं द्वयेन रहितं भ्रान्तेश्च सन्निश्रयः,
शक्यं नैव च सर्वथाभिलपितुं यच्चाप्रपञ्चात्मकम्।
ज्ञेयं हेयमथो विशोध्यममलं यच्च प्रकृत्या मतम्,
यस्याकाशसुवर्णवारिसदृशी क्लेशाद्विशुद्धिर्मता॥" (पृ० ५७)

उससे उसका परिकल्प होता है। अनभिलाप्य तत्त्व का परिनिष्पन्न-स्वभाव है। यह सब धर्मों की तथता है।

परिनिष्पन्न तत्त्व—यह परिनिष्पन्न स्वभाव, यह तथता, यह तत्त्व अन्तिम वस्तुतत्त्व है। इसकी प्रशंसा में असंग कहते हैं :—जगत् में इससे अन्य कुछ भी नहीं है, और सकल जगत् इस विषय में मोह को प्राप्त है। यह कैसा मोह है जिसके वश हो लोक जो असत् है उसमें अभिनिविष्ट है, और जो सत् है उसका त्याग करता है। वस्तुतः इस धर्मधातु से अन्य लोक में कुछ भी नहीं है, क्योंकि धर्मता धर्म से अभिन्न है[1]।

आत्मा और लोक की मायोपमता—इस दृष्टि में आत्मा और लोक क्या है? असंग का उत्तर है कि मायोपम है। अभूतपरिकल्प मायासदृश है। यह मन्त्रपरिगृहीत भ्रान्तिनिमित्त काष्ठलोष्ठादि के सदृश है। मायाकृत हस्ति-अश्ववत् द्वयभ्रान्ति ग्राह्यग्राहक के रूप में प्रतिभासित होती है[2]। असंग आगे कहते हैं :—यथा मायाकृत हस्ति-अश्व-सुवर्णादि आकृतियों में हस्त्यादि का अभाव है, तथैव परमार्थ के लिए है, और जिस प्रकार उस मायाकृत हस्त्यादि की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार अभूतपरिकल्प की संवृतिसत्यता है[3]।

जिस प्रकार मायाकृत के अभाव में उसके निमित्त (काष्ठादिक) की व्यक्ति होती है, और भूतार्थ की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार आश्रय की परावृत्ति और द्वयभ्रान्ति का अभाव होता है, और अभूतपरिकल्प का भूतार्थ उपलब्ध होता है[4]।

आश्रयपरावृत्ति से भ्रान्ति दूर होती है, और यति स्वतन्त्र हो विचरता है। वह कामचारी होता है[5]। एक ओर वहाँ आकृति है, दूसरी ओर भाव नहीं

---

१. "न खलु जगति तस्माद्विद्यते किञ्चिदन्यत्,
जगदपि तदशेषं तत्र सम्मूढबुद्धि।
कथमयमभिरूढो लोकमोहप्रकारो,
यदसदभिनिविष्टः सत्समन्ताद्विहाय ॥" (पृ० ५८)

२. "यथा माया तथाऽभूतपरिकल्पो निरुच्यते।
यथा मायाकृतं तद्वद् द्वयभ्रान्तिर्निरुच्यते ॥" (पृ० ५८)

३. "यथाऽतस्मिन्न तद्भावः परमार्थस्तथेष्यते।
यथा तस्योपलब्धिस्तु तथा संवृतिसत्यता ॥" (पृ० ५८)

४. "तदभावे यथा व्यक्तिस्तन्निमित्तस्य लभ्यते।
तथाश्रयपरावृत्तावसत्कल्पस्य लभ्यते ॥" (पृ० ५८)

५. "तन्निमित्ते यथा लोको ह्यभ्रान्तः कामतश्चरेत्।
परावृत्तावपर्यस्तः कामचारी तथा यतिः ॥" (पृ० ५८)

है। इसीलिए मायादि में अस्तित्व-नास्तित्व का विधान है[१]। यहाँ भाव अभाव नहीं है, और न अभाव भाव ही है। मायादि में भावाभाव के अविशेष का विधान है। आकृति भाव है, वह हस्तित्वादि का अभाव है। जो हस्तित्वादि का अभाव है, वही आकृति-भाव है[२]।

अतः द्वयाभसता है, द्वयभाव नहीं है। इसीलिए रूपादि में जो अभूत-परिकल्प-स्वभाव हैं, अस्तित्व-नास्तित्व का विधान है। रूपादि में भाव अभाव नहीं है। यह भावाभाव का अविशेष है। भाव अभाव नहीं है, क्योंकि द्वयाभासता है। अभाव भाव नहीं है, क्योंकि द्वयता को नास्तिता है। जो द्वयाभासता का भाव है, वही द्वय का अभाव है[3]।

यहाँ असंग फिर नागार्जुन के साथ हो जाते हैं। नागार्जुन के सदृश वह भाव और अभाव इन दोनों अन्तों का प्रतिषेध करते हैं। एक समारोप का अन्त है; दूसरा अपवाद का अन्त है। अथवा यों कहिये कि असंग दिखाते हैं कि भाव और अभाव का ऐकान्तिकत्व और अविशेष है[४]। किन्तु असंग साथ हो साथ अपने को अद्वयवादी और विज्ञानवादो बताते हैं। यहाँ वह नागार्जुन से पृथक् हो जाते हैं। वह कहते हैं :—द्वय नहीं है; द्वय की उपलब्धिमात्र होती है। मायाहस्ती की आकृति के ग्राह में जो भ्रान्ति होती है, उसके कारण द्वय की प्रतीति होती है। वस्तुतः न ग्राहक है, न ग्राह्य। केवल द्वय की उपलब्धि है[५]। सब धर्म, भाव और अभाव मायोपम है। वे सत् हैं, क्योंकि अभूतपरिकल्पत्वेन उनका तथाभाव है। वे असत् हैं, क्योंकि ग्राह्यग्राहकत्वेन उनका अभाव है।

---

१. "तदाकृतिश्च तत्रास्ति तद्भावश्च न विद्यते।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वं मायादिषु विधीयते॥" (पृ० ५९)

२. "न भावस्तत्र चाभावो नाभावो भाव एव च।
भावाभावाविशेषश्च मायादिषु विधीयते॥" (पृ० ५९)

३. "तथा द्वयाभताऽत्रास्ति तद्भावश्च न विद्यते।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वं रूपादिषु विधीयते॥" (पृ० ५९)

४. "न भावस्तत्र चाभावो नाभावो भाव एव च।
भावाभावाविशेषश्च रूपादिषु विधीयते॥" (पृ० ५९)

५. "भ्रान्तेर्निमित्तं भ्रान्तिश्च रूपविज्ञप्तिरिष्यते।
अरूपिणी च विज्ञप्तिरभावात् स्यान्न चेतरा॥" (पृ० ५९)

पुनः क्योंकि भाव-अभाव का अविशेष है, और वह सत् भी है, असत् भी है, इसलिए वह मायोपम हैं[१]।

स्मृत्युपस्थानादि जिन प्रातिपक्षिक धर्मों का बुद्ध ने उपदेश दिया है, वह भी अलक्षण और माया है। जब बोधि की विजय संसार पर होती है, तो यह एक मायाराज की दूसरे मायाराज से पराजय है[१]। सांक्लेशिक धर्मों की व्यावदानिक धर्मों से पराजय एक मायाराज की दूसरे मायाराज पर विजय है।

सब धर्म वस्तुतः मायोपम हैं। माया, स्वप्न, मरीचिका, बिम्ब, प्रतिभास, प्रतिश्रुति, उदकचन्द्रबिम्ब और निर्माण के तुल्य सब धर्म और संस्कार हैं। आत्मा-जीवादि असत् हैं। तथापि आध्यात्मिक धर्मों का तथाप्रख्यान होता है। बाह्य धर्म भी असत् हैं। बाह्य आयतन स्वप्नोपम हैं, क्योंकि उसका उपयोग अवस्तुक है। चित्त-चैतसिक भी मरीचिका के तुल्य हैं क्योंकि वे भ्रान्तिकर हैं[२]।

इस अद्वयवाद के तल में हम सदा प्रतीत्यसमुत्पाद की अनादि तन्त्री पायेंगे, और अनित्यता और शून्यता इसके पृष्ठ में हैं। आध्यात्मिक आयतन प्रतिबिम्बोपम हैं, क्योंकि ये पूर्व कर्म के प्रतिबिम्ब हैं। पुद्गल केवल कर्मकृत है। इसी प्रकार बाह्य आयतन प्रतिभासोपम हैं। यह आध्यात्मिक आयतनों की छाया है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति आध्यात्मिक आयतनों के आधिपत्य से होती है। इसी प्रकार समाधि-संनिश्रित धर्म उदकचन्द्रबिम्बवत् हैं। बोधिसत्त्व के विविध जन्म (जातक) निर्माणोपम हैं। देशना धर्म प्रतिश्रुति के सदृश हैं[३]। अभूतपरिकल्प, न भूत न अभूत, अकल्प, न कल्प न अकल्प, ये सब ज्ञेय कहलाते हैं। यहाँ अकल्प तथता लोकोत्तर ज्ञान है[४]।

---

१. "मायाहस्त्याकृतिग्राहभ्रान्तेर्द्वयमुदाहृतम् ।
द्वयं तत्र यया नास्ति द्वयं चैवोपलभ्यते ॥
विम्बसङ्कलिकाग्राहभ्रान्तेर्द्वयमुदाहृतम् ।
द्वयं तत्र यथा नास्ति द्वयं चैवोपलभ्यते ॥" (पृ० ६०)

२. "मायाराजेव चान्येन मायाराज्ञा पराजितः ।
ये सर्वधर्मान् पश्यन्ति निर्मानास्ते जिनात्मजाः ॥" (पृ० ६०)

३. "मायास्वप्नमरीचिबिम्बसदृशाः प्रोद्भासश्रुत्कोपमाः,
विज्ञेयोदकचन्द्रबिम्बसदृशा निर्माणतुल्याः पुनः ।
षट् षट् द्वौ न पुनश्च षट् द्वयमता एकैकशश्च त्रयः,
संस्काराः खलु तत्र तत्र कथिता बुद्धैर्विबुद्धोत्तमैः" ॥ (पृ० ६१)

४. "अभूतकल्पो न भूतो नाऽभूतोऽकल्प एव च ।
न कल्पो नापि चाकल्पः सर्वं ज्ञेयं निरुच्यते" ॥ (पृ० ६१)

धर्मों की तथता—अविद्या और क्लेश से विकल्पों का प्रवर्तन होता है। इनका द्वयाभास, अर्थात् ग्राह्यग्राहकाभास होता है[१]। इन विकल्पों के अपगम से आलंबनविशेष की प्राप्ति होती है, जहाँ द्वयाभास नहीं है। यही धर्मों की तथता है। इसे हमने पूर्व धर्मालंबन कहा। नाम पर चित्त का अवस्थान होने पर स्वधातु पर (तथता पर) अवस्थान होता है। स्वधातु विकल्पों की तथता है। यह कार्य भावनामार्ग से होता है। उस क्षण में इन्हीं विकल्पों का अद्वयाभास होता है। जिस प्रकार खरत्व के अपगम से चर्म मृदु होता है, अग्नि से तपाये जाने पर काण्ड ऋजु होता है, उसी प्रकार भावना से आश्रयपरावृत्ति होती है, और उन्हीं विकल्पों का पुनः द्वयाभास नहीं होता[२]। यहाँ विज्ञप्तिमात्रता प्रतिपादित हो रही है। चित्तमात्र है। इसी का द्वयप्रतिभास, ग्राह्यप्रतिभास, ग्राहकप्रतिभास इष्ट है। इसी का रागादिक्लेशाभास, श्रद्धादिकुशलधर्माभास भी इष्ट है। चित्त से अन्य कोई धर्म नहीं है। तदाभास से अन्य न कोई क्लिष्ट धर्म है, न कोई कुशल धर्म है[3]। अतः यह चित्त ही है, जिसका विविध आकार में आभास होता है। यह आभास भावाभाव है, किन्तु यह धर्मों का नहीं है। चित्त का चित्राभास होता है। इसका विविध आकार में प्रवर्तन होता है। पर्याय से रागाभास, द्वेषाभास अथवा अन्य धर्म का आभास होता है। इस प्रतिभास के व्यतिरिक्त धर्मों का यह लक्षण नहीं है[४]।

असंग विज्ञानवाद की दृष्टि से ज्ञान के प्रश्न का विवेचन करते हैं। चित्त विज्ञान और रूप है[५]। परतन्त्र का लक्षण अभूतपरिकल्प है। इसके विविध आभास हैं :—देहाभास, मन (=क्लिष्टमन)—उद्ग्रह (=पंचविज्ञानकाय) —विकल्प (=मनोविज्ञान)—आभास[६]। अन्त में असंग धर्मों की तथता का

---

१. "स्वधातुतो द्वयाभासाः साविद्याक्लेशवृत्तयः।
विकल्पाः सम्प्रवर्तन्ते द्वयद्रव्यविवर्जिताः" ॥ (पृ० ६१)

२. "आलम्बनविशेषाप्तिः स्वधातुस्थानयोगतः।
न एव ह्यद्वयाभासा वर्तन्ते चर्मकाण्डवत् ॥" (पृ० ६१)

३. "चित्तं द्वय प्रभासं रागादयाभासमिष्यते तद्वत्।
श्रद्धादयाभासं न तदन्यो धर्मः क्लिष्टकुशलोऽस्ति ॥" (पृ० ६२)

४. "इति चित्तं चित्राभासं चित्राकारं प्रवर्तते।
तथा भासो भावाभावो न तु धर्माणां मतः ॥" (पृ० ६२)

५. "सदृष्टिक च यच्चित्तं तत्रावस्थाविकारिता।
लक्ष्यमेतत् समासेन ह्यप्रमाणं प्रभेदतः ॥" (पृ० ६२)

६. "त्रिविधत्रिविधाभासो ग्राह्यग्राहकलक्षणः।
अभूतपरिकल्पो हि परितन्त्रस्य लक्षणम् ॥" (पृ० ६३)

निर्देश करते हैं। यह धर्मों का परिनिष्पन्न लक्षण है। यह सब परिकल्पित धर्मों की अभावता है, और तदभाववश यह भाव है। यह भावाभाव-समानता है, क्योंकि यह भाव और यह अभाव अभिन्न हैं। यह आगन्तुक उपक्लेशों के कारण अशान्त है, और प्रवृति-परिशुद्ध होने के कारण शान्त है। पुनः यह अविकल्प है, क्योंकि निष्प्रपञ्च है, और विकल्पों के अगोचर है[१]। तथता का ध्यान करने से योगी आदर्शज्ञान और आलोक का लाभ करता है। आदर्श चित्त का धातु में अवस्थान है। यह समाधि है। आलोक सत्-असत् के आकार में अर्थदर्शन है। यह लोकोत्तर प्रज्ञा है। सत् को सत् और असत् को असत् यथाभूत देखना लोकोत्तर प्रज्ञा है[२]। यह प्रज्ञा सब आर्यगोत्रों को सामान्य है।

भवत्रयगत द्विविध नैरात्म्य को जानकर, और यह जानकर कि यह द्विविध नैरात्म्य सम है, क्योंकि परिकल्पित पुद्गल का अभाव है, और परिकल्पित धर्मों का अभाव है; किन्तु इसलिए नहीं कि सर्वथा अभाव है, बोधिसत्त्व तत्त्व में, अर्थात् विज्ञप्तिमात्रता में प्रवेश करता है। जब तत्त्व-विज्ञप्तिमात्र में मन का अवस्थान होता है, तब तत्त्व का ख्यान नहीं होता। यह अख्यान ही विमुक्ति है। यह उपलम्भ का परम विगम है, क्योंकि इसमें पुद्गल और धर्मों का उपलम्भ नहीं होता[3]।

योगी नाममात्र अर्थात् अर्थरहित अभिलापमात्र पर मन का आधान करता है। नाम चार अरूपी स्कन्ध कहे गए हैं। इस प्रकार वह विज्ञप्तिमात्र का दर्शन करता है। इसको भी वह पुनः नहीं देखता, क्योंकि अर्थाभाव से उसकी विज्ञप्ति का दर्शन होता है। यह अनुपलम्भ विमुक्ति है[४]।

यह जानकर आश्चर्य होता है कि यह साधना पातञ्जल योग के समीप है।

---

१. "अभावभावता या च भावाभावसमानता।
अशान्तशान्ताऽकल्पा च परिनिष्पन्नलक्षणम्॥" (पृ० ६३)

२. "निष्यन्दधर्ममालम्ब्य योनिशो मनसिक्रिया।
चित्तस्य धातौ स्थानं च सदसत्तार्थपश्यना॥" (पृ० ६४)

३. "विदित्वा नैरात्म्यं द्विविधमिह धीमान् भवगतम्,
समं तच्च ज्ञात्वा प्रविशति स तत्त्वं ग्रहणतः।
ततस्तत्र स्थानान्मनस इह न ख्याति तदपि,
तदख्यानं मुक्तिः परम उपलम्भस्य विषयः॥" (पृ० ६५)

४. "आधारे सम्भारादाधाने सति हि नाममात्रं पश्यन्।
पश्यति हि नाममात्रं तत् पश्यंस्तच्च नैव पश्यति भूयः"॥ (पृ० ६५)

क्या असंग का निम्न वाक्य योगसूत्र में दिए लक्षण का स्मरण नहीं दिलाता ? चित्त की अध्यात्मस्थिति से, अर्थात् चित्त का चित्त में ही अवस्थान होने से चित्त की निवृत्ति होती है, क्योंकि इस अवस्था में आलंबन का अनुपलम्भ होता है[1]।

किन्तु एक प्रधान भेद योगाचार को योग से पृथक् करता है। पातञ्जल योग में धर्मों का स्वभाव है, और योगाचार में इसका अभाव है। असंग कहते हैं कि धर्मों की निःस्वभावता है, स्वात्म से उनका अभाव है। वे प्रत्ययाधीन हैं, और क्षणिक हैं। केवल मूढ़ पुरुषों का स्वभावग्राह होता है। वे स्वभाव को नित्यतः, सुखतः, शुचितः और आत्मतः देखते हैं[2]।

धर्मों की निःस्वभावतया से यह सिद्ध होता है कि न उत्पाद है, न निरोध। जब धर्मों का स्वभाव नहीं है, तो उनका उत्पाद नहीं है, और जो अनुत्पन्न है, उसका निरोध नहीं है। अतः वह आदिशान्त है, और जो आदि-शान्त है, वह प्रकृति-परिनिर्वृत है[3]॥

१२. देशनाधिकार

बारहवें अधिकार में असंग बताते हैं कि दोषविवर्जित धर्मदेशना क्या है, उसका कार्य क्या है, उसकी सम्पत्ति क्या है, और उसका विषय क्या है॥

१३. प्रतिपत्त्यधिकार

ग्रन्थ के तेरहवें अधिकार में वे दिखाते हैं कि उक्त सिद्धान्तों के प्रयोग से किस प्रकार बोधिसत्त्व क्रमपूर्वक अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त होता है। यह प्रतिपत्ति-अधिकार है।

लौकिक-अलौकिक समाधि—शून्यता-समाधि, अप्रणिहित-समाधि, अनि-मित्त-समाधि, चर्या का आरंभमात्र हैं। ये तीन लौकिक समाधि हैं। किन्तु यह लोकोत्तर ज्ञान का आवाहन करती है, और इसलिए ये मिथ्या नहीं हैं। आदि-भूमि में (प्रमुदिता भूमि में) ही वह लोकोत्तर ज्ञान का लाभ करता है। वहाँ उस भूमि के सब बोधिसत्त्वों से उसका तादात्म्य हो जाता है और इस

१. "चित्तमेतत् सदौष्ठुल्यमात्मदर्शनपाशितम् ।
प्रवर्तते निवृत्तिस्तु तदध्यात्मस्थितेर्मता" ॥ (पृ० ६५)

२. "स्वयं स्वेनाऽऽत्मनाऽभावात् स्वभावे चानवस्थितेः ।
ग्राहवत् तदभावाच्च निःस्वभावत्वमिष्यते" ॥ (पृ० ६६)

३. "निःस्वभावतया सिद्धा उत्तरोत्तरनिश्रयाः ।
अनुत्पन्नानिरुद्धादिशान्तप्रकृतिनिर्वृताः" ॥ (पृ० ६६)

प्रकार वह बोधिसत्त्वों की सामीची[1] में प्रतिपन्न हो जाता है। उसको ज्ञेयावरण और क्लेशावरण को अवगत करना है। ज्ञेयावरण का ज्ञान भावना से होता है, और क्लेशनिःसरण क्लेश से होता है। भगवान् कहते हैं कि मैं राग का निःसरण राग से अन्यत्र नहीं बताता, इसी प्रकार द्वेष का और मोह का निःसरण द्वेष और मोह से अन्यत्र नहीं बताता। धर्मधातु से विनिर्मुक्त कोई धर्म नहीं हैं, क्योंकि धर्मता से व्यतिरिक्त धर्म का अभाव है। अतः रागादिधर्मता रागादि आख्या का लाभ करती है, और वही रागादि का निःसरण है[2]। धर्मधातु में क्लेश रागस्वभाव का परित्याग कर धर्मता हो जाता है, और उसका आख्यान नहीं होता। रागादि के परिज्ञात होने पर वे ही उनके निःसरण हैं।

इसी अर्थ में अविद्या और बोधि भी एक हैं। उपचार से अविद्या बोधि की धर्मता है[3]।

धर्म का अभाव और उपलब्धि, निःसंक्लेश और विशुद्धि भी मायासदृश हैं। वस्तुतः चित्त तथता ही है। उसी तरह अभूतकल्प में भी द्वय नहीं है, किन्तु द्वय दिखलायी पड़ता है। जैसे विधिवत् विचित्रित चित्र में नत-उन्नत नहीं है, किन्तु द्वय दिखलायी पड़ता है। जैसे जल क्षुब्ध होकर प्रसादित हो जाता है, उसकी अच्छता अन्यत्र से नहीं आती, उसी प्रकार यह मल का अपकर्षमात्र है। चित्त की विशुद्धि इसी प्रकार होती है। चित्त प्रकृतिप्रभास्वर है, किन्तु आगन्तुक दोष से दूषित होता है। धर्मता-चित्त से अन्यत्र दूसरा चित्त नहीं है, जो प्रकृतिप्रभास्वर हो[4]। इस प्रकार बुद्धत्व या निर्माण चित्त में है। अतः असंग

---

१. 'सामीचि' 'अनुच्छविक धम्म' है, यथा पादप्रक्षालन, चीवरदान, चैत्यवंदना इत्यादि। प्रातिमोक्ष ७३ के अनुसार 'सामीचि' 'अनुधम्मता' है। लोकोत्तर धर्म के अनुरूप अववाद और अनुशासनी सामीचिधर्मता है।

२. "धर्मधातुविनिर्मुक्तो यस्माद् धर्मो न विदयते।
तस्माद् रागादयस्तेषां बुद्धैर्निःसरणं गताः ॥" (पृ० ८४)

३. "धर्मधातुविनिर्मुक्तो यस्माद् धर्मो न विद्यते।
तस्मात् संक्लेशनिर्देशे स सन्धिर्धर्मोमतां मतः ॥" (पृ० ८४)

४. "धर्माभावोपलब्धिश्च निःसंक्लेशविसुद्धिता।
मायादिसदृशी ज्ञेया आकाशसदृशी तथा ॥ (पृ० ८४)
यथैव चित्रे विधिवद् विचित्रिते नतोन्नतं नास्ति च दृश्यतेऽथ च।
अभूतकल्पेऽपि तदैव सर्वथा द्वयं सदा नास्ति च दृश्यतेऽथ च ॥"
यथैव तोये लुलिते प्रसादिते न जायते सा पुनरच्छताऽन्यतः।
मलापकर्षस्तु स तत्र केवलः स्वचित्तशुद्धौ विधिरेष एव हि ॥

का वाद विज्ञानवादी अद्वयवाद है। धर्मधातु की प्रकृति-परिशुद्धि से मूढ़ों को त्रास होता है। असंग आकाश और जल का दृष्टान्त देकर इस त्रास का प्रतिषेध करते हैं। वे कहते हैं कि चित्त आकाशतोयवत् प्रकृत्या विशुद्ध है। यह तथता से अन्य नहीं है।

इस उपोद्घात के साथ असंग बोधिसत्त्व की सत्त्वों के प्रति मैत्री और करुणा का वर्णन करते हैं। बोधिसत्त्व का सत्त्वों के प्रति प्रेम मज्जागत होता है। वह सत्त्वों से वैसे ही प्रेम करते हैं, जैसे कोई अपने एकमात्र पुत्र से करता है। वह सदा सत्त्वों का हित साधित करते हैं। जैसे कपोती अपने बच्चों को प्यार करती है, और उनका उपगूहन करती है; उसी प्रकार यह कारुणिक सत्त्वों को पुत्रवत् देखता है[1]॥

१४. अववादानुशासन्यधिकार

बोधिचर्या का क्रम व स्वरूप—चौदहवें अधिकार में अववाद-अनुशासनी[2] विभाग है। इसमें असंग बताते हैं कि प्रतिपत्ति के पश्चात् बोधिसत्त्व की चर्या क्या है? सिलवाँ लेवी भूमिका में इस अधिकार का संक्षेप यों करते हैं :— बोधिसत्त्व पहले सूत्रादिक धर्म के नाम में (यथा दशभूमिक) चित्त को बाँधता है, वह इसके अर्थ और व्यञ्जन का विस्तार करता है, विचारित अर्थ को मूलचित्त में संक्षिप्त करता है, और ज्ञान के लिए उसका चित्त छन्द-सहगत होता है। वह समाधि में चित्त का दमन करता है। इससे उसके चित्त की स्वरसवाहिता होती है।

पहले यह साभिसंस्कार होती है, पुनः अभ्यासवश अभिसंस्कारों के बिना होती है। तदनन्तर उसको कायप्रश्रब्धि और चित्तप्रश्रब्धि का लाभ होता है। इसकी वृद्धि कर वह मौली स्थिति का लाभ करता है, और इसका शोधकर वह ध्यानों में कर्मण्यता को प्राप्त होता है। ध्यानों में उसको अभिज्ञाबल की प्राप्ति होती है, जिससे वह अप्रमेय बुद्धों की पूजा करने और उनसे धर्म-श्रवण करने

मतं च चित्तं प्रकृतिप्रभास्वरं सदा तदागन्तुकदोषदूषितम्।
न धर्मताचित्तमृतेऽन्यचेतसः प्रभास्वरत्वं प्रकृतौ विधीयते॥" (पृ० ८५)

१. "बोधिसत्त्वस्य सत्त्वेषु प्रेम मज्जगतं महत्।
यथैकपुत्रके तस्मात् सदा हितकरं महत्॥
सत्त्वेषु हितकारित्वान्नैत्यापत्ति स रागजाम्।
द्वेषो विरुद्धयते त्वस्य सर्वसत्त्वेषु सर्वथा॥" (पृ० ८५)

२. अववाद = विधि-निषेध; अनुशासनी = देशना।

के लिए बुद्धों के लोकधातुओं को जाता है। भगवदुपासना से वह चित्त की कर्मण्यता और काय-चित्त की प्रश्रब्धि का लाभ करता है, और कृत्स्न दौष्ठुल्य प्रतिक्षण द्रवित होता है। वह विशुद्धि का भाजन हो जाता है। तब वह निर्वेधभागीय अवस्थाओं में से होकर क्रमशः गमन करता है। इससे उसको द्वयग्राहविसंयुक्त लोकोत्तर निर्विकल्प शुद्ध ज्ञान का लाभ होता है। यह दर्शन मार्ग की अवस्था है। उसका चित्त सदा सम होता है, वह शून्यज्ञ होता है, अर्थात् वह त्रिविधिशून्यता का ज्ञान रखता है :—अभावशून्यता, तथाभाव की शून्यता, प्रकृतिशून्यता। यह अनिमित्त पद है, यह अप्रणिहित पद है। वह बोधिपक्षीय धर्मों का लाभ करता है, और 'महात्मदृष्टि' का लाभ करता है। जहाँ सब तत्त्वों में आत्मसमचित्त का लाभ होता है। तब ज्ञान की भावना के लिए परिशिष्ट भूमियों में प्रयोग और विकल्पभेद्य वज्रोपम समाधि का लाभ शेष रह जाता है, और वह सर्वज्ञता लाभ करके अनुत्तर पद में स्थित हो सत्त्वों के हित के लिए अभिसंबोधि और निर्वाण का संदर्शन करता है (सिलवाँ लेवी की भूमिका पृ० २६–२७)।

इस अधिकार में असंग बोधिसत्त्व-चर्या की विविध भूमियों का अनुसरण करते हैं। वह बोधिसत्त्व को विज्ञप्तिमात्रता में प्रतिष्ठित देखते हैं। तथाभूत बोधिसत्त्व सब अर्थों को प्रतिभासवत् देखता है। उस समय से उसका ग्राह्यविक्षेप प्रहोण होता है। केवल ग्राहकविक्षेप अवशिष्ट रहता है। यह उसकी क्षान्ति-अवस्था है। तब यह शीघ्र ही आनन्तर्य-समाधि का स्पर्श करता है। यह उसकी लौकिकाग्रधर्मावस्था है। यह समाधि 'आनन्तर्य' कहलाती है, क्योंकि तदनन्तर ही ग्राहकविक्षेप प्रहीण होता है। यह निर्वेधभागीय है। यहाँ मनोजल्पमात्र रह जाता है[1]। यह अवस्था द्वयग्राह से विसंयुक्त, निर्विकल्प, विरज और अनुत्तर है।[2]

---

१. "ततश्चासौ तथाभूतो बोधिसत्त्वः समाहितः।
मनोजल्पाद् विनिर्मुक्तान् सर्वार्थान्न प्रपश्यति ॥
धर्मालोकस्य वृद्धचर्थं वीर्यमारभते दृढम्।
धर्मालोकविवृद्धया च चित्तमात्रेऽवतिष्ठते ॥
सर्वार्थप्रतिभासत्वं ततश्चित्ते प्रपश्यति।
प्रहीणो ग्राह्यविक्षेपस्तदा तस्य भवत्यसौ ॥
ततो ग्राहकविक्षेपः केवलोऽस्यावशिष्यते।
आनन्तर्यसमाधिं च स्पृशत्याशु तदा पुनः ॥" (पृ० ९०)

२. "द्वयग्राहविसंयुक्तं लोकोत्तरमनुत्तरम्।
निर्विकल्पं मलापेतं ज्ञानं स लभते पुनः ॥" (पृ० ९१)

इस प्रकार नैरात्म्य का लाभकर वह सब सत्त्वों में आत्मसमचित्तता का प्रतिलाभ करता है। धर्मनैरात्म्य से धर्मसमता का प्रतिवेध कर वह विचार करता है कि मेरे दुःख और पराये के दुःख में कोई विशेष नहीं है। अतः वह परदुःखप्रहाण की उसी प्रकार कामना करता है, जिस प्रकार अपने दुःख के प्रहाण की और इसके लिए दूसरों से कोई प्रत्युपकार नहीं चाहता[1]। उसके आर्यत्व में क्या अन्तराय हो सकता है ? अपने अद्वयार्थ से वह संस्कारों को अभूत परिकल्पतः देखता है। जब वह ग्राह्यग्राहकाभाव के भाव को (धर्मधातु को) दर्शनप्रहातव्य क्लेशों से विमुक्त देखता है, तब यह दर्शनमार्ग कहलाता है[2]। यहाँ एक विचित्र वाक्य है :—जब वह अभावशून्यता, तथाभाव की शून्यता और प्रकृतिशून्यता, इस त्रिविधिशून्यता का ज्ञान प्राप्त करता है, तब वह शून्यज्ञ कहलाता है[3]।

त्रिविध शून्यता—इस श्लोक की टीका में कहा है :—बोधिसत्त्व को त्रिविध शून्यता का ज्ञान होता है। अभावशून्यता परिकल्पित स्वभाव है, क्योंकि स्वलक्षण का अभाव है। तथाभाव की शून्यता परतन्त्रस्वभाव है, क्योंकि इसका भाव वैसा नहीं है, जैसा कल्पित होता है। प्रकृतिशून्यता परिनिष्पन्न-स्वभाव है, क्योंकि इसका स्वभाव-शून्यता का है। हम देखते हैं कि नागार्जुन की शून्यता का विज्ञानवादी अद्वयवाद से क्या सूक्ष्म संबन्ध है, और हम यह भी देखते हैं कि किस कुशलता के साथ विज्ञानवादी नागार्जुन से व्यावृत्त होते हैं। क्योंकि माध्यमिकों की शून्यता से ऐकमत्य प्रकट कर असंग कहते हैं कि यह जानकर कि जगत् संस्कारमात्र और निरात्मक है, और निरर्थिका आत्मदृष्टि का त्याग कर बोधिसत्त्व महात्मदृष्टि का लाभ करते हैं, जिसका महान् अर्थ है, इस महात्मदृष्टि में सब सत्त्वों के साथ आत्मसमचित्त का लाभ होता है। इस अद्वयवाद से करुणा प्रवृत्त होती है। बोधिसत्त्वों का सत्त्वों के प्रति जो प्रेम होता है, उनकी जो वत्सलता

---

१. "धर्मधातोश्च समतां प्रतिविध्य पुनस्तदा।
सर्वसत्त्वेषु लभते सदात्मसमचित्तताम् ॥
निरात्मतायां दुःखार्थे कृत्ये निःप्रतिकर्मणि।
सत्त्वेषु समचित्तोऽसौ यथाऽन्येऽपि जिनात्मजाः ॥" (पृ० ९१)

२. "तदभावस्य भावं च विमुक्तं दृष्टिहायिभिः।
लब्ध्वा दर्शनमार्गो हि तदा तेन निरुच्यते ॥" (पृ० ९१)

३. "अभावशून्यतां ज्ञात्वा तथाभावस्य शून्यताम्।
प्रकृत्या शुन्यतां ज्ञात्वा शून्यज्ञ इति कथ्यते ॥" (पृ० ९१)

होती है, वह परम आश्चर्य है। अथवा आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि उसके लिए सत्त्व आत्मसमान है[1]।

> संस्कारमात्रं जगदेत्य बुद्धया निरात्मकं दुःखविरूढिमात्रम्।
> विहाय यानर्थमयात्मदृष्टिः महात्मदृष्टि श्रयते महार्थाम् ॥ [पृ० ९२]

[टीका—महात्मदृष्टिरिति महार्था या सर्वसत्त्वेष्वात्मसमचित्तलाभात्मदृष्टिः। सा हि सर्वसत्त्वार्थक्रियाहेतुत्वान्महार्था। 'विनात्मदृष्टया' अनर्थमयी आत्मदृष्टिर्महार्था या विनापि दुःखेन स्वसन्तानजेन सुदुःखिता सर्वसत्त्वसन्तानजेन।]

यह महात्मदृष्टि उपनिषदों की परमात्मदृष्टि के कितने समीप है:— तुम्हारी आत्मा जो सब आत्माओं में गूढ है।

असंग कहते हैं कि महात्मदृष्टि आत्मदृष्टि है, क्योंकि इसमें सब सत्त्वों में आत्मसमचित्त का लाभ होता है। वह स्वसन्तानज दुःखों के बिना भी सब सत्त्वों के दुःख से दुःखित होता है। आज से बोधिसत्त्व का धातु आकाशवत् अनन्त है। सब सत्त्व आत्मतुल्य हो जाते हैं। यह सत्त्वों के दुःख का अन्त करने के लिए सचेष्ट होता है। वह उनके हित-सुख की कामना करता है, और उसके लिए प्रयोग करता है। यह वज्रोपम-समाधि है। विकल्प इसका भेद नहीं कर सकते। यह सर्वाकारज्ञता और अनुत्तर-पद भी है। वह जगत् में सूर्य के सदृश भासित होता है, और अन्धकार का नाश करता है ॥

१५. उपायसहित कर्माधिकार

पारमिताओं की सिद्धि-प्रतिष्ठा कायवाक्चित्तमय कर्म हैं। बोधिसत्त्व कर्म को विशुद्ध करता है। उसके कर्म में कर्ता, कर्म या क्रिया का विकल्प नहीं है। इस प्रकार कर्म को शोध कर वह कर्म को अक्षय कर देता है, और पारमिताओं की सिद्धि करता है ॥

१६. पारमिताधिकार

ग्रन्थ के सोलहवें अधिकार में असंग षट्पारमिता की चर्या का वर्णन करते हैं ॥

१७. पूजासेवाऽप्रमाणाधिकार

सत्रहवें में वे बुद्ध-पूजा, कल्याणमित्रसेवा और चार अप्रमाण (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा) का उल्लेख करते हैं। अन्त में वे करुणा के अनुशंस में कहते हैं कि जो मन कृपा से आविष्ट है, वह शम में अवस्थान नहीं करता।

---

१. "यत् प्रेम या वत्सलता प्रयोगः सत्त्वेष्वखेदश्च जिनात्मजानाम्।
आश्चर्यमेतत् परमं भवेषु न चैव सत्त्वात्मसमानभावात् ॥" (पृ० ९२)

श्रावक-प्रत्येकबुद्धों का मन निर्वाण में प्रतिष्ठित होता है। वे निःस्नेह होते हैं, किन्तु बोधिसत्त्वों का मन निर्वाण में भी प्रतिष्ठित नहीं होता, तब स्वजीवित या लौकिक सुख में उनको कैसे प्रीति हो सकती है !

> आविष्टानां कृपया न तिष्ठति मनः शमे कृपालूनाम् ।
> कुत एव लोकसौख्ये स्वजीविते वा भवेत् स्नेहः ॥ [पृ० १२३]

बोधिसत्त्वों का करुणा स्नेह विशिष्ट है। माता-पिता के लिए स्नेह होता है, वह तृष्णामय है, अतः सावद्य है। जो लौकिककरुणाविहारी हैं, उनका स्नेह निरवद्य होते हुए भी लौकिक है, किन्तु बोधिसत्त्वों का स्नेह करुणामय है, यह निरवद्य है, और लौकिक का अतिक्रमण भी करता है। लोक दुःख और अज्ञान में निश्रित है। लोक के उद्धरण का उपाय निरवद्य क्यों न होगा ? सत्त्वों के प्रति करुणा करने से बोधिसत्त्वों को जो दुःख होता है, वह आदिभूमि में त्रास का कारण होता है, क्योंकि अभी तक उन्होंने आत्म-पर-समता से दुःख का यथाभूत स्पर्श नहीं किया है। किन्तु एक बार स्पर्श होने से वह दुःख का अभिनन्दन करता है। इससे बढ़कर क्या आश्चर्य होगा कि बोधिसत्त्वों का करुणादुःख सब लौकिक सुख को भी अभिभूत करता है। असंग कहते हैं कि भोगी को भी उपभोग से वैसी तुष्टि नहीं होती, जैसी कृपालु बोधिसत्त्व की तुष्टि परित्याग से होती है। उसका चित्त सुखत्रय (दानप्रीति, परानुग्रहप्रीति, बोधिसंभारसंभरण-प्रीति) से आप्यायित होता है।

> न तथोपभोगतुष्टिं लभते भोगी यथा परित्यागात् ।
> तुष्टिमुपैति कृपालुः सुखत्रयाप्यायितमनस्कः ॥ [पृ० १२६]

१८. बोधिपक्षाधिकार

बोधिपाक्षिक धर्म

ग्रन्थ में अब बोधिपक्षाधिकार प्रारम्भ होता है। इस अधिकार में उन गुणों का वर्णन है, जिनसे बोधि की प्राप्ति होती है। बोधिसत्व में दोषों का अभाव होता है, और वह गुणों से युक्त है। उसका आश्रय निर्मल, अच्छी, अलिप्त, निर्विकल्प और शून्य होता है। उसकी तुलना आकाश से ही हो सकती है। वह आकाश के तुल्य लोकधर्मों से लिप्त नहीं होता।

यहाँ बोधिपक्षीय धर्मों का उल्लेख नहीं करना है, क्योंकि इनका दर्शन से प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं है[1]। और उसके आगे के श्लोकों में असंग सब संस्कारों

---

१. "समाध्युपनिषत्त्वेन धर्मोद्दानचतुष्टयम् ।
देशितं बोधिसत्त्वेभ्यः सत्त्वानां हितकाम्यया" ॥ (पृ० १४३)

की अनित्यता, दुःखता, सब धर्मों की अनात्मता के लिए पुराने वाक्य का उल्लेख करते हैं। वे कहते हैं कि बोधिसत्त्वों के लिए अनित्य का अर्थ असत् है। उनके लिए अनित्य परिकल्पित-लक्षण है, दुःख का अर्थ अभूत-विकल्प है, और अनात्म का अर्थ परिकल्पमात्र है। परिकल्पित आत्मा नहीं है, किन्तु परिकल्पमात्र है। इस प्रकार अनात्म का अर्थ परिकल्पितलक्षण का अभाव है[1]।

पुनः असंग इस प्रकरण में क्षणिकवाद की परीक्षा करते हैं। हम सौत्रान्तिकवाद के अध्याय (बौद्ध धर्म दर्शन) में इसका वर्णन कर चुके हैं।

पुद्गल-नैरात्म्य

अन्ततः पुद्गल का भी नैरात्म्य है। यह द्रव्यतः नहीं है, केवल प्रज्ञप्तितः है। इसकी रूपादिवत् द्रव्यतः उपलब्धि नहीं होती। किन्तु भगवान् ने कहा है कि इस लोक में आत्मा की उपलब्धि होती है, आत्मा की प्रज्ञप्ति होती है। फिर कैसे कहते हैं कि इसकी उपलब्धि नहीं होती ? किन्तु इस प्रकार उपलभ्यमान होने पर वह द्रव्यतः उपलब्ध नहीं होता। किस कारण से ? क्योंकि यह विपर्यास है। भगवान् ने कहा है कि अनात्म में आत्म का विपर्यास होता है। इसलिए पुद्गल-ग्राह विपर्यास है। इसकी सिद्धि कैसे होती है ? संक्लेश से। इस संक्लेश का लक्षण सत्कायदृष्टि है, जिसमें अहंकार-ममकार होता है। किन्तु विपर्यास संक्लेश है। कैसे मालूम हो कि यह संक्लेश है ? क्योंकि हेतु क्लिष्ट है। वस्तुतः तद्हेतुक रागादि क्लिष्ट उत्पन्न होते हैं।

किन्तु जिस रूपादिकसंज्ञक वस्तु में पुद्गल प्रज्ञप्त होता है, वह उस पुद्गल का एकत्व है या अन्यत्व ? वह उत्तर देता है कि एकत्व या अन्यत्व दोनों अवक्तव्य हैं, क्योंकि दो दोष हैं। एकत्व में स्कन्धों के आत्मत्व का प्रसंग होता है। अन्यत्व में पुद्गल के द्रव्यत्व का प्रसंग होता है। यदि इसका एकत्व है, तो इससे यह परिणाम निकलता है कि स्कन्धों का आत्मत्व है, और पुद्गल द्रव्यसत् है। यदि अन्यत्व है तो पुद्गल द्रव्यसत् है। इस प्रकार यह युक्त है कि पुद्गल अवक्तव्य है, क्योंकि यह प्रज्ञप्तिसत् है। अतः यह अव्याकृत वस्तुओं में से है। पुनः जो शास्ता के शासन का अतिक्रम कर पुद्गल का द्रव्यतः अस्तित्व चाहते हैं, उनसे कहना चाहिये कि यदि यह द्रव्यसत् है, और अवाच्य भी है, तो प्रयोजन कहना चाहिये किस कारण से ? यदि यह नहीं कहा जा सकता कि इसका एकत्व है या अन्यत्व तो यह निष्प्रयोजन है। किन्तु कदाचित् कोई केवल दृष्टान्त द्वारा पुद्गल के अवक्तव्यत्व को सिद्ध करना चाहे तो वे कहेंगे कि पुद्गल

---

१. "असदर्थोऽविकल्पार्थः परिकल्पार्थ एव च ।
विकल्पोपशमार्थश्च धीमतां तच्चतुष्टयम्" ॥ (पृ० १४३)

अग्नितुल्य है, और जिस प्रकार अग्नि इन्धन से न अन्य है, न अनन्य; उसी प्रकार पुद्गल अवक्तव्य है। उनसे कहना चाहिये कि लक्षण से, लोकदृष्टि से तथा शास्त्र से इन्धन और अग्नि का अवक्तव्यत्व युक्त नहीं है, क्योंकि द्वयरूप में उपलब्धि होती है। पुनः अग्नि तेजोधातु है, और इन्धन शेषभूत है। उनके लक्षण भिन्न हैं। अतएव अग्नि इन्धन से अन्य है। लोक में भी अग्नि के बिना काष्ठादि इन्धन देखा जाता है, और इन्धन के विना अग्नि देखी जाती है। इसलिए इनका अन्यत्व सिद्ध है, और शास्त्र में भगवान् ने कभी अग्नि-इन्धन का अवक्तव्यत्व नहीं बताया है। किन्तु यह कहा जायगा कि आप कैसे जानते हैं कि इन्धन के विना अग्नि होती है? उपलब्धि से, क्योंकि इस प्रकार वायु से विक्षिप्त ज्वलन दूर भी जाता है। किन्तु यह आपत्ति होगी कि यहाँ वायु इन्धन है। अतएव अग्नि-इन्धन का अन्यत्व सिद्ध होता है। कैसे? क्योंकि द्वयरूप में उपलब्धि है। यहाँ दो उपलब्धियाँ हैं: अर्चि और वायु इन्धन के रूप में। किन्तु पुद्गल है, क्योंकि यही द्रष्टा, विज्ञाता, कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता, मन्ता है। नहीं; क्योंकि इस अवस्था में वह दर्शनादिसंज्ञक विज्ञानों का प्रत्ययभाव से या स्वामिभाव से कर्ता होगा। किन्तु यदि दो के प्रत्ययवश विज्ञान संभव है, तो यह प्रत्यय नहीं है। क्यों? यह निरर्थक होगा, क्योंकि उसका कुछ भी सामर्थ्य नहीं देखा जाता। यदि विज्ञान की प्रवृत्ति में यह स्वामी होता तो अनित्य का प्रवर्तन न होता; क्योंकि अनित्य उसको अनिष्ट है। अतः यह युक्त नहीं है कि यह द्रष्टा, विज्ञान, कर्ता भोक्ता है।

पुद्गल-नैरात्म्य के अभाव में दोष—पुनः यदि पुद्गल द्रव्यतः है, तो उसके कर्म की उपलब्धि होनी चाहिये; जैसे चक्षुरादि के दर्शनादि कर्म की उपलब्धि होती है। किन्तु पुद्गल के संबन्ध में ऐसा नहीं है, अतः वह द्रव्यतः नहीं है। यदि उसका द्रव्यत्व इष्ट है तो भगवान् बुद्ध के संबोध को तीन प्रकार से बाधा पहुँचती है। अभिसंबोध गंभीर, असाधारण और लोकोत्तर है। किन्तु पुद्गल के अभिसंबोध में कुछ गंभीर नहीं है, कुछ असाधारण नही है। यह पुद्गल-ग्राह सर्वलोकगम्य है; तीर्थिक इसमें अभिनिविष्ट है; यह लोकोचित है। पुनः यदि पुद्गल द्रष्टा आदि होता तो दर्शनादि कृत्य में वह सप्रयत्न होता या निष्प्रयत्न होता। यदि वह सप्रयत्न होता तो उसका प्रयत्न स्वयंभू होता या आकस्मिक होता या तत्प्रत्ययत्व होता। यह यत्न स्वयंभू नहीं है, क्योंकि इसमें तीन दोष है। इनका उल्लेख आगे करेंगे। यत्नप्रत्ययत्व भी नहीं है। अथवा यदि वह निष्प्रयत्न होता तो दर्शनादिक स्वतः सिद्ध होते। और जब पुद्गल का व्यापार नहीं है, तो पुद्गल द्रष्टादि कैसे होता है?

तीन दोष ये हैं :—अकर्तृत्व, अनित्यत्व, युगपत् और नित्य प्रवृत्ति। यदि दर्शनादिक में प्रयत्न आकस्मिक है, तो दर्शनादिक का पुद्गल कर्ता नहीं है। वह द्रष्टा आदि कैसे होगा ? अथवा यदि प्रयत्न को आकस्मिक मानें तो निरपेक्ष होने से ऐसा कभी न होगा कि प्रयत्न न हो और यह अनित्य न होगा। यदि प्रयत्न नित्य होता तो दर्शनादिक की प्रवृत्ति नित्य और युगपत् होती। इन तीन दोषों के कारण प्रयत्न स्वयंभू नहीं है।

प्रत्ययत्व भी युक्त नहीं है। यदि पुद्गल तथा स्थित है, तो उसका प्रत्ययत्व युक्त नहीं है, क्योंकि प्राक् अभाव है। यदि तत्प्रत्यय है तो ऐसा कभी न होगा कि पुद्गल न हो। क्यों ? क्योंकि जब उत्पन्न नहीं है, तो प्राक् प्रयत्न न होगा। और यदि पुद्गल विनष्ट होता है, तब भी उसका प्रत्ययत्व युक्त नहीं है, क्योंकि पुद्गल के अनित्यत्व का प्रसंग होगा। कोई तीसरा पक्ष नहीं है। अतएव तत्प्रत्यय प्रयत्न भी युक्त नहीं है। इस युक्ति का आश्रय लेकर पुद्गल की उपलब्धि द्रव्यतः नहीं होती।

पुद्गल की प्रज्ञप्तिसत्ता—यद्यपि पुद्गल द्रव्यतः नहीं है, तथापि यह प्रज्ञप्तिसत् है। भगवान् ने भी कहीं कहीं कहा है कि पुद्गल है। जैसे भारहार-सूत्र में। श्रद्धानुसारी आदि पुद्गल की व्यवस्था भी है। इनमें दोष नहीं है। पुद्गल-प्रज्ञप्ति के बिना वृत्तिभेद और सन्तानभेद की देशना शक्य नहीं है। उदाहरण के लिए भारहारसूत्र में भार और भारादान को संक्लेश कहा है और भारनिक्षेपण को व्यवदान। यह बताने के लिए कि इनकी वृत्ति और सन्तान में भेद है, भारहार पुद्गल को प्रज्ञप्त करना पड़ता है। इसके बिना देशना संभव नहीं है। पुनः बाधिपक्षीय धर्मों की अवस्थाएँ विविध हैं। इनकी वृत्ति का भेद और सन्तान का भेद श्रद्धानुसारी आदि पुद्गलों की प्रज्ञप्ति के बिना देशित नहीं हो सकता। इसीलिए भगवान् की पुद्गल-देशना है, किन्तु पुद्गल का द्रव्यतः अस्तित्व नहीं है। क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मदृष्टि के उत्पादन के लिए यह देशना है। आत्मदृष्टि पहले से है; अतः वह अनुत्पाद्य है। उसके अभ्यास के लिए भी नहीं हैं, क्योंकि इसका अभ्यास अनादिकालिक है, और यदि इसकी देशना इसलिए होती कि आत्मदर्शन से मोक्ष होता है, तो सबको मोक्ष का लाभ बिना यत्न के ही होता; क्योंकि जो दृष्ट-सत्य नहीं हैं, उनको भी आत्मदर्शन होता है। अथवा मोक्ष नहीं है और पुद्गल नहीं है। पहले आत्मा का अनात्मतः ग्रहण कर सत्याभिसमय के काल में कोई उसको आत्मतः गृहीत नहीं करता। आत्मा के होने पर अहंकार-ममकार, आत्मतृष्णा तथा अन्य क्लेश जो तन्निदान हैं, अवश्य होंगे। इससे भी मोक्ष न होगा। अथवा कहना चाहिए कि पुद्गल नहीं है। उसके होने पर यह दोष नियत रूप से होते हैं॥ (द्र० पृ० १४९-१५०)

१९. गुणाधिकार

तथता का प्रत्यक्ष—योगी पुद्गल निमित का विनाश करता है, और आलयविज्ञान का क्षय कर शुद्ध तथता का लाभ करता है। तथता-ज्ञान यथाभूत का परिज्ञान है। असंग कहते हैं कि तथतालम्बन ज्ञान द्वयग्राह से विवर्जित है। इसकी भावना अनानाकार होती है, क्योंकि यह निमित्त और तथता को पृथक् पृथक् नहीं देखता। बोधिसत्त्व तथता को छोड़कर निमित्त नहीं देखते और निमित्त को ही अनिमित्त देखते हैं। अतः उनके ज्ञान की भावना पृथक् पृथक् नहीं होती। सत्तार्थ-असत्तार्थ में (तथतानिमित्त) ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। यह निमित्त और तथता दोनों को विना नानात्व के संगृहीत करता है[1]।

इस तत्त्व का संछादन कर मूढ़ पुरुषों को सर्वतः अतत्त्व का ख्यान होता है। किन्तु बोधिसत्त्वों को तत्त्व का ही ख्यान होता है, अतत्त्व का नहीं[2]। जब असदर्थ (निमित्त) की अख्यानता और सदर्थ (तथता) की ख्यानता होती है, तब यही आश्रय-परावृत्ति है, यही मोक्ष है। तब वह स्वतन्त्र होता है, अपने चित्त की वशवर्ती होता है, क्योंकि प्रकृति से ही निमित्त का समुदाचार नहीं होता[3]॥

२०-२१ चर्याधिकार

बोधिसत्त्व की दश भूमियाँ

इसके बाद २०-२१ अधिकार में असंग चर्या की दश भूमियों का उल्लेख करते हैं, और एक बुद्ध-स्तोत्र के साथ ग्रन्थ को समाप्त करते हैं।

प्रथम भूमि को अधिमुक्तिचर्या भूमि कहते हैं। इस भूमि में पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य का अभिसमय होता है; अर्थात् योगी धर्मता का प्रतिवेध करता है। इससे दृष्टि विशुद्धि होती है।

दूसरी भूमि मुदिता है। इसमें अधिशील शिक्षा होती है। पुद्गल जानता है कि कर्मों का अविप्रणाश है, और कुशल-अकुशल कर्मपथ का फलवैचित्र्य होता

---

१. "तथतालम्बनं ज्ञानं द्वयग्राहविवर्जितम्।
दौष्ठुल्यकायप्रत्यक्षं तत्क्षये धीमतां मतम्॥
तथतालम्बनं ज्ञानमनानाकारभावितम्।
सदसत्तार्थे प्रत्यक्षं त्रिकल्पविभु चोच्यते॥" (पृ० १६३)

२. "तत्त्वं सञ्छाद्य नालानामतत्त्वं ख्याति सर्वतः।
तत्त्वं तु बोधिसत्त्वानां सर्वतः ख्यात्यपास्य तत्"॥ (पृ० १६४)

३. "अख्यानख्यानता ज्ञेया असदर्थसदर्थयोः।
आश्रयस्य परावृत्तिर्मोक्षोऽसौ कामचारतः॥" (पृ० १६४)

है। वह अपने शील को विशुद्ध करता है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म आपत्ति (अपराध) भी नहीं करता। इस भूमि को मुदिता कहते हैं, क्योंकि आसन्न बोधि और सत्त्वों के अर्थसाधन को देखकर योगी में तीव्र मोद उत्पन्न होता है।

तृतीय भूमि विमला है। इस भूमि में योगी समाहित होता है। यह अधिचित्त शिक्षा है। उसको अच्युत ध्यानसमाधि का लाभ होता है। इसे विमला कहते हैं, क्योंकि योगी दौःशील्य, मल और आभोगमल (=अन्ययानमनसिकारमल) का अतिक्रम करता है।

चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ भूमियों में अधिप्रज्ञ शिक्षा होती है।

चतुर्थ भूमि प्रभाकरी है। इसमें बोधिपक्ष संगृहीत प्रज्ञा की भावना होती है। योगी बोधिपक्ष में विहार करता हुआ भी बोधिपक्षों की परिणामना संसार में करता है। इस भूमि में समाधि-बल से अप्रमाण धर्मों का पर्येषण होने से महान् धर्मावभास होता है। इसीलिए इसे प्रभाकरी कहते हैं।

पाँचवीं भूमि अर्चिष्मती है। इसमें बोधपक्षात्मिका प्रज्ञा का बाहुल्य होता है। इस प्रज्ञा की पाँचवीं और छठी भूमियों में दो गोचर होते हैं :–धर्मतत्त्व और दुःखादिसत्यचतुष्टय। पाँचवीं भूमि में योगी चार आर्यसत्यों में विहार करता है, और सत्त्वों के परिपाक के लिए नाना शास्त्र और शिल्प का प्रणयन करता है। पाँचवीं भूमि में प्रज्ञाद्वय अर्थात् क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का दहन करने के लिए प्रत्युपस्थित होती है। अतः इस भूमि में प्रज्ञा अर्चि का काम देती है। इसी लिए यह भूमि अर्चिष्मती है।

छठी भूमि दुर्जया है। इसमें योगी प्रतीत्यसमुत्पाद का चिन्तन करता है, और अपने चित्त की रक्षा करता है। सत्त्वों के परिपाक में अभियुक्त होते हुए भी वह संक्लिष्ट नहीं होता। यह कार्य अतिदुष्कर है। इसलिए इस भूमि को दुर्जया कहते हैं।

इसके अनन्तर भावना के चार फल चार भूमियों में समाश्रित हैं। प्रथम फल अनिमित्त ससंस्कारविहार है। यह सातवीं भूमि है। इसे अभिमुखी कहते हैं, क्योंकि प्रज्ञापारमिता के आश्रय से यह निर्वाण और संसार की अप्रतिष्ठा के कारण संसार और निर्वाण के अभिमुख हैं।

आठवीं भूमि दूरंगमा है। द्वितीय फल इस पर आश्रित है। अनिमित्त अनभिसंस्कार विहार द्वितीय फल है। यह भूमि प्रयोग पर्यन्त जाति है। अतः दूरंगमा है।

नवीं भूमि अचला है। इस पर तृतीय फल आश्रित है। इसमें प्रतिसंविद्वशित्व का लाभ होता है। इसमें सत्त्वों के परिपाचन का सामर्थ्य होता है। निमित्तसंज्ञा और अनिमित्ताभोगसंज्ञा से अविचलित होने के कारण यह अचला है।

दशवीं भूमि साधुमती है। इस पर चतुर्थ फल आश्रित है। इसमें समाधि और धारणी की विशुद्धता होती है। प्रतिसंविन्मति की प्रधानता (साधुता) से यह साधुमती है।

अन्तिम बुद्धभूमि वह है, जहाँ बोधि की विशुद्धता होती है। यह धर्ममेघा है। यह समाधि और धारणी से व्याप्त है। जैसे आकाश से मेघ व्याप्त होता है, और मेघ का आश्रय होता है; वैसे ही श्रुतधर्म का वह आश्रय होता है। जो समाधि और धारणी से व्याप्त है। अतः यह धर्ममेघा कहलाती है।

इन विविध भूमियों को विहार भी कहते हैं, क्योंकि बोधिसत्त्वों की इनमें सदा सर्वत्र रति होती है। इसका कारण यह है कि वे विविध कुशल का अभिनिर्हार चाहते हैं। इन्हें भूमि कहते हैं, क्योंकि अप्रमेय सत्त्वों को अभय देने के लिए ऊर्ध्वगमन का योग होता है।

अन्त में बुद्ध-स्तोत्र है[१]।

●

१. "बौद्ध धर्म दर्शन" से साभार संगृहीत—स०।

महायानसूत्रालङ्कारान्तःपाति

बुद्धस्तोत्रम्

१. अनुकम्पकसत्त्वेषु संयोगविगमाशय !
अवियोगाशय सौख्यहिताशय नमोऽस्तु ते ॥

२. सर्वावरणनिर्मुक्त सर्वलोकाभिभू मुने !
ज्ञानेन ज्ञेयं व्याप्तं ते मुक्तचित्त नमोऽस्तु ते ॥

३. अशेषं सर्वसत्त्वानां सर्वक्लेशविनाशक !
क्लेशप्रहारक क्लिष्टसानुक्रोश नमोऽस्तु ते ॥

४. अनाभोग निरासङ्ग अव्याघात समाहित !
सदैव सर्वप्रश्नानां विसर्जक नमोऽस्तु ते ॥

५. आश्रयेऽथाश्रिते देश्ये वाक्ये ज्ञाने च देशिके !
अव्याहतमते नित्यं सुदेशिक नमोऽस्तु ते ॥

६. उपेत्य वचनैस्तेषां चरित्रज्ञागतौ गतौ ।
निःसारे चैव सत्त्वानां स्ववाद नमोऽस्तु ते ॥

७. सत्पौरुष्यं प्रपद्यन्ते त्वां दृष्ट्वा सर्वदेहिनः ।
दृष्टमात्रात् प्रसादस्य विधायक नमोऽस्तु ते ॥

८. आदान-स्थानसन्त्याग-निर्माणपरिणामने ।
समाधि-ज्ञानवशितामनुप्राप्त नमोऽस्तु ते ॥

९. उपाये शरणे शुद्धौ सत्त्वानां विप्रवादने ।
महायाने च निर्माणे मारभञ्ज नमोऽस्तु ते ॥

१०. ज्ञानप्रहाणनिर्याणविघ्नकारकदेशिक !
स्वपरार्थेऽन्यतीर्थ्यानां निराधृष्य नमोऽस्तु ते ॥

११. निगृह्यवक्तः पर्षत्सु द्वयसंक्लेशवर्जित !
निरारक्ष असम्मोष गणकर्ष नमोऽस्तु ते ॥

१२. चारे विहारे सर्वत्र नास्त्यसर्वज्ञचेष्टितम् ।
सर्वदा तव सर्वज्ञ भूतार्थिक नमोऽस्तु ते ॥

१३. सर्वसत्त्वार्थकृत्येषु कालं त्वं नातिवर्तसे ।
अबन्ध्यकृत्य सततमसम्मोष नमोऽस्तु ते ॥

१४. सर्वलोकमहोरात्रं षट्कृत्वः प्रत्यवेक्षसे ।
महाकरुणया युक्त हिताशय नमोऽस्तु ते ॥

१५. चारेणाधिगमेनापि ज्ञानेनापि च कर्मणा ।
सर्वश्रावकप्रत्येकबुद्धोत्तम नमोऽस्तु ते ॥

१६. त्रिभिः कायैर्महाबोधिं सर्वाकारामुपागत !
सर्वत्र सर्वसत्त्वानां कांक्षाच्छिद नमोऽस्तु ते ॥

१७. निरवग्रह निर्दोष निष्कालुष्यानवस्थित !
आनिक्ष्य सर्वधर्मेषु निष्प्रपञ्च नमोऽस्तु ते ॥

१८. निष्पन्नपरमार्थोऽसि सर्वभूमिविनिःसृतः ।
सर्वसत्त्वाग्रतां प्राप्तः सर्वसत्त्वविमोचकः ॥

१९. अक्षयैरसमैर्युक्तो गुणैर्लोकेषु दृश्यते ।
मण्डलेष्वप्यदृश्यश्च सर्वथा देवमानुषैः ॥

●

महायानसूत्रालङ्कारस्य

विषय-क्रमः

●

सूत्रालङ्कारग्रन्थेऽस्मिन्नार्यासङ्गेन धीमता ।
व्याख्यातं यद् यथा तेन, क्रमस्तस्य विलिख्यते ॥

१९. गुणाधिकारः १५५–१६८

२०-२१. चर्याप्रतिष्ठाधिकारः १७०–१८२

●

शोधनपत्रम्

शोध्य मुद्रणदोषाः करुणासिक्तैर्गुणज्ञविद्वद्भिः ।
जाता ये मतिमान्द्याच्छैघ्र्याच्चक्षुर्विघाताच्च ॥

—सम्पादकः

अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः	पृष्ठे	पंक्तौ
धातुप्रभेदोः	धातुप्रभेदः	१०	१२
महामुवर्णशोत्रं	महासुवर्णगोत्रं	१२	१
०यात्रामिवः	०यात्रामिव	१८	१५
विनीतिरर्थे०	विनीतिरर्थे०	२१	१
परार्थपतिपत्तिः	परार्थप्रतिपत्तिः	२१	९
प्रतिप्रत्ति-	प्रतिपत्ति-	२१	२६
दुःखम्याप्र०	दुःखस्याप्र०	२४	१
मायोपमाम्	मायोपमान्	२६	२६
उत्तमनिर्माणं	उत्तमनिर्माणं	२७	१५
प्रशमपाक०	प्रशमपरिपाक०	३०	३
परेप्वदेयं	परेष्वदेयं	३२	२०
०दीर्घकाला०	०दीर्घकाला०	३३	१४
कुशलचिसन्नि०	कुशलचित्तसन्नि०	३३	१६
अनैयै०	अमेयै०	३५	४
कश्चिघर्मो०	कश्चिद् धर्मो०	३५	२२
इवाम्युदोक्षते	इवाम्युदोक्षते	३७	१२
समाविशिष्टा	समा विशिष्टा	३७	१८
सदामतं	सदा मतं	३७	२७
पौर्वापर्याविशिष्टा	पौर्वापर्याद् विशिष्टा	३८	२५

अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः	पृष्ठे	पंक्तौ
सवदेहिनः	सर्वदेहिनः	४१	८
लोकघातौ	लोकधातौ	४१	२१
चक्र	चक्रं	४३	१५
सस्यानां	सत्त्वानां	४४	४
०विशुद्धोऽय	०विशुद्धोऽयं	४५	५
स्वभाविको	स्वाभाविको	४५	११
अप्रतिष्ठशमाविष्टं	अप्रतिष्ठसमाविष्टं	४७	४
सर्वकालानुग्रं	सर्वकालानुगं	४७	८
कर्मप्ररूया	कूर्मप्ररूया	५१	२२
मनुष्यभूता	मनुष्यभूतां	५२	४
मनसिकारपर्पेष्टौ	मनसिकारपर्येष्टौ	५५	१७
०प्रातिपक्षिमन०	०प्रातिपक्षिकमनः०	५६	२५
विष्टकारभावनः	विष्टाकारभावनः	५७	३
कश्चिनिर्देशः	कश्चिन्निर्देशः	५७	६
०पारगृहीत	परिगृहीतं	५८	१३
भावभावयो०	भावाभावयो०	५९	२३
क्ष्टिो	क्लिष्टो	६२	१३
चित्राकार	चित्राकारं	६२	१५
आर्यगात्रे	आर्यगोत्रे	६४	११
ज्ञानवभात्शिता	ज्ञानवशिता	६५	२
घर्मस्या०	धर्मस्या०	६९	२७
साधतरणं	साधारणं	७५	१७
०नन्दनीयानऽनु०	०नन्दनीयाऽननु०	७७	२६
संक्लेश निर्देश	संक्लेशनिर्देशे	८४	९
युगनद्धमस्कारः	युगनद्धमनस्कारः	८८	२७
ग्राह्यविक्षप०	ग्राह्यविक्षेपः	९०	१२

अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः	पृष्ठे	पङ्क्तौ
भवत्यसो	भवत्यसौ	९०	१२
ग्राहकविक्षपः	ग्राहकविक्षेपः	९०	१३
०गह्वरा न्निकृष्य	०गह्वरान्निष्कृष्य	९३	२८
०स्तत्क्रमेणः	०स्तत्क्रमेण	९८	२५
त्मृति०	स्मृति०	१०३	२५
शीलनैव	शीलेनैव	१०५	२९
सत्वार्थक्रिया-	सत्त्वार्थक्रिया-	१०६	१
०दानस्थापाय०	०दानस्यापाय०	१०९	४
दुखितः	दुःखितः	१०९	८
स्यात	स्यात्	११०	२
घमंतो	घर्मतो	११२	२५
सवंस्व०	सर्वस्व०	११२	२९
एताम्ध्यां	एताभ्यां	१२२	२५
सर्वास्तिपरि०	सर्वास्तित्वपरि०	१२५	२६
संस्कार	संस्कारः	१४४	१४
०मनिष्ट	०मनिष्टं	१५०	९
०साधर्म्वेणै०	साधर्म्येणै०	१५६	२४
विनयग्ति	विनयन्ति	१६०	६

●
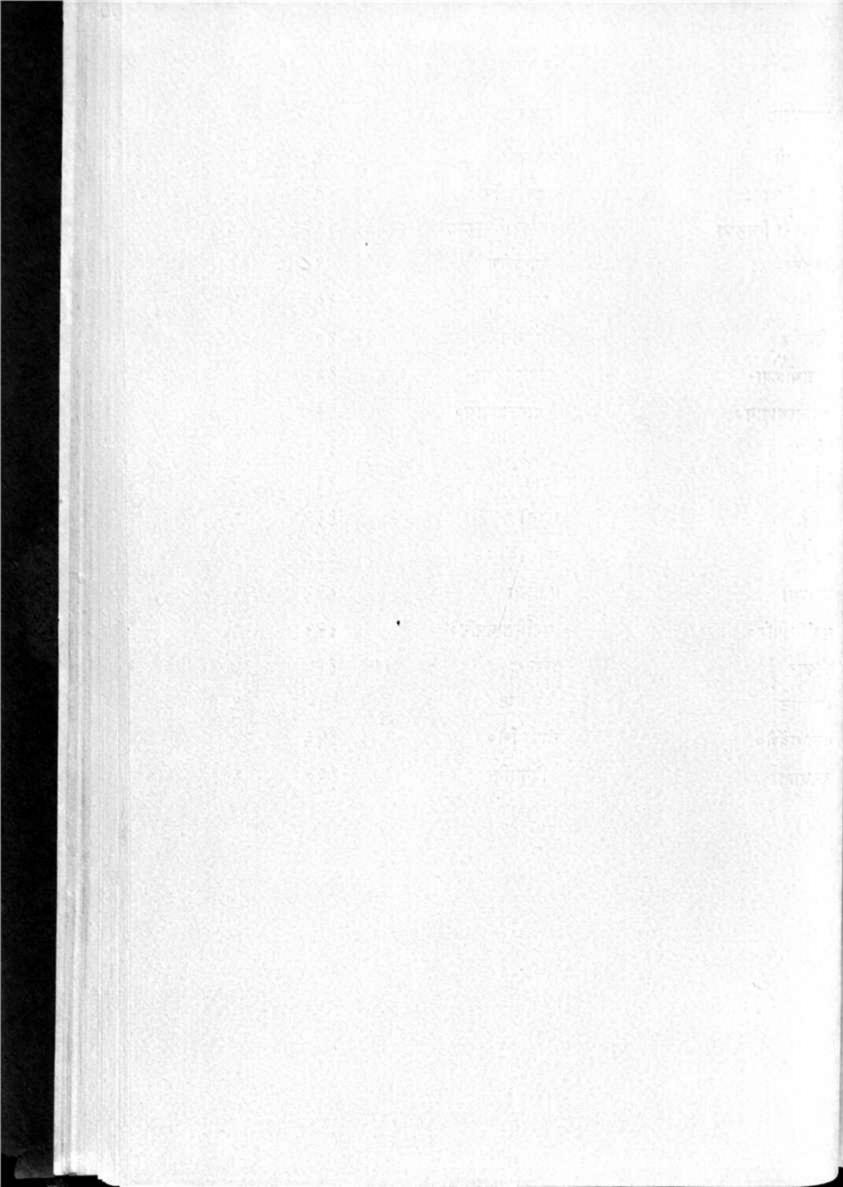
महायानसूत्रालङ्कारः

महायानसूत्रालंकारे

प्रथमो महायानसिद्ध्यधिकारः [SL 1]

●

अर्थज्ञोऽर्थविभावनां प्रकुरुते वाचा पदैश्चामलै-
र्दुःखस्योत्तरणाय दुःखितजने [1]कारुण्यतस्तन्मयः।
धर्मस्योत्तमयानदेशितविधेः सत्त्वेषु तद्गामिषु
श्लिष्टामर्थगतिं निरुत्तरगतां पञ्चात्मिकां दर्शयन् ॥ १ ॥

अर्थज्ञोऽर्थविभावनां प्रकुरुते इत्यादि। उपदेशमारभ्य[1] कोऽलंकरोति? अर्थज्ञः। कमलंकारमलंकरोति? अर्थविभावनां कुरुते। केन? वाचा पदैश्चामलैः। अमलया वाचेति पौर्वापर्यादिना[2]। अमलैः पदैरिति युक्तैः सहितैरिति विस्तरः। न हि विना वाचा पदव्यञ्जनैरर्थो विभावयितुं शक्यत इति। कस्मै? दुःखस्योत्तरणाय। दुःखितजने कारुण्यतस्तन्मयः। दुःखितजने यत्कारुण्यं तस्मात् कारुण्यतस्तन्मय इति कारुण्यमयः। कस्यालंकारं करोति? धर्मस्योत्तमयानदेशितविधेः। उत्तमयानस्य देशितो विधिर्यस्मिन् धर्मे तस्य धर्मस्य। कस्मिन्नलंकरोति? सत्त्वेषु तद्गामिषु। निमित्तसप्तम्येषा। [3]महायानगामिसत्त्वनिमित्तमित्यर्थः। कतिविधमलंकारं करोति? पञ्चविधम्। श्लिष्टामर्थगतिं निरुत्तरगतां पञ्चात्मिकां दर्शयन्। श्लिष्टामिति युक्ताम्। निरुत्तरगतामिति अनुत्तरयानगताम्[4] ॥ १ ॥ [SL 2]

तामिदानीं पञ्चात्मिकामर्थगतिं द्वितीयेन श्लोकेन दर्शयति—

घटितमिव सुवर्णं वारिजं वा विबुद्धं
सुकृतमिव सुभोज्यं भुज्यमानं क्षुधार्तैः।
विदित इव सुलेखो रत्नपेटेव मुक्ता
विवृत इह स धर्मः प्रीतिमग्र्यां दधाति ॥ २ ॥

अनेन श्लोकेन पञ्चभिर्दृष्टान्तैः स हि धर्मः पञ्चविधमर्थमधिकृत्य देशितः साध्यं व्युत्पाद्यं चिन्त्यमचिन्त्यं परिनिष्पन्नं चाधिगमार्थं प्रत्यात्मवेदनीयं

---

१. कायदेश०—पाठान्तरम्।
२. वाचेति पौर्यादिना–मि०।
३. महायानेति सि० पुस्तके नास्ति।
४. ०त्तरज्ञान–मि०।

बोधिपक्षस्वभावम्। सोऽनेन सूत्रालंकारेण विवृतः प्रीतिमग्र्यां दधाति। यथाक्रमं घटितसुवर्णादिवत् ॥ २ ॥

यदा स धर्मः प्रकृत्यैव गुणयुक्तः, कथं सोऽलंक्रियते ? इत्यस्य चोद्यस्य परिहारार्थं तृतीयः श्लोकः—

यथा बिम्बं भूषाप्रकृतिगुणवद् दर्पणगतम्,
विशिष्टं प्रामोद्यं जनयति नृणां दर्शनवशात्।
तथा धर्मः सूक्तप्रकृतिगुणयुक्तोऽपि सततम्,
विभक्तार्थस्तुष्टिं जनयति विशिष्टामिह सताम् ॥ ३ ॥

अनेन किं दर्शयति ? यथा बिम्बं भूषया प्रकृत्यैव गुणवत् आदर्शगतं दर्शनवशाद्विशिष्टं प्रामोद्यं जनयत्येवं स धर्मः सुभाषितैः प्रकृत्यैव गुणयुक्तोऽपि सततं विभक्तार्थस्तुष्टिं विशिष्टां जनयति। बुद्धिमतामतस्तुष्टिविशेषोत्पादनादलंकृत इव भवतीति ॥ ३ ॥

अतः परं त्रिभिः श्लोकैस्तस्मिन् धर्मे त्रिविधमनुशंसं दर्शयत्यादरोत्पादनार्थम्—

आघ्रायमाणकटुकं स्वादुरसं यथौषधं तद्वत्।
धर्मे[1] द्वयव्यवस्थे[1] व्यञ्जनोऽर्थोऽर्थतश्च[2] ज्ञेयः ॥ १ ॥
राजेव दुराराधो धर्मोऽयं विपुलगाढगम्भीरः।
आराधितश्च तद्वद् वरगुणधननायको भवति ॥ २ ॥
रत्नं जात्यमनर्घं[3] यथाऽपरीक्षकजनं न तोषयति।
धर्मस्तथायमबुधं विपर्ययात् तोषयति तद्वत् ॥ ३ ॥

त्रिविधोऽनुशंसः। आवरणप्रहाणहेतुत्वमौषधोपमत्वेन। द्वयव्यवस्थ इति [SL 3] व्यञ्जनार्थव्यवस्थः। विभुत्वहेतुत्वमभिज्ञादिवैशेषिकगुणैश्वर्यदानानाद् राजोपमत्वेन। आर्यजनोपभोगहेतुत्वं[4] च अनर्घजात्यरत्नोपमत्वेन[5]। परीक्षकजन आर्यजनो वेदितव्यः ॥१-३॥

नैवेदं महायानं बुद्धवचनम्, कुतस्तस्यायमनुशंसो भविष्यति ? इत्यत्र विप्रतिपन्नाः, तस्य बुद्धवचनत्वप्रसाधनार्थं कारणविभाज्यमारभ्य श्लोकः—

आदावव्याकरणात् समप्रवृत्तेरगोचरात् सिद्धेः।
भावाभावेऽभावात् प्रतिपक्षत्वाद् रुतान्यत्वात् ॥ १ ॥

आदावव्याकरणात्। यद्येतत् सद्धर्मान्तरायि पश्चात् केनाप्युत्पादितम्,

---

१-१. धर्मद्वयव्यवस्था—सि०। २. ०ऽर्थो न च—सि०। ३. जात्यमनर्थं—सि०। ४. आर्यधनोप०—सि०। ५. अनर्थ०—सि०।

कस्मादादौ भगवता न व्याकृतमनागतभङ्गवत्[1] ? समप्रवृत्तेः । समकालं च श्रावकयानेन महायानस्य प्रवृत्तिरुपलभ्यते न पश्चादिति कथमस्याबुद्धवचनत्वं विज्ञायते । अगोचरात् । नायमेवमुदारो गम्भीरश्च धर्मस्तार्किकाणां गोचरः, तीर्थिकशास्त्रेषु तत्प्रकारानुपलम्भादिति । नायमन्यैर्भाषितो युज्यते । उच्यमानेऽपि तदनधिमुक्तेः । सिद्धेः । अथान्येनाभिसम्बुध्य भाषितः । सिद्धमस्य बुद्धवचनत्वम् । स एव बुद्धो योऽभिसम्बुध्य एवं भाषते । भावाभावेऽभावात् । यदि महायानं किञ्चिदस्ति, तस्य भावे[1] सिद्धमिदं बुद्धवचनम्, अतोऽन्यस्य महायानस्याभावात् । अथ नास्ति, तस्याभावे श्रावकयानस्याप्यभावात् । श्रावकयानं बुद्धवचनं न महायानमिति न युज्यते, विना बुद्धयानेन बुद्धानामनुत्पादात् । प्रतिपक्षत्वात् । भाव्यमानं च महायानं सर्वनिर्विकल्पज्ञानाश्रयत्वेन क्लेशानां प्रतिपक्षो भवति, तस्माद् बुद्धवचनम् । रुतान्यत्वात् । न चास्य यथारुतमर्थः, तस्मान्न यथारुतार्थानुसारेणेदमबुद्धवचनं वेदितव्यम् ॥ १ ॥

यदुक्तमादावव्याकरणादिति । अनाभोगादेतदनागतं भगवता न व्याकृतमिति कस्यचित् स्याद्, अत उपेक्षाया अयोगे श्लोकः—

प्रत्यक्षचक्षुषो बुद्धाः शासनस्य च रक्षकाः ।
अध्वन्यनावृतज्ञाना उपेक्षातो न युज्यते ॥ १ ॥

अनेन किं दर्शयति ? त्रिभिः कारणैरनागतस्य महतः [SL. 4] शासनोपद्रवस्योपेक्षा न युज्यते। बुद्धानामयत्नतो ज्ञानप्रवृत्तेः प्रत्यक्षचक्षुष्कतया शासनरक्षायाश्च यत्नवत्त्वात् । अनागतज्ञानसामर्थ्याच्च सर्वकालाव्याहतज्ञानतयेति ॥ १ ॥

यदुक्तम् भावाभावेऽभावादिति । "एतदेव श्रावकयानं महायानम्, एतेनैव महाबोधिप्राप्तिः" इति कस्यचित्स्यात्, अतः श्रावकयानस्य महायानत्वायोगे श्लोकः—

वैकल्यतो विरोधादनुपायत्वात् तथाप्यनुपदेशात् ।
न श्रावकयानमिदं भवति महायानधर्माख्यम् ॥ १ ॥

वैकल्यात् परार्थोपदेशस्य । न हि श्रावकयाने कश्चित् परार्थ उपदिष्टः, श्रावकाणामात्मनो निर्विद्विरागविमुक्तिमात्रोपायोपदेशात् । न च स्वार्थ एव परेषूपदिश्यमानः परार्थो भवितुमर्हति । विरोधात् । स्वार्थे हि परो नियुज्यमानः स्वार्थ एव प्रयुज्यते, स आत्मन एव परिनिर्वाणार्थप्रयुक्तोऽनुत्तरां सम्यक्संबोधिमभिसम्भोत्स्यत इति विरुद्धमेतत् । न च श्रावकयानेनैव चिरकालं बोधौ घटमानो बुद्धो भवितुमर्हति । अनुपायत्वात् । अनुपायो हि

१. भाववत्–सि० ।

श्रावकयानं बुद्धत्वस्य, न चानुपायेन चिरमपि प्रयुज्यमानः प्रार्थितमर्थं प्राप्नोति। शृङ्गादिव दुग्धं न भस्त्रया। अथान्यथाप्यत्रोपदिष्टं यथा बोधिसत्त्वेन प्रयोक्तव्यम् । तथाप्यनुपदेशान्न श्रावकयानमेव महायानं भवितुमर्हति । न हि स तादृश उपदेश एतस्मिन्नुपलभ्यते ॥ १ ॥

विरुद्धमेव चान्योन्यं श्रावकयानं महायानं चेत्यन्योन्यविरोधे श्लोकः—

आशयस्योपदेशस्य प्रयोगस्य विरोधतः ।
उपस्तम्भस्य कालस्य यद् हीनं हीनमेव तत् ॥ १ ॥

कथं विरुद्धम् ? पञ्चभिर्विरोधैः आशयोपदेशप्रयोगोपस्तम्भकालविरोधैः । श्रावकयाने ह्यात्मपरिनिर्वाणायैवाशयः, तदर्थमेवोपदेशः, तदर्थमेव प्रयोगः, परीत्तश्च पुण्यज्ञानसम्भारसंगृहीत उपस्तम्भः, कालेन चाल्पेन तदर्थप्राप्तिर्यावत्त्रिभिरपि जन्मभिः । महायाने तु सर्वं विपर्ययेण । तस्मादन्योन्यविरोधाद् यद् यानं हीनं हीनमेव तत् । न तन्महायानं भवितुमर्हति ॥ १ ॥

बुद्धवचनस्येदं लक्षणम् "यत्सूत्रेऽवतरति, विनये सन्दृश्यते, धर्मतां च न [SL 5] विलोमयति" । न चैवं महायानम्, सर्वधर्मनिःस्वभावत्वोपदेशात् । तस्मान्न बुद्धवचनमिति कस्यचित् स्याद्, अतो लक्षणाविरोधे श्लोकः—

स्वकेऽवतारात् स्वस्यैव विनये दर्शनादपि ।
औदार्यादपि गाम्भीर्यादविरुद्धैव धर्मता ॥१॥

अनेन श्लोकेन किं दर्शयति ? अवतरत्येवेदं स्वस्मिन् महायानसूत्रे स्वस्य च क्लेशस्य विनयः[1] सन्दृश्यते। यो महायाने बोधिसत्त्वानां क्लेशः उक्तः । विकल्पक्लेशा हि बोधिसत्त्वाः। औदार्यगाम्भीर्यलक्षणत्वाच्च न धर्मतां विलोमयति । अथैव हि धर्मता महाबोधिप्राप्तये । तस्मान्नास्ति लक्षणविरोधः ॥ १ ॥

अगोचरादित्युक्तम्, अतस्तर्कगोचरत्वायोगे श्लोकः—

निश्रितोऽनियतोऽव्यापी सांवृतः खेदवानपि ।
बालाश्रयो मतस्तर्कस्तस्यातो विषयो न तत् ॥ १ ॥

अदृष्टसत्याश्रयो हि तर्कः कश्चिदागमनिश्रितो भवति। अनियतश्च भवति, कालान्तरेणान्यथाप्रत्यवगमात्[1] । अव्यापी च, न सर्वज्ञेयविषयः । संवृतिसत्यविषयश्च, न परमार्थविषयः। खेदवांश्च, प्रतिभानपर्यादानात्[2] । महायानं तु न निश्रितं यावदखेदवतः शतसाहस्रिकाद्यनेकसूत्रोपदेशात् । अतो न तर्कस्य तद्विषयः ॥ १ ॥

---

१. विनये—सि० ।

अनुपायत्वात् श्रावकयाने न बुद्धत्वं प्राप्तमित्युक्तम्, अथ महायानं कथमुपायो युक्तः ?—इत्युपायत्वयोगे श्लोकः—

औदार्यादपि गम्भीर्यात् परिपाकोऽविकल्पना।
देशनाऽतो द्वयस्यास्मिन् स चोपायो निरुत्तरे ॥ १ ॥

अनेन श्लोकेन किं दर्शयति ? प्रभावौदार्यदेशनया सत्त्वानां परिपाकः, प्रभावाधिमुक्तितो घटनात्। गाम्भीर्यदेशनया अविकल्पना, अत एतस्य द्वयस्यास्मिन् महायाने देशना। स चोपायो निरुत्तरे ज्ञाने, ताभ्यां यथाक्रमं सत्त्वानां परिपाचनादात्मनश्च बुद्धधर्मपरिपाकादिति ॥ १ ॥ (SL 6)

ये पुनरस्मात् त्रसन्ति, तदर्थमस्थानत्रासादीनवे कारणत्वेन श्लोकः—

तदस्थानत्रासो भवति जगतां दाहकरणो
महाऽपुण्यस्कन्धप्रसवकरणाद् दीर्घसमयम्।
अगोत्रोऽसन्मित्रोऽकृतमतिरपूर्वाऽचितशुभ-
स्त्रसत्यस्मिन् धर्मे पतति महतोऽर्थाद् गत इह ॥ १ ॥

त्रासास्थाने त्रासस्तदस्थानत्रासः। दाहकरणो भवत्यपायेषु। किं कारणम् ? महतः अपुण्यस्कन्धप्रसवस्य करणात्। कियन्तं कालमिति ? दीर्घसमयम्। एवं पश्चादादीनवः। येन च कारणेन यावन्तं च कालं तत् सन्दर्शयति। किं पुनः कारणे तु सतीति ? चतुर्विधं त्रासकारणं दशयति—गोत्रं चास्य न भवति सन्मित्रं वा, अव्युत्पन्नमतिर्वा भवति, महायानधर्मतायां पूर्वं वानुपचितशुभो भवति। पतति महतोऽर्थादिति। महाबोधिसम्भारार्थात्। अप्राप्तपरिहाणितोऽपरमादीनवं दर्शयति ॥ १ ॥

त्रासकारणमुक्तम्, अत्रासकारणं वक्तव्यमित्यत्रासकारणत्वे श्लोकः—

तदन्यान्याभावात्[1] परमगहनत्वादनुगमात्,
विचित्रस्याख्यानाद् ध्रुवकथनयोगाद् बहुमुखात्।
यथाख्यानं नार्थाद् भगवति च भावातिगहनात्
न धर्मेऽस्मिंस्त्रासो भवति विदुषां योनिविचयात् ॥ १ ॥

तदन्यान्याभावादिति[1]। ततोऽन्यस्य महायानस्याभावात्। अथ श्रावकयानमेव महायानं स्यादन्यस्य श्रावकस्य प्रत्येकबुद्धस्य वाऽभावः स्यात् ? सर्व एव हि बुद्धा भवेयुः। परमगहनत्वाच्च। सर्वज्ञज्ञानमार्गस्यानुगमाच्च तुल्यकालप्रवृत्त्या। विचित्रस्याख्यानात्। विचित्रश्चात्र सम्भारमार्ग आख्यायते, न केवलं शून्यतैव। तस्माद् आभिप्रायिकेणानेन भवितव्यमिति। ध्रुवकथनयोगाद्, बहुमुखात्। अभीक्ष्णं चात्र शून्यता कथ्यते बहुभिश्च

१. तदन्यान्यस्याभावात्–सि०।

पर्यायैस्तेषु तेषु सूत्रान्तेषु। तस्माद्भवितव्यमत्र महता प्रयोजनेन। अन्यथा हि सकृत्प्रतिषेधमात्रकृतमभविष्यदिति। यथाख्यानं नार्थात्। न चास्य यथारुतमर्थोऽस्मादपि त्रासो न युक्तः। भगवति च भावातिगहनाद्। अतिगहनश्च बुद्धानां भावो दुराज्ञेयः, तस्मान्नास्माभिस्तदज्ञानात् त्रसितव्यमिति। एवं योनिशः [SL 7] प्रविचयाद्विदुषां त्रासो न भवति ॥ १ ॥

दूरानुप्रविष्टज्ञानगोचरत्वे श्लोकः—

श्रुतं निश्रित्यादौ प्रभवति मनस्कार इह यो
मनस्काराज्ज्ञानं प्रभवति च तत्त्वार्थविषयम्।
ततो धर्मप्राप्तिः प्रभवति च तस्मिन् मतिरतो
यदा प्रत्यात्मं सा कथमसति तस्मिन् व्यवसितिः ॥ १ ॥

श्रुतं निश्रित्यादौ मनस्कारः प्रभवति यो योनिश इत्यर्थः। योनिशो मनस्कारात् तत्त्वार्थविषयकं ज्ञानं प्रभवति। लोकोत्तरा सम्यग्दृष्टिः, ततस्तत्फलस्य धर्मस्य प्राप्तिः, ततस्तस्मिन् प्राप्ते मतिर्विमुक्तिज्ञानं प्रादुर्भवति। एवं यदा प्रत्यात्मं सा मतिर्भवति, कथमसति तस्मिन्नेषा व्यवसितिर्निश्चयो भवति—नैवेदं बुद्धवचनमिति ॥ १ ॥

अत्रासपदस्थानत्वे श्लोकः—

अहं न बोद्धा न गभीरबोद्धा बुद्धौ गभीरं किमतर्कगम्यम्!
कस्माद् गभीरार्थविदां च मोक्ष इत्येतदुत्त्रासपदं न युक्तम् ॥ १ ॥

यदि तावदहमस्य न बोद्धेत्युत्त्रासपदम्, तन्न युक्तम्। अथ बुद्धोऽपि गम्भीरस्य[१] पदार्थस्य न बोद्धा, स किं गभीरं देशयिष्यतीत्युत्त्रासपदम्, तदयुक्तम्। अथ गभीरं[२] कस्मादतर्कगम्यमित्युत्त्रासपदम्, तन्न युक्तम्। अथ कस्माद् गभीरार्थविदामेव मोक्षो न तार्किकाणामित्युत्त्रासपदम्, तन्न युक्तम् ॥ १ ॥

अनधिमुक्तित एव तत्सिद्धौ श्लोकः—

हीनाधिमुक्तेः सुनिहीनधातोर्हीनैः सहायैः परिवारितस्य।
औदार्यगाम्भीर्यसुदेशितेऽस्मिन् धर्मेऽधिमुक्तिर्यदि नास्ति सिद्धम् ॥ १ ॥

यस्य हीना चाधिमुक्तिः[३], ततश्च हीन एव धातुः समुदागत आलयविज्ञानभावना। हीनैरेव सहायैः समानाधिमुक्तिधातुकैर्यः परिवारितस्तस्यास्मिन्नौदार्यगाम्भीर्यसुदेशिते महायानधर्मे यद्यधिमुक्तिर्नास्ति, अत एव सिद्धमुत्कृष्टमिदं महायानमिति।

---

१. गम्भीरस्य–सि०। २. गम्भीरं–सि०। ३. चाधिक०–सि०।

अश्रुतसूत्रान्तप्रतिक्षेपायोगे श्लोकः—

श्रुतानुसारेण हि बुद्धिमत्तां लब्ध्वा श्रुते यः प्रकरोत्यवज्ञाम् ।
श्रुते विचित्रे सति चाप्रमेये शिष्टे कुतो निश्चयमेति मूढः ।। १ ।।

कामं तावदधिमुक्तिर्न स्यादश्रुतानां तु सूत्रान्तानामविशेषेण प्रतिक्षेपो न युक्तः । श्रुतानुसारेणैव हि बुद्धिमत्त्वं लब्ध्वा यः श्रुत एवावज्ञां [SL 8] करोति मूढः स सत्येवावशिष्टे श्रुते विचित्रे चाप्रमेये कुतः कारणान्निश्चयमेति–न तद् बुद्धवचनमिति । न हि तस्य श्रुतादन्यद् बलमस्ति । तस्मादश्रुत्वा प्रतिक्षेपो न युक्तः ।। १ ।।

यदपि च श्रुतं तद्योनिशो मनसि कर्तव्यम्, नायोनिशः–इत्ययोनिशोमनसिकारादीनवे श्लोकः—

यथारुतेऽर्थे परिकल्प्यमाने स्वप्रत्ययो हानिमुपैति बुद्धेः ।
स्वाख्याततां च क्षिपति क्षतिं च प्राप्नोति धर्मे प्रतिघातमेव[१] ।। १ ।।

स्वप्रत्यय इति । स्वयंदृष्टिपरामर्शकः, न विज्ञानामन्तिकादर्थपर्येषी । हानिमुपैति बुद्धेरिति । यथारुतज्ञानादप्राप्तिपरिहानितः[२]। धर्मस्य च स्वाख्याततां प्रतिक्षिपति तन्निदानं चापुण्यप्रभावात् क्षतिं प्राप्नोति । धर्मे च प्रतिघातमावरणं च धर्मव्यसनसंवर्तनीयं कर्मेत्ययमत्रादीनवः ।। १ ।।

अयथारुतं[३] वाऽर्थमविजानतोऽपि प्रतिघातो न युक्त इति प्रतिघातायोगे श्लोकः—

मनः प्रदोषः प्रकृतिप्रदुष्टो ह्ययुक्तरूपेऽपि[४] न[४] युक्तरूपः ।
प्रागेव सन्देहगतस्य धर्मे तस्मादुपेक्षैव वरं ह्यदोषा ।। १ ।।

प्रकृतिप्रदुष्ट इति । प्रकृतिसावद्यः । तस्मादुपेक्षैव वरम् । कस्मात् ? सा ह्यदोषा । प्रतिघातस्तु सदोषः ।। १ ।।

।। इति महायानसूत्रालंकारे महायानसिद्धयधिकारः प्रथमः ।।

---

१. प्रतिघावतीव–सि० ।
२. यथाभूत०–सि० ।
३. अयथावतश्च–सि० ।
४. ४. सि० पुस्तके नास्ति ।

२

द्वितीयः शरणगमनाधिकारः

शरणगमनविशेषसंग्रहश्लोकः—

रत्नानि यो हि शरणप्रगतोऽत्र याने
ज्ञेयः स एव परमः शरणं[1] गतानाम् ।
सर्वत्रगाभ्युपगमाधिगमाभिभूति
भेदैश्चतुर्विधमयार्थविशेषणेन ॥ १ ॥

स एव परमः शरणं गतानामिति । केन कारणेन ? चतुर्विधस्वभावार्थ-विशेषणेन । चतुर्विधोऽर्थः सर्वत्रग-अभ्युपगम-अधिगम-अभिभूतिभेदतो वेदितव्यः । सर्वत्रगार्थः, अभ्युपगमार्थः, अधिगमार्थः, अभिभवार्थः । ते [SL 9] पुनरुत्तरत्र निर्देक्ष्यन्ते ॥ १ ॥

तथाप्यत्र शरणप्रगतानां बहुदुष्करकार्यत्वात् केचिन्नोत्सहन्ते । श्लोकः—

यस्मादादौ दुष्कर एष व्यवसायो
दुःसाधोऽसौ नैकसहस्रै रपि कल्पैः ।
सिद्धो यस्मात् सत्त्वहिताधानमहार्थ-
स्तस्मादग्रे यान इहाग्रशरणार्थः ॥ १ ॥

एतेन तस्य शरणगमनव्यवसायस्य प्रणिधानप्रतिपत्तिविशेषाभ्यां यशो-हेतुत्वं दर्शयति । फलप्राप्तिविशेषेण महार्थत्वम् ।

पूर्वाधिकृते सर्वत्रगार्थे श्लोकः—

सर्वान् सत्त्वांस्तारयितुं यः प्रतिपन्नो
याने ज्ञाने सर्वगते कौशल्ययुक्तः ।
यो निर्वाणे संसृतिशान्त्येकरसोऽसौ[2]
ज्ञेयो धीमानेष हि सर्वत्रग एवम् ॥१॥

एतेन चतुर्विधं [सर्वत्रगार्थं……[3] असांकेतिकं धर्मताप्रातिलम्भिकं चेति प्रभेदलक्षणा प्रवृत्तिरौदारिकसूक्ष्मप्रभेदेन ॥ १ ॥

शरणप्रतिपत्तिविशेषणे श्लोकः—

शरणगतिमिमां गतो महार्थां गुणगणवृद्धिमुपैति सोऽप्रमेयाम् ।
स्फुरति जगदिदं कृपाशयेन प्रथयति चाप्रतिमं महार्थधर्मम्[4] ॥ १ ॥

---

१. शरण०—सि० ।
२. संसरणेऽप्येकरसोऽसौ—इत्यपि क्वचित्पाठः ।
३. एतन्मध्यान्तः पातीपाठो भ्रष्टः ।
४. महाधर्मम्—सि० ।

अत्र शरणगमनस्थां महार्थतां स्वपरार्थप्रतिपत्तिभ्यां [SL 10] दर्शयति। स्वार्थप्रतिपत्तिः पुनर्बहुप्रकाराऽप्रमेयगुणवृद्धया। अप्रमेयत्वं तर्कसंख्याकालाप्रमेयतया वेदितव्यम्। न हि सा गुणवृद्धिस्तर्केण प्रमेया, न संख्यया, न कालेन; अत्यन्तिकत्वात्। परार्थप्रतिपत्तिराशयतश्च करुणास्फुरणेन, प्रयोगतश्च महायानधर्मप्रथनेन। महायानं हि महार्यदृशां धर्मः ॥ १ ॥

इति महायानसूत्रालंकारे शरणगमनाधिकारो द्वितीयः ॥

३

तृतीयो गोत्राधिकारः

गोत्रप्रभेदसंग्रहश्लोकः—

सत्त्वाग्रत्वं स्वभावश्च लिङ्गं गोत्रप्रभेदता।
आदीनवोऽनुशंसश्च द्विधौपम्यं चतुर्विधा ॥ १ ॥

—अनेन गोत्रस्यास्तित्वमग्रत्वं स्वभावो[1] लिङ्गं प्रभेद[2] आदीनवोऽनुशंसो द्विधौपम्यं च—इत्येष प्रभेदः संगृहीतः। एते च प्रभेदाः प्रत्येकं चतुर्विधाः ॥ १ ॥

१. गोत्रास्तित्वविभागे[3] श्लोकः—

धातूनामधिमुक्तेश्च प्रतिपत्तेश्च भेदतः।
फलभेदोपलब्धेश्च गोत्रास्तित्वं निरूप्यते ॥ १ ॥

नानाधातुकत्वात् सत्त्वानामपरिमाणो धातुप्रभेदोः यथोक्तमक्षराशिसूत्रे—तस्मादेवञ्जातीयकोऽपि धातुभेदः प्रत्येतव्य इति। अस्ति यानत्रये गोत्रभेदः। अधिमुक्तिभेदोऽपि सत्त्वानामुपलभ्यते। प्रथमत एव कस्यचित् क्वचिदेव यानेऽधिमुक्तिर्भवति, सोऽन्तरेण गोत्रभेदं न स्यात्। उत्पादितायामपि च प्रत्ययवशेनाधिमुक्तौ प्रतिपत्तिभेद उपलभ्यते—कश्चिन्निर्वोढा भवति, कश्चिन्नेति, सोऽन्तरेण गोत्रप्रभेदं न स्यात्। भेदश्चोपलभ्यते हीनमध्यविशिष्टा [SL 11] बोधयः, सोऽन्तरेण गोत्रभेदं न स्यात्; बीजानुरूपत्वात् फलस्य ॥

२. अग्रत्वविभागे श्लोकः—

उदग्रत्वेऽथ सर्वत्वे महार्थत्वेऽक्षयाय च।
शुभस्य तन्निमित्तत्वात् गोत्राग्रत्वं विधीयते ॥ १ ॥

अत्र गोत्रस्य चतुर्विधेन निमित्तत्वेनाग्रत्वं दर्शयति। तद्धि गोत्रं कुशलमूलानामुदग्रत्वे निमित्तम्—सर्वत्वे, महार्थत्वे, अक्षयत्वे च। न हि श्रावकाणां तथोदग्राणि कुशलमूलानि, न च सर्वाणि सन्ति, बलवैशारद्याद्यभावात्। न च महार्थानि, अपरार्थत्वात्। न चाक्षयाणि, अनुपधिशेषनिर्वाणावसानत्वात्।

---

१. स्वभावः = लक्षणम्।

२. भेदः—सि०।

३. अनेन गोत्रास्तित्व०—सि०, मि०।

३. लक्षणविभागे श्लोकः—

प्रकृत्या परिपुष्टं च आश्रयश्चाश्रितं च तत्।
सदसच्चैव विज्ञेयं गुणोत्तारणतार्थतः ॥ १ ॥

एतेन चतुर्विधं गोत्रं दर्शयति—प्रकृतिस्थं समुदानीतम् आश्रयस्वभावम्, आश्रितस्वभावं च तदेव यथाक्रमम्। तत्पुनर्हेतुभावेन सत्, फलभावेनासत्। गुणोत्तारणार्थेन गोत्रं वेदितव्यम्, गुणा उत्तरन्त्यस्मादुद्भवन्तीति कृत्वा ॥

४. लिङ्गविभागे श्लोकः—

कारुण्यमधिमुक्तिश्च क्षान्तिश्चादिप्रयोगतः।
समाचारः शुभस्यापि गोत्रे लिङ्गं निरूप्यते ॥ १ ॥

चतुर्विधं लिङ्गं बोधिसत्त्वगोत्रे—आदिप्रयोगत एव कारुण्यं सत्त्वेषु, अधिमुक्तिर्महायानधर्मे, क्षान्तिर्दुष्करचर्यायां सहिष्णुतार्थेन, समाचारश्च पारमितामयस्य कुशलस्येति ॥ १ ॥

५. प्रभेदविभागे श्लोकः—

नियतानियतं गोत्रमहार्यं हार्यमेव च।
प्रत्ययैर्गोत्रभेदोऽयं समासेन चतुर्विधः ॥ १ ॥

समासेन चतुर्विधं गोत्रम्—नियतानियतं तदेव यथाक्रमं प्रत्ययैरहार्यं हार्यं चेति ॥ १ ॥

६. आदीनवविभागे श्लोकः—

क्लेशाभ्यासः कुमित्रत्वं विघातः परतन्त्रता।
गोत्रस्यादीनवो ज्ञेयः समासेन चतुर्विधः ॥ १ ॥

बोधिसत्त्वगोत्रे समासेन चतुर्विध आदीनवो येन गोत्रस्थोऽगुणेषु प्रवर्तते—क्लेशबाहुल्यम्, अकल्याणमित्रता, उपकरणविघातः, पार- [SL 12] तन्त्र्यं च ॥ १ ॥

७. अनुशंसविभागे श्लोकः—

चिरादपायगमनमाशु मोक्षश्च तत्र च।
तनुदुःखोपसंवित्तिः सोद्वेगा सत्त्वपाचना ॥ १ ॥

चतुर्विधो बोधिसत्त्वस्य गोत्रेऽनुशंसः—चिरेणापायान् गच्छति, क्षिप्रं च तेभ्यो मुच्यते, मृदुकं च दुःखं तेषूपपन्नः प्रतिसंवेदयते, संविग्नचेतास्तदुपपन्नाँश्च सत्त्वान् करुणायमानः परिपाचयति ॥ १ ॥

८. महासुवर्णगोत्रौपम्ये श्लोकः—

सुवर्णगोत्रवत् ज्ञेयममेयमशुभताश्रयः।
ज्ञाननिर्मलतायोगप्रभावाणां च निश्रयः ॥ १ ॥

महासुवर्णगोत्रं हि चतुर्विधस्य सुवर्णस्याश्रयो भवति—प्रभूतस्य, प्रभास्वरस्य, निर्मलस्य, कर्मण्यस्य च। तत्साधर्म्येण बोधिसत्त्वगोत्रमप्रमेयकुशलमूलाश्रयः, ज्ञानाश्रयः, क्लेशनैर्मल्यप्राप्त्याश्रयः, अभिज्ञादिप्रभावाश्रयश्च। तस्मान्महासुवर्णगोत्रोपमं वेदितव्यम् ॥ १ ॥

९. महारत्नगोत्रौपम्ये श्लोकः—

सुरत्नगोत्रवज्ज्ञेयं महाबोधिनिमित्ततः।
महाज्ञानसमाध्यार्यमहासत्त्वार्थनिश्रयात् ॥ १ ॥

महारत्नगोत्रं हि चतुर्विधरत्नाश्रयो भवति—जात्यस्य, वर्णसम्पन्नस्य, संस्थानसम्पन्नस्य, प्रमाणसम्पन्नस्य च। तदुपमं बोधिसत्त्वगोत्रं वेदितव्यम्, महाबोधिनिमित्तत्वात्, महाज्ञाननिमित्तत्वात्, आर्यसमाधिनिमित्तत्वात्, चित्तस्य हि संस्थितिः = समाधिः, महासत्त्वपरिपाकनिमित्तत्वाच्च बहुसत्त्वपरिपाचनात् ॥ १ ॥

अगोत्रस्थविभागे श्लोकः—

ऐकान्तिको दुश्चरितेऽस्ति कश्चित् कश्चित् समुद्घातितशुक्लधर्मा।
अमोक्षभागीयशुभोऽस्ति कश्चिन् निहीनशुक्लोऽस्त्यपि हेतुहीनः ॥ १ ॥

अपरिनिर्वाणधर्मक एतस्मिन्नगोत्रस्थोऽभिप्रेतः। स च समासतो द्विविधः—तत्कालापरिनिर्वाणधर्मा, अत्यन्तं च। तत्कालापरिनिर्वाणधर्मा [SL 13] चतुर्विधः—दुश्चरितैकान्तिकः, समुच्छिन्नकुशलमूलः, अमोक्षभागीयकुशलमूलः, हीनकुशलमूलश्चापरिपूर्णसम्भारः। अत्यन्तपरिनिर्वाणधर्मा तु हेतुहीनः, यस्य परिनिर्वाणगोत्रमेव नास्ति ॥ १ ॥

प्रकृतिपरिपुष्टगोत्रमाहात्म्ये श्लोकः—

गाम्भीर्यौदार्यवादे परहितकरणायोदिते दीर्घधर्मे
अज्ञात्वैवाधिमुक्तिर्भवति सुविपुला सम्प्रपत्तिक्षमा च।
सम्पत्तिश्चावसाने द्वयगतपरमा यद्भवत्येव तेषां
तज्ज्ञेयं बोधिसत्त्वप्रकृतिगुणवतस्तत्प्रपुष्टाच्च गोत्रात् ॥ १ ॥

यद्गाम्भीर्योदार्यवादिनि[1] परहितक्रियार्थमुक्ते विस्तीर्णे महायानधर्मे गाम्भीर्यौदार्यार्थिम् अज्ञात्वैवाधिमुक्तिर्विपुला भवति। प्रतिपत्तौ चाखेदः[2] सम्पत्तिश्चावसाने महाबोधिर्द्वयगतायाः सम्पत्तेः परमा, तत्प्रकृत्या गुणवतः परिपुष्टस्य बोधिसत्त्वगोत्रस्य माहात्म्यं वेदितव्यम्। द्वयगता इति। द्वये—लौकिकाः, श्रावकाश्च। परमेति। विशिष्टा ॥ १ ॥

---

१. गाभीर्यो०—सि० । २. चोत्साहः—सि० ।

फलतो गोत्रविशेषणे श्लोकः—

सुविपुलगुणबोधिवृक्षवृद्धयै
घनसुखदुःखशमोपलब्धये च ।
स्वपरहितसुखक्रियाफलत्वाद्
भवति समूलमुदग्रगोत्रमेतत्[1] ॥ १ ॥

स्वपरहितफलस्य बोधिवृक्षस्य प्रशस्तमूलत्वमनेन बोधिसत्त्वगोत्रं सन्दर्शितम् ॥ १ ॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे गोत्राधिकारस्तृतीयः ॥

१. समुदयगोत्रमेतत्–सि० ।

४

चतुर्थश्चित्तोत्पादाधिकारः

चित्तोत्पादलक्षणे श्लोकः—

महोत्साहा महारम्भा महार्थाऽथ महोदया।
चेतना बोधिसत्त्वानां द्वयार्था चित्तसम्भवः॥ १॥

महोत्साहा सन्नाहवीर्येण गम्भीरदुष्करदीर्घकालप्रतिपक्षोत्पत्त्युत्सहनात्[1]। [SL 14] महारम्भा यथासन्नाहप्रयोगवीर्येण। महार्था आत्मपरहिताधिकारात्। महोदया महाबोधिसमुदागमत्वात्। सोऽयं त्रिविधो गुणः परिदीपितः—पुरुषकारगुणो द्वाभ्यां पदाभ्याम्, अर्थक्रियागुणः फलपरिग्रहगुणश्च द्वाभ्याम्। द्वयार्था महाबोधिसत्त्वार्थक्रियालम्बनत्वात्। इति त्रिगुणा द्वयालम्बना च चेतना चित्तोत्पाद इत्युच्यते॥ १॥

चित्तोत्पादप्रभेदे श्लोकः—

चित्तोत्पादोऽधिमोक्षोऽसौ शुद्धाध्याशयिकोऽपरः।
वैपाक्यो भूमिषु मतस्तथावरणवर्जितः॥ १॥

चतुर्विधो बोधिसत्त्वानां चित्तोत्पादः—आधिमोक्षिकोऽधिमुक्तिचर्याभूमौ। शुद्धाध्याशयिकः सप्तसु भूमिषु। वैपाकिकोऽष्टम्यादिषु। अनावरणिको बुद्धभूमौ॥ १॥

चित्तोत्पादविनिश्चये चत्वारः श्लोकाः—

करुणामूल इष्टोऽसौ सदा सत्त्वहिताशयः।
धर्माधिमोक्षस्तज्ज्ञानपर्येष्टयालम्बनस्तथा॥ १॥
उत्तरच्छन्दयानोऽसौ प्रतिष्ठाशीलसंवृतिः।
उत्थापना विपक्षस्य परिपन्थोऽधिवासना॥ २॥
शुभवृद्ध्यनुशंसोऽसौ पुण्यज्ञानमयः स हि।
सदा पारमितायोगनिर्याणश्च स कथ्यते॥ ३॥
भूमिपर्यवसानोऽसौ प्रतिस्वं तत्प्रयोगतः।
विज्ञेयो बोधिसत्त्वानां चित्तोत्पादविनिश्चयः॥ ४॥

तथायं विनिश्चयः। किंमूल एष चतुर्विधो बोधिसत्त्वानां चित्तोत्पादः किमाशयः किमधिमोक्षः किमालम्बनः कियानः किंप्रतिष्ठः किमादीनवः किमनुशंसः किंनिर्याणः किंपर्यवसान इति? आह—करुणामूलः। सदा सत्त्व-

---

१. ०पक्षोत्सत्सहनात्–सि०।

हिताशयः । महायानधर्माधिमोक्षः । तज्ज्ञानपर्येष्टयाकारेण तज्ज्ञानालम्बनात्[१] । उत्तरोत्तरच्छन्दयानः । बोधिसत्त्वशीलसंवरप्रतिष्ठः । परिपन्थः = आदीनवः । कः पुनस्तत्परिपन्थः ? विपक्षस्यान्ययानचित्तस्योत्थापना, अधिवासना वा । पुण्यज्ञानमयकुशलधर्मवृद्ध्यनुशंसः । सदापारमिताभ्यासनिर्याणः । भूमिपर्यवसानश्च प्रतिस्वं भूमिप्रयोगात् । यस्यां भूमौ यः प्रयुक्तस्तस्य तद्भूमिपर्यवसानः ॥ १–४ ॥

समादानसांकेतिकचित्तोत्पादे श्लोकः—

मित्रबलाद् हेतुबलान्मूलबलाच्छ्रुतबलाच्छुभाभ्यासात् ।
अदृढदृढोदय उक्तश्चित्तोत्पादः पराख्यानात् ॥ १ ॥

यो हि पराख्यानाच्चित्तोत्पादः परविज्ञापनात् स उच्यते [SL 15] समादानसांकेतिकः । स पुनर्मित्रबलाद्वा भवति कल्याणमित्रानुरोधात् । हेतुबलाद्वा गोत्रसामर्थ्यात् । कुशलमूलाद्[२] वा तद्गोत्रपुष्टितः[२] । श्रुतबलाद्वा तत्र तत्र धर्मपर्याये भाष्यमाणे बहूनां बोधिचित्तोत्पादात् । शुभाभ्यासाद्वा, दृष्ट इव धर्मे सततश्रवणोद्ग्रहणधारणादिभिः । स पुनर्मित्रबलाददृढोदयो वेदितव्यः । हेत्वादिबलाद् दृढोदयः ॥ १ ॥

पारमार्थिकचित्तोत्पादे सप्त श्लोकाः—

सूपासितसम्बुद्धे सुसम्भृतज्ञानपुण्यसम्भारे ।
धर्मेषु निर्विकल्पज्ञानप्रसवात् परमताऽस्य ॥ १ ॥
धर्मेषु च सत्त्वेषु च तत्कृत्येषूत्तमे च बुद्धत्वे ।
समचित्तोपालम्भात् प्रामोद्यविशिष्टता तस्य ॥ २ ॥
जन्मौदार्यं तस्मिन्नुत्साहः शुद्धिराशयस्यापि ।
कौशल्यं परिशिष्टे निर्याणं चैव विज्ञेयम् ॥ ३ ॥
धर्माधिमुक्तिबीजात् पारमिताश्रेष्ठमातृतो जातः ।
ध्यानमये सुखगर्भे करुणा संवर्धिका धात्री ॥ ४ ॥
औदार्यं विज्ञेयं प्रणिधानमहादशाभिनिर्हारात् ।
उत्साहो बोद्धव्यो दुष्करदीर्घाधिकाखेदात् ॥ ५ ॥
आसन्नबोधिबोधात् तदुपायज्ञानलाभतश्चापि ।
आशयशुद्धिर्ज्ञेया कौशल्यं त्वन्यभूमिगतम् ॥ ६ ॥
निर्याणं विज्ञेयं यथाव्यवस्थानमनसिकारेण ।
तत्कल्पनताज्ञानादविकल्पनया च तस्यैव ॥ ७ ॥

---

१. तज्ज्ञानालम्बनः–सि० ।

२-२. ०सूलाद्वातीत०–सि० ।

प्रथमेन श्लोकेनोपदेशप्रतिपत्त्यधिगमविशेषैः पारमार्थिकत्वं चित्तोत्पादस्य दर्शयति। स च पारमार्थिकश्चित्तोत्पादः प्रमुदिता भूमिः[१]। प्रामोद्य-विशिष्टतायास्तत्र कारणं दर्शयति। तत्र धर्मेषु समचित्तता धर्मनैरात्म्य-प्रतिबोधात्। सत्त्वेषु समचित्तता, आत्मपरसमतोपगमात्। सत्त्वकृत्येषु समचित्तता, आत्मन इव तेषां दुःखक्षयाकाङ्क्षणात्। बुद्धत्वे समचित्तता, तद्धर्मधातोरात्मन्यभेदप्रतिबोधात्। तस्मिन्नेव च पारमार्थिकचित्तोत्पादे षडर्था वेदितव्याः—जन्म, औदार्यमुत्साहः, आशयशुद्धिः, परिशिष्टकौशल्यम्, निर्याणं च। तत्र जन्म बीजमातृगर्भधात्रीविशेषाद्वेदितव्यम्। औदार्यं दशमहाप्रणिधानाभिनिर्हारात्। उत्साहो दीर्घकालिकदुष्कराखेदात्। आशय-शुद्धिरासन्नबोधिज्ञानात्तदुपायज्ञानलाभाच्च। परिशिष्टकौशल्यमन्यासु भूमिषु [SL 16] कौशल्यम्। निर्याणं यथाव्यवस्थानभूमिमनसिकारेण। कथं मनसिकारेण? तस्य भूमिव्यवस्थानस्य कल्पनाज्ञानात् कल्पनामात्रमेतदिति। तस्यैव च कल्पनाज्ञानस्याविकल्पनात् ॥ १–७ ॥

औपम्यमाहात्म्ये षट् श्लोकाः—

पृथिवीसम उत्पादः कल्याणसुवर्णसंनिभश्चान्यः।
शुक्लनवचन्द्रसदृशो वह्निप्रख्योऽपरो ज्ञेयः[२] ॥ १ ॥
भूयो महानिधानवदन्यो रत्नाकरो यथैवान्यः।
सागरसदृशो ज्ञेयो वज्रप्रख्योऽचलेन्द्रनिभः ॥ २ ॥
भैषज्यराजसदृशो महासुहृत्सन्निभोऽपरो ज्ञेयः।
चिन्तामणिप्रकाशो दिनकरसदृशोऽपरो ज्ञेयः ॥ ३ ॥
गन्धर्वमधुरघोषवदन्यो राजोपमोऽपरो ज्ञेयः।
कोष्ठागारप्रख्यो महापथसमस्तथैवान्यः ॥ ४ ॥
यानसमो विज्ञेयो गन्धर्वसमश्च चेतसः[३] प्रभवः[३]।
आनन्दशब्दसदृशो महानदीस्रोतःसदृशश्च[४] ॥ ५ ॥
मेघसदृशश्च कथितश्चित्तोत्पादो जिनात्मजानां हि।
तस्मात् तथा गुणाढ्यं चित्तं मुदितैः समुत्पाद्यम् ॥ ६ ॥

१. प्रथमचित्तोत्पादो बोधिसत्त्वानां पृथिवीसमः, सर्वबुद्धधर्मतत्सम्भार-प्रसवस्य प्रतिष्ठाभूतत्वात्। २. आशयसहगतश्चित्तोत्पादः कल्याणसुवर्ण-सदृशः, हितसुखाध्याशयस्य विकाराभजनात्। ३. प्रयोगसहगतः शुक्लपक्ष-

१. प्रमुदितायां भूमाविति–सि०।
२. च्छ्रायः–सि०।
३-३. वेतसग०–सि०।
४. ०श्रोत०–सि०।

नवचन्द्रोपमः, कुशलधर्मवृद्धिगमनात् । ४. अध्याशयसहगतो वह्निसदृशः, इन्धनाकरविशेषेणेवाग्निः, तस्योत्तरोत्तरविशेषाधिगमनात् । विशेषाधिगमाशयो ह्यध्याशयः । ५. दानपारमितासहगतो महानिधानोपमः, आमिषसम्भोगेनाप्रमेयसत्त्वसन्तर्पणादक्षयत्वाच्च । ६. शीलपारमितासहगतो रत्नाकरोपमः, सर्वगुणरत्नानां ततः प्रसवात् । ७. क्षान्तिपारमितासहगतः सागरोपमः, सर्वानिष्टोपरिपातैरक्षोभ्यत्वात् । ८. वीर्यपारमितासहगतो वज्रोपमः; दृढत्वादभेद्यतया । ९. ध्यानपारमितासहगतः पर्वतराजोपमः, निष्कम्पत्वादविक्षेपतः । १०. प्रज्ञापारमितासहगतो भैषज्यराजोपमः; सर्वक्लेशज्ञेयावरणव्याधिप्रशमनात् । ११. अप्रमाणसहगतो महासुहृत्संनिभः; सर्वावस्थं सत्त्वानुपेक्षकत्वात् । १२. अभिज्ञासहगतश्चिन्तामणिसदृशः, यथाधिमोक्षं तत्फलसमृद्धेः । १३. संग्रहवस्तुसहगतो दिनकरसदृशः, विनेयसस्यपरिपाचनात् । १४. प्रतिसंवित्सहगतो गन्धर्वमधुरघोषोपमः, विनेयावर्जकधर्मदेशकत्वात् । १५. प्रतिशरणसहगतो महाराजोपमः, अविप्रणाशहेतुत्वात् । १६. पुण्यज्ञानसम्भारसहगतः कोष्ठागारोपमः; बहुपुण्यज्ञानसम्भारकोषस्थानत्वात् । १७. बोधिपक्षसहगतो महाराजपथोपमः; सर्वार्यपुद्गल- [SL 17] यातानुयातत्वात् । १८. शमथविपश्यनासहगतो यानोपमः; सुखवहनात् । १९. धारणाप्रतिभानसहगतो गन्धर्वोपमः; उदकधारणाक्षयोद्भेदसाधर्म्येण श्रुताश्रुतधर्मार्थधारणाक्षयोद्भेदतः । २०. धर्मोद्दानसहगत आनन्दशब्दसदृशः; मोक्षकामानां विनेयानां प्रियश्रावणात् । २१. एकायनमार्गसहगतो नदीस्रोतःसमः[1]; स्वरसवाहित्वात् । अनुत्पत्तिकधर्मक्षान्तिलाभे एकायनत्वं तद्भूमिगतानां बोधिसत्त्वानामभिन्नकार्यक्रियात्वात् । २२. उपायकौशल्यसहगतो मेघोपमः; सर्वसत्त्वार्थक्रियातदधीनत्वात् तुषितभवनवासादिसन्दर्शनतः । यथा मेघात् सर्वभाजनलोकसम्पत्तयः । एष च द्वाविंशत्युपमश्चित्तोत्पाद आर्याक्षयमतिसूत्रेऽक्षगतानुसारेणानुगन्तव्यः ॥ १–६ ॥

चित्तानुत्पादपरिभाषायां श्लोकः—

परार्थचित्तात् तदुपायलाभतो महाभिसन्ध्यर्थसुतत्त्वदर्शनात् ।
महार्हचित्तोदयवर्जिता जनाः शमं गमिष्यन्ति विहाय तत्सुखम् ॥ १ ॥

तेन चित्तोत्पादेन वर्जिताः सत्त्वाश्चतुर्विधं सुखं न लभन्ते यद्बोधिसत्त्वानां परार्थचिन्तनात् सुखम्, यच्च परार्थोपायलाभात्, यच्च महाभिसन्ध्यर्थसन्दर्शनात् गम्भीरमहायानसूत्राभिप्रायिकार्थविबोधतः[2], यच्च परमतत्त्वस्य धर्मनैरात्म्यस्य सन्दर्शनात् सुखम् ॥ १ ॥

---

१. नदीश्रोतः समः–सि० ।

२. ०यानस्वतोभिप्राय०–सि० ।

चित्तोत्पादप्रशंसायां दुर्गतिपरिखेदनिर्भयतामुपादाय श्लोकः—

सहोदयाच्चित्तवरस्य धीमतः सुसंवृतं चित्तमनन्तदुष्कृतात् ।
सुखेन दुःखेन च मोदते सदा शुभी कृपालुश्च विवर्धयन्[1] द्वयम्[1] ॥१॥

[SL 18] तस्य चित्तवरस्य सहोदयाद् बोधिसत्त्वस्य सुसंवृतं चित्तं भवत्यनन्तसत्त्वाधिष्ठानाद् दुष्कृतादतोऽस्य दुर्गतितो भयं न भवति। स च द्वयं वर्धयन् शुभं च कर्मकृपां च नित्यं च शुभी भवति कृपालुश्च, तेन सदा मोदते। सुखेनापि शुभित्वात्, दुःखेनापि परार्थक्रियानिमित्तेन कृपालुत्वात्। अतोऽस्य बहुकर्त्तव्यतापरिखेदादपि भयं न भवति ॥ १ ॥

अकरणसंवरलाभे श्लोकः—

यदानपेक्षः स्वशरीरजीविते परार्थमभ्येति परं परिश्रमम् ।
परोपघातेन तथाविधः कथं स दुष्कृते कर्मणि सम्प्रवर्त्स्यति ॥ १ ॥

अस्य पिण्डार्थो यस्य एव प्रियतरो नात्मा परार्थं स्वशरीरजीविते निरपेक्षत्वात्। स कथमात्मार्थं परोपघातेन दुष्कृते कर्मणि प्रवर्त्स्यतीति ॥१॥

चित्तव्यावृत्तौ श्लोकौ—

मायोपमान् वीक्ष्य स सर्वधर्मानुद्यानयात्रामिवः चोपपत्तीः ।
क्लेशाच्च दुःखाच्च बिभेति नासौ सम्पत्तिकालेऽथ विपत्तिकाले ॥ १ ॥
स्वका गुणाः सत्त्वहिताच्च मोदः सञ्चिन्त्यजन्मर्द्धिविकुर्वितं च ।
विभूषणं भोजनमग्रभूमिः क्रीडारतिर्नित्यकृपात्मकानाम् ॥ २ ॥

मायोपमसर्वधर्मेक्षणात् स बोधिसत्त्वः संपत्तिकाले क्लेशेभ्यो न बिभेति। उद्यानयात्रोपमोपपत्तिक्षणात् विपत्तिकाले दुःखान्न बिभेति। तस्य कुतो भयाद्बोधिचित्तं व्यावर्तिष्यते! अपि च स्वगुणा मण्डनं बोधिसत्त्वानाम्। परहितात् प्रीतिर्भोजनम्, सञ्चिन्त्योपपत्तिरुद्यानभूमिः। ऋद्धिविकुर्वितं क्रीडारतिर्बोधिसत्त्वानामेवास्ति, नाबोधिसत्त्वानाम्। तेषां कथं चित्तं व्यावर्तिष्यते! ॥ १–२ ॥

दुःखत्रासप्रतिषेधे श्लोकः—

परार्थमुद्योगवतः कृपात्मनो ह्यवीचिरप्येति यतोऽस्य रम्यताम् ।
कुतः पुनस्त्रस्यति तादृशो भवन् पराश्रयैर्दुःखसमुद्भवैर्भवे ॥ १ ॥

अपि च—यस्य परार्थमुद्योगवतः करुणात्मकत्वादवीचिरपि रम्यः, स कथं परार्थनिमित्तैर्दुःखोत्पादैर्भवे पुनस्त्रासमापत्स्यते! यतोऽस्य दुःखात् त्रासः स्याच्चितस्य व्यावृत्तिर्भवति ॥ १ ॥

१-१. विवर्धनद्वयम्–सि० ।

सत्त्वोपेक्षाप्रतिषेधे श्लोकः—

महाकृपाचार्यसदोषितात्मनः परस्य दुखैरुपतप्तचेतसः ।
परस्य कृत्ये समुपस्थिते पुनः परैः समादापनतोऽतिलज्जना ॥१॥

यस्य महाकरुणाचार्येण नित्योषितः आत्मा परदुःखैश्च दुःखितं [SL 19] चेतस्तस्योत्पन्ने परार्थं करणीये यदि परैः कल्याणमित्रैः समादापना कर्तव्या भवति अतिलज्जना ॥ १ ॥

कौशीद्यपरिभाषायां श्लोकः—

शिरसि विनिहितोच्चसत्त्वभारः शिथिलगतिर्नहि शोभतेऽग्रसत्त्वः ।
स्वपरविविधबन्धनातिबद्धः शतगुणमुत्सहमर्हति प्रकर्तुम् ॥ १ ॥

शिरसि महान्तं सत्त्वभारं विनिधाय बोधिसत्त्वः शिथिलं पराक्रममाणो न शोभते । शतगुणं हि स वीर्यं कर्तुमर्हति, श्रावकवीर्यात् । तथा हि स्वपरबन्धनैर्विविधैरत्यर्थं बद्धः क्लेशकर्मजन्मस्वभावैः ॥ १ ॥

॥ इति महयानसूत्रालंकारे चित्तोत्पादाधिकारश्चतुर्थः ॥

५

पञ्चमः प्रतिपत्त्यधिकारः

प्रतिपत्तिलक्षणे श्लोकः—

महाश्रयारम्भफलोदयात्मिका जिनात्मजानां प्रतिपत्तिरिष्यते।
सदा महादानमहाधिवासना महार्थसम्पादनकृत्यकारिका ॥ १ ॥

तत्र महाश्रया चित्तोत्पादाश्रयत्वात्। महारम्भा स्वपरार्थारम्भात्। महाफलोदया महाबोधिफलत्वात्। अत एव यथाक्रमं महादाना सर्वसत्त्वोपादानात्। महाधिवासना सर्वदुःखाधिवासनात्। महार्थसम्पादनकृत्यकारिका विपुलसत्त्वार्थसम्पादनात् ॥ १ ॥

स्वपरार्थनिर्विशेषत्वे श्लोकः—

परत्र लब्ध्वात्मसमानचित्ततां स्वतोऽधि वा श्रेष्ठतरेष्टतां परे।
तथात्मतोऽन्यार्थविशिष्टसंज्ञिनः[1] स्वकार्थता का कतमा परार्थता ॥ १ ॥

परत्रात्मसमानचित्ततां लब्ध्वाऽधिमुक्तितो वा सांकेतिकचित्तोत्पादलाभे, आत्मतो वा पुनः परत्र विशिष्टज्ञानतो वा पारमार्थिकचित्तोत्पादलाभे। आत्मतो वा पुनः परत्र विशिष्टतरामिष्टतां लब्ध्वा तेनैव च कारणेनात्मनः परार्थे विशिष्टसंज्ञिनो [SL 20] कः स्वार्थः ! परार्थो वा ! निर्विशेषं हि तस्योभयमित्यर्थः ॥ १ ॥

परार्थविशेषणे श्लोकः—

परत्र लोको न तथातिनिर्दयः प्रवर्तते तापनकर्मणा रिपौ।
यथा परार्थं भृशदुःखतापने कृपात्मकः स्वात्मनि सम्प्रवर्तते ॥ १ ॥

यथा स्वात्मनः परार्थो विशिष्यते तत् साधयति; परार्थमात्मनोऽत्यर्थं सन्तापनात् ॥ १ ॥

परार्थप्रतिपत्तिविभागे द्वौ श्लोकौ—

निकृष्टमध्योत्तमधर्मतास्थिते सुदेशनावर्जनताऽवतारणा।
विनीतिरर्थे परिपाचना शुभे तथाववादस्थितिबुद्धिमुक्तयः ॥ १ ॥
गुणैर्विशिष्टैः समुदागमस्तथा कुलोदयो व्याकरणाभिषिक्तता।
तथागतज्ञानमनुत्तरं पदं परार्थ एष त्र्यधिको दशात्मकः ॥ २ ॥

त्रिविधे सत्त्वनिकाये हीनमध्यविशिष्टगोत्रस्थे त्रयोदशविधो बोधिसत्त्वस्य परार्थः। सुदेशना अनुशासन्यादेशनाप्रतिहार्याभ्याम्। आवर्जना

---

१. तथात्मनो०–मुद्रितः पाठः।

ऋद्धिप्रातिहार्येण। अवतारणा शासनाभ्युपगमनात्। विनीतिरर्थेऽवतीर्णानां संशयच्छेदनम्। परिपाचना कुशले। अववादश्चित्तस्थितिः प्रज्ञाविमुक्तिः, अभिज्ञादिभिर्विशेषकैर्गुणैः समुदागमः। तथागतकुले जन्म, अष्टम्यां भूमौ व्याकरणम्, दशम्यामभिषेकश्च सह तथागतज्ञानेन—इत्येष त्रिषु गोत्रस्थेषु यथायोगं त्रयोदशविधः परार्थो बोधिसत्त्वस्य ॥ १-२ ॥

परार्थप्रतिपत्तिसम्पत्तौ श्लोकः—

जनानुरूपाऽविपरीतदेशना निरुन्नता चाप्यममा विचक्षणा।
क्षमा च दान्ता च सुदूरगाऽक्षया जिनात्मजानां प्रतिपत्तिरुत्तमा ॥ १ ॥

यथाऽसौ परार्थपतिपत्तिः सम्पन्ना भवति तथा सन्दर्शयति। कथं चासौ सम्पन्ना भवति? यदि गोत्रस्थजनानुरूपाऽविपरीता च देशना भवति। अनुन्नता चावर्जना। अममा चावतारणा। न ऋद्धया मन्यते, न चावतारितान् सत्त्वान् ममायति। विचक्षणा चार्थे विनीतिप्रतिपत्तिर्भवति। क्षमा च शुभे परिपाचना-प्रतिपत्तिः। दान्ता चाववादादिप्रतिपत्तिः। न ह्यदान्तोऽववादादिषु परेषां समर्थः। सुदूरगा च कुलोदयादिप्रतिपत्तिः। न ह्यदूरगतया प्रतिपत्त्या कुलोदया-दयः परेषां कर्तुं शक्याः। सर्वा चैषा परार्थप्रतिपत्तिर्बोधिसत्त्वा- [SL 21] नामक्षया भवत्यभ्युपगतसत्त्वाक्षयत्वात्, अतोऽपि सम्पन्ना वेदितव्या ॥ १ ॥

प्रतिपत्तिविशेषणे द्वौ श्लोकौ—

महाभये कामिजनः प्रवर्तते चले विपर्याससुखे भवप्रियः।
प्रतिस्वमाधिप्रशमे शमप्रियः सदा तु सर्वाधिशमे[1] कृपात्मकः ॥ १ ॥
जनो विमूढः स्वसुखार्थमुद्यतः सदा तदप्राप्य परैति दुःखताम्।
सदा तु धीरो हि परार्थमुद्यतो द्वयार्थमाधाय परैति निर्वृतिम् ॥ २ ॥

तत्र कामानां महाभयत्वं बहुकायिकचैतसिकदुःखदुर्गतिगमनहेतुत्वात्। चलं विपर्याससुखं रूपारूप्यभवप्रियाणामनित्यत्वात् परमार्थदुःखत्वाच्च संस्कारदुःखतया। आधयः क्लेशा वेदितव्याः; दुखाधानात्। विमूढो जनः सदा स्वसुखार्थं प्रतिपन्नः सुखं नाप्नोति, दुःखमेवाप्नोति। बोधिसत्त्वस्तु परार्थं प्रतिपन्नः स्वपरार्थं सम्पाद्य निर्वृतिसुखं प्राप्नोति—अयमस्यापरः प्रतिप्रत्ति-विशेषः ॥ १-२ ॥

गोचरपरिणामते श्लोकः—

यथा यथा ह्यक्षविचित्रगोचरे प्रवर्तते चारगतो जिनात्मजः।
तथा तथा युक्तसमानतापदैर्हिताय सत्त्वेष्वभिसंस्करोति तत् ॥१॥

---

१. सर्वाधिगमे—सि०।

येन येन प्रकारेण चक्षुरादीन्द्रियगोचरे विचित्रे बोधिसत्त्वः प्रवर्तते, ईर्यापथव्यापारचारे वर्तमानस्तेन तेन प्रकारेण सम्बद्धसादृश्यवचनैर्हितार्थं सत्त्वेषु तत्सर्वमभिसंस्करोति। यथा गोचरपरिशुद्धिसूत्रे विस्तरेण निर्दिष्टम् ॥ १ ॥

सत्त्वेष्वक्षान्तिप्रतिषेधे श्लोकः—

सदाऽस्वतन्त्रीकृतदोषचेतने जने न सन्दोषमुपैति बुद्धिमान्।
अकामकारेण हि विप्रपत्तयो जने भवन्तीति कृपाविवृद्धितः ॥ १ ॥

सदा क्लेशैरस्वतन्त्रीकृतचेतने जने न सन्दोषमुपैति बोधिसत्त्वः। किं [SL 22] कारणम्? अकामकारेणैषां विप्रतिपत्तयो भवन्तीति विदित्वा करुणावृद्धिगमनात् ॥ १ ॥

प्रतिपत्तिमाहात्म्ये श्लोकः—

भवगतिसकलाभिभूयगन्त्री परमशमानुगता प्रपत्तिरेव।
विविधगुणगणैर्विवर्धमाना जगदुपगृहृच[1] सदा कृपाशयेन ॥ १ ॥

चतुर्विधं माहात्म्यं सन्दर्शयति। अभिभवमाहात्म्यं सकलं भवत्रयं गतिं च पञ्चविधामभिभूयगमनात्। यथोक्तं प्रज्ञापारमितायाम्—"रूपं चेत् सुभूते[2], भावोऽभविष्यन्नाभावो नेदं महायानं सदेवमानुषासुरलोकमभिभूय निर्यास्यति" इति विस्तरः। निर्वृतिमाहात्म्यमप्रतिष्ठनिर्वाणानुगतत्वात्। गुणवृद्धिमाहात्म्यं सत्त्वापरित्यागमाहात्म्यं चेति ॥ १ ॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे प्रतिपत्त्यधिकारः पञ्चमः ॥

---

१. जगदुपगुह्य—सि०।
२. सुभूत—सि०।

६

षष्ठस्तत्त्वाधिकारः

परमार्थलक्षणविभागे श्लोकः—

न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा न जायते व्येति न नावहीयते।
न वर्धते नापि विशुध्यते पुनर्विशुध्यते तत्परमार्थलक्षणम् ॥ १ ॥

अद्वयार्थो हि परमार्थः। तमद्वयार्थं पञ्चभिराकारैः सन्दर्शयति। न सत् परिकल्पितपरतन्त्रलक्षणाभ्याम्, न चासत् परिनिष्पन्नलक्षणेन। न तथा परिकल्पितपरतन्त्राभ्यां परिनिष्पन्नस्यैकत्वाभावात्। न चान्यथा; ताभ्यामेवान्यत्वाभावात्। न जायते, न च व्येति, अनभिसंस्कृतत्वाद्धर्मधातोः। न हीयते न च वर्धते, संक्लेशव्यवदानपक्षयोर्निरोधोत्पादे तथावस्थत्वात्[1]। न विशुध्यति, प्रकृत्यसंक्लिष्टत्वात्। न च न विशुध्यति; आगन्तुकोपक्लेशविगमात्। इत्येतत् पञ्चविधमद्वयलक्षणं परमार्थलक्षणं वेदितव्यम् ॥ १ ॥

आत्मदृष्टिविपर्यासप्रतिषेधे श्लोकः—

न चात्मदृष्टिः स्वयमात्मलक्षणा न चापि दुःसंस्थितता विलक्षणा।
द्वयान्न चान्यद् भ्रम एष तूदितस्ततश्च[2] मोक्षो भ्रममात्रसंक्षयः ॥ १ ॥

न तावदात्मदृष्टिरेवात्मलक्षणा। नापि दुःसंस्थितता। तथा [SL 23] हि सा विलक्षणा; आत्मलक्षणात्परिकल्पितात्। सा पुनः पञ्चोपादानस्कन्धाः; क्लेशदौष्ठुल्यप्रभावितत्वात्। नाप्यतो द्वयादन्यदात्मलक्षणमुपपद्यते। तस्मान्नास्त्यात्मा। भ्रम एष तूत्पन्नो येयमात्मदृष्टिः, तस्मादेव चात्माभावान्मोक्षोऽपि भ्रममात्रसंक्षयो वेदितव्यः, न तु कश्चिन्मुक्तः ॥ १ ॥

विपर्यासपरिभाषायां द्वौ श्लोकौ—

कथं जनो विभ्रममात्रमाश्रितः परैति दुःखप्रकृतिं न साततम्[3]।
अवेदको वेदक एव दुःखितो न दुःखितो धर्ममयो न तन्मयः ॥ १ ॥

प्रतीत्यभावप्रभवे कथं जनः समक्षवृत्तिः श्रयतेऽन्यकारितम्।
तमःप्रकारः कतमोऽयमीदृशो यतोऽविपश्यन् सदसन्निरीक्षते ॥ २ ॥

कथं नामायं लोको भ्रान्तिमात्रमात्मदर्शनं निःश्रित्य सततानुबद्धं

---

१. तदवस्थत्वात्–सि०।

२. एषतदितः–सि०।

३. संततम्–सि०।

दुःखस्वभावं संस्काराणां न पश्यति। अवेदकः, ज्ञानेन तस्या दुःखप्रकृतेः। वेदकः, अनुभवेन दुःखस्य। दुःखितः, दुःखस्याप्रहीणत्वात्। न दुःखितः, दुःखयुक्तस्यात्मनोऽसत्त्वात्। धर्ममयः, धर्ममात्रत्वात् पुद्गलनैरात्म्येन। न च धर्ममयो धर्मनैरात्म्येन। यदा च लोको भावानां प्रतीत्यसमुत्पादं प्रत्यक्षं पश्यति तं तं प्रत्ययं प्रतीत्य ते ते भावा भवन्तीति, तत्कथमेतां दृष्टिं श्रयते– अन्यकारितं दर्शनादिकं न प्रतीत्यसमुत्पन्नमिति ! कतमोऽयमीदृशस्तमः प्रकारो लोकस्य यद्विद्यमानं प्रतीत्यसमुत्पादमविपश्यन्नविद्यमानमात्मानं निरीक्षते ! शक्यं हि नाम तमसा विद्यमानमद्रष्टुं स्यात्, न त्वविद्यमानं द्रष्टुमिति ॥ १–२ ॥

असत्यात्मनि शमजन्मयोगे श्लोकः—

न चान्तरं किञ्चन विद्यतेऽनयोः सदर्थवृत्त्या शमजन्मनोरिह।
तथापि जन्मक्षयतो विधीयते शमस्य लाभः शुभकर्मकारिणाम् ॥ १ ॥

न चास्ति संसारनिर्वाणयोः किञ्चिन्नानाकरणं परमार्थवृत्त्या नैरात्म्यस्य समतया। तथापि जन्मक्षयान्मोक्षप्राप्तिर्भवत्येव शुभकर्मकारिणां ये मोक्षमार्गं भावयन्ति ॥ १ ॥

विपर्यासपरिभाषां कृत्वा तत्प्रतिपक्षपारमार्थिकज्ञानप्रवेशे चत्वारः श्लोकाः

सम्भृत्य सम्भारमनन्तपारं ज्ञानस्य पुण्यस्य च बोधिसत्त्वः।
धर्मेषु चिन्तासुविनिश्चितत्वाज्जल्पान्वयामर्थगतिं[1] परैति ॥ १ ॥
[SL 24] अर्थान् स विज्ञाय च जल्पमात्रान् संतिष्ठते तन्निभचित्तमात्रे।
प्रत्यक्षतामेति च धर्मधातुस्तस्माद् वियुक्तो द्वयलक्षणेन ॥ २ ॥
नास्तीति चित्तात् परमेत्य बुद्ध्या चित्तस्य नास्तित्वमुपैति तस्मात्।
द्वयस्य नास्तित्वमुपेत्य धीमान् सन्तिष्ठतेऽतद्गतिधर्मधातौ ॥ ३ ॥
अकल्पनाज्ञानबलेन धीमतः समानुयातेन समन्ततः सदा।
तदाश्रयो गह्वरदोषसञ्चयो महागदेनेव विषं निरस्यते ॥ ४ ॥

एकेन सम्भृतसम्भारत्वं धर्मचिन्तासुविनिश्चितत्वं समाधिं निश्रित्य-भावनान्मनोजल्पाच्च तेषां धर्माणामर्थप्रख्यानावगमात् तत्प्रवेशं दर्शयति। असंख्येयप्रभेदकालं पारमस्य परिपूरणमित्यनन्तपारम् ॥ १ ॥

द्वितीयेन मनोजल्पमात्रानर्थान् विदित्वा तदाभासे चित्तमात्रेऽवस्थानम् इयं बोधिसत्त्वस्य निर्वेधभागीयावस्था। ततः परेण धर्मधातोः प्रत्यक्षतोऽवगमने द्वयलक्षणेन वियुक्तो ग्राह्यग्राहकलक्षणेन। इयं दर्शनमार्गावस्था ॥

---

१. ०विनिश्रित०–सि०।

तृतीयेन यथासौ धर्मधातुः प्रत्यक्षतामेति तद् दर्शयति। कथं चासौ धर्मधातुः प्रत्यक्षतामेति ? चित्तादन्यदालम्बनं ग्राह्यं नास्तीत्यवगम्य बुद्ध्या तस्यापि चित्तमात्रस्य नास्तित्वावगमनम्, ग्राह्याभावे ग्राहकाभावात्। द्वयस्यास्य[1] नास्तित्वं विदित्वा धर्मधातावस्थानमतद्गतिर्ग्राह्यग्राहक-लक्षणाभ्यां रहित एवं धर्मधातुः प्रत्यक्षतामेति॥ ३॥

चतुर्थेन भावनामार्गावस्थायामाश्रयपरिवर्तनात् पारमार्थिकज्ञानप्रवेशं दर्शयति। सदा सर्वत्र समतानुगतेनाविकल्पज्ञानबलेन यत्र तत्समतानुगतं परतन्त्रे स्वभावे तदाश्रयस्य दूरानुप्रविष्टस्य दोषसञ्चयस्य दौष्ठुल्यलक्षणस्य महागदेनेव विषस्य निरसनात्॥ ४॥

परमार्थज्ञानमाहात्म्ये श्लोकः—

मुनिविहितसुधर्मसुव्यवस्थो मतिमुपधाय समूलधर्मधातौ।
स्मृतिगतिमवगम्य[2] कल्पमात्रां व्रजति गुणार्णवपारमाशु धीरः॥ १॥

बुद्धविहिते सुधर्मे सुव्यवस्थापिते स परमार्थज्ञानप्रविष्टो बोधिसत्त्वः सम्पिण्डितधर्मालम्बनस्य मूलचित्तस्य धर्मधातौ मतिमुपनिधाय[3] या स्मृति-रुपलभ्यते तां सर्वां स्मृतिप्रवृत्तिं कल्पनामात्रामवगच्छति, एवं गुणार्णवस्य पारं बुद्धत्वमाशु व्रजतीत्येतत्परमार्थज्ञानस्य माहात्म्यम्॥ १॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे तत्त्वाधिकारः षष्ठः॥

१. द्वये चास्य–सि०।
२. स्मृतिमति०–सि०।
३. मतिमुपनिविधाय–मि०।

७

सप्तमः प्रभावाधिकारः

[SL 25] प्रभावलक्षणविभागे स्वभावार्थमारभ्य[1] श्लोकः—

उत्पत्तिवाक्चित्तशुभाशुभाधि तत्स्थाननिःसारपदा परोक्षम् ।
ज्ञानं हि सर्वत्रगसप्रभेदेष्वव्याहतं धीरगतः प्रभावः ।। १ ।।

परेषामुपपत्तौ ज्ञानं च्युतोपपादाभिज्ञा । वाचि ज्ञानं दिव्यश्रोत्राभिज्ञया वाचं तत्र गत्वोपपन्ना भाषन्ते । चित्ते ज्ञानं चेतःपर्यायाभिज्ञा । पूर्वशुभाशुभाधाने ज्ञानं पूर्वनिवासाभिज्ञा । यत्र विनेयास्तिष्ठन्ति तत्स्थानगमनज्ञानं ऋद्धिविषयाभिज्ञा । निःसरणे ज्ञानमास्रवक्षयाभिज्ञा, यथा सत्त्वा उपपत्तितो निःसरन्तीति । एषु षट्स्वर्थेषु सर्वत्र लोकधातौ सप्रभेदेषु यदाऽपरोक्षमव्याहतं ज्ञानं स प्रभावो बोधिसत्त्वानां षडभिज्ञासंगृहीतः ।

प्रभावलक्षणविभागे स्वभावार्थ उक्तः ।। १ ।।

हेत्वर्थमारभ्य श्लोकः—

ध्यानं चतुर्थं सुविशुद्धमेत्य निष्कल्पनाज्ञानपरिग्रहेण ।
यथाव्यवस्थानमनस्क्रियातः प्रभावसिद्धिं परमां परैति ।। १ ।।

येन निश्रयेण येन ज्ञानेन येन मनसिकारेण तस्य प्रभावस्य समुदागमस्तं सन्दर्शयति ।। १ ।।

फलार्थमारभ्य श्लोकः—

येनार्यदिव्याप्रतिमैर्विहारैर्ब्राह्मैश्च नित्यं विहरत्युदारैः ।
बुद्धाँश्च सत्त्वाँश्च स दिक्षु गत्वा सम्मानयत्यानयते विशुद्धिम् ।। १ ।।

त्रिविधं फलमस्य प्रभावस्य सन्दर्शयति—आत्मन आर्यादिसुखविहारम्, अतुल्यं चोत्कृष्टं च लोकधात्वन्तरेषु गत्वा बुद्धानां पूजनम्, सत्त्वानां विशोधनं च ।। १ ।।

कर्मार्थं षड्विधमारभ्य चत्वारः श्लोकाः—

दर्शनकर्म सन्दर्शनकर्म चारभ्य श्लोकः—

मायोपमाम् पश्यति लोकधातून् सर्वान् ससत्त्वान् सविवर्तनाशान् ।
सन्दर्शयत्येव च तान् यथेष्टं वशी विचित्रैरपि स प्रकारैः ।। १ ।।

---

१. आवश्यकोऽयं पाठो मुद्रितपुस्तकयोर्नास्ति ।

[SL 26] स्वयं च सर्वलोकधातूनां ससत्त्वानां सविवर्तसंवर्तानां मायोपमत्वदर्शनात् । परेषां यथेष्टं तत्सन्दर्शनात् । अन्यैश्च विचित्रैः कम्पन-ज्वलनादिप्रकारैः, दशवशितालाभात् । यथा दशभूमिकेऽष्टम्यां भूमौ निर्दिष्टाः ॥ १ ॥

रश्मिकर्मारभ्य श्लोकः—

रश्मिप्रमोक्षैर्भृशदुःखिताँश्च आपायिकान् स्वर्गगतान् करोति ।
मारान्वयान् क्षुब्धविमानशोभान् सङ्कम्पयँस्त्रासयते समारान् ॥ २ ॥

द्विविधं रश्मिकर्म सन्दर्शयति—अपायोपपन्नानां च प्रसादं जनयित्वा स्वर्गोपपादनम्, मारभवनानां च समारकाणां कम्पनोद्वेजनम् ॥ २ ॥

विक्रीडनकर्म चारभ्य श्लोकः—

समाधिविक्रीडितमप्रमेयं सन्दर्शयत्यग्रगणस्य मध्ये ।
सकर्मजन्मोत्तमनिर्मितैश्च सत्त्वार्थमातिष्ठति सर्वकालम् ॥ ३ ॥

अप्रमेयसमाधिविक्रीडितसन्दर्शनात् बुद्धपर्षन्मण्डलमध्ये त्रिविधेन निर्माणेन सदा सत्त्वार्थकरणाच्च । त्रिविधं निर्माणम्—शिल्पकर्मस्थाननिर्माणम्, विनेयवशेन यथेष्टोपपत्तिनिर्माणम्, उत्तमनिर्माणं च तुषितभवनवासादिकम् ॥ ३ ॥

क्षेत्रपरिशुद्धिकर्म आरभ्य श्लोकः—

ज्ञानवशित्वात् समुपैति शुद्धिं क्षेत्रं यथाकामनिदर्शनाय ।
अबुद्धनामेषु च बुद्धनाम संश्रावणात्तान् क्षिपतेऽन्यधातौ ॥ ४ ॥

द्विविधपापविशोधनया । भाजनपरिशोधनया ज्ञानवशित्वाद् [SL 27] यथेष्टं स्फटिकवैदूर्यादिमयबुद्धक्षेत्रसंदर्शनतः । सत्त्वपरिशोधनया च बुद्धनामविरहितेषु लोकधातुषूपपन्नानां सत्त्वानां बुद्धनामसंश्रावणया प्रसादं ग्राहयित्वा लोकधातुषूपपादनात् ॥ ४ ॥

योगार्थमारभ्य श्लोकः—

शक्तो भवत्येव च सत्त्वपाके सञ्जातपक्षः शकुनिर्यथैव ।
बुद्धात् प्रशंसां लभतेऽतिमात्रामादेयवाक्यो भवति प्रजानाम् ॥ १ ॥

त्रिविधं योगं प्रदर्शयति—सत्त्वपरिपाचनशक्तियोगम्, प्रशंसायोगम्, आदेयवाक्यतायोगं च ॥ १ ॥

वृत्त्यर्थमारभ्य श्लोकः—

षड्वाप्यभिज्ञा त्रिविधा च विद्या अष्टौ विमोक्षाऽभिभुवस्तथाऽष्टौ ।
दशापि कृत्स्नायतनान्यमेयाः समाधयो धीरगतः प्रभावः ॥ १ ॥

षड्भिः प्रभेदैर्बोधिसत्त्वस्य प्रभावो वर्तते। अभिज्ञाविद्याविमोक्षाभिभ्वायतनकृत्स्नायतनाप्रमाणसमाधिप्रभेदैः ॥ १ ॥

एवं षडर्थेन विभागलक्षणेन प्रभावं दर्शयित्वा तन्माहात्म्योद्भावनार्थं श्लोकः—

स हि परमवशित्वलब्धबुद्धिर्जगदवशं स्ववशे विधाय नित्यम्।
परहितकरणैकताभिरामश्चरति भवेषु हि सिंहवत् सुधीरः ॥ १ ॥

त्रिविधं माहात्म्यं दर्शयति—१. वशितामाहात्म्यं स्वयं परमज्ञानवशित्वप्राप्त्या क्लेशास्ववशस्य जगतः स्ववशे स्थापनात्। २. अभिरतिमाहात्म्यं सदा परहितक्रियैकारामत्वात्। ३. भवनिर्भयतामाहात्म्यं च ॥ १ ॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे प्रभावाधिकारः सप्तमः ॥

अष्टमः परिपाकाधिकारः

बोधिसत्त्वपरिपाके सग्रह श्लोकः—

रुचिः प्रसादः प्रशमोऽनुकम्पना क्षमाऽथ मेधा प्रबलत्वमेव च ।
अहार्यताङ्गैः समुपेतता भृशं जिनात्मजे तत्परिपाकलक्षणम् ॥ १ ॥

[SL 28] रुचिर्महायानदेशनाधर्मे, प्रसादस्तद्देशिके, प्रशमः क्लेशानाम्, अनुकम्पा सत्त्वेषु, क्षमा दुष्करचर्यायाम्, मेधा ग्रहणधारणप्रतिवेधेषु, प्रबलत्व मधिगमे, अहार्यता मारपरप्रवादिभिः, प्रहाणिकाङ्गैः समन्वागतत्वम् । भृशमिति रुच्यादीनामधिमात्रत्वं दर्शयति । एष समासेन बोधिसत्त्वानां नवप्रकार आत्मपरिपाको वेदितव्यः ॥ १ ॥

रुचिपरिपाकमारभ्य श्लोकः—

सुमित्रतादित्रयमुग्रवीर्यता परार्थनिष्ठोत्तमधर्मसंग्रहः ।
कृपालुसद्धर्ममहापरिग्रहे मतं हि सम्यक्परिपाकलक्षणम् ॥ १ ॥

सुमित्रतादित्रयम्—सत्पुरुषसंसेवा.सद्धर्मश्रवणम्, योनिशोमनसिकारश्च । उग्रवीर्यता अधिमात्रो वीर्यारम्भः । परार्थनिष्ठा सर्वाचिन्त्यस्थाननिर्विचिकित्सता । उत्तमधर्मसंग्रहो महायानधर्मरक्षा, तत्प्रतिपन्नानामुपद्रवेभ्यो रक्षणात् ।

बोधिसत्त्वस्य महायानधर्मपरिग्रहमधिकृत्येदं रुचिपरिपाकलक्षणं वेदितव्यम् । येन कारणेन परिपच्यते सुमित्रतादित्रयेण, यश्च तस्याः परिपाक उग्रवीर्यपरार्थनिष्ठायुक्तः स्वभावः, यत् कर्म चोत्तमधर्मसंग्रहकरणात् तदेतेन परिदीपितम् ॥ १ ॥

प्रसादपरिपाकमारभ्य श्लोकः—

गुणज्ञताथाशु समाधिलाभिता फलानुभूतिर्मनसोऽध्यभेद्यता[१] ।
जिनात्मजे शास्तरि सम्प्रपत्तये मतं हि सम्यक्परिपाकलक्षणम् ॥ १ ॥

तत्परिपाकोऽपि कारणतः स्वभावतः कर्मतश्च परिदीपितः । गुणज्ञता इत्यपि "स भगवांस्तथागतः" इति विस्तरेण कारणम् । अवेत्यप्रसादलाभादभेद्यचित्तता[२] स्वभावः ।

---

१. ०भेदता–सि० ।

२. प्रभावलाभा०–सि० ।

आशुसमाधिलाभस्तत्फलस्य चाभिज्ञादिकस्य प्रत्यनुभवनं कर्म स्वभावः[१] ॥ १ ॥

प्रशमपाकमारभ्य श्लोकः—

सुसंवृतिः क्लिष्टवितर्कवर्जना निरन्तरायोऽथ शुभाभिरामता ।
जिनात्मजे क्लेशविनोदनाय तन् मतं हि सम्यक्परिपाकलक्षणम् ॥१॥

क्लेशविनोदना बोधिसत्त्वस्य प्रशमः । तत्परिपाकोऽपि कारणतः [SL 29] स्वभावतः कर्मतश्च परिदीपितः । इन्द्रियाणां स्मृतिसम्प्रजन्याभ्याम् सुसंवृतिः कारणम् । क्लिष्टवितर्कवर्जना स्वभावः । प्रतिपक्षभावनायां निरन्तरायत्वं कुशलाभिरामता च कर्म ॥ १ ॥

कृपापरिपाकलक्षणमधिकृत्य श्लोकः—

कृपा प्रकृत्या परदुःखदर्शनं निहीनचित्तस्य च सम्प्रवर्जनम् ।
विशेषगत्वं जगदग्रजन्मता परानुकम्पापरिपाकलक्षणम् ॥ १ ॥

स्वप्रकृत्या च गोत्रेण परदुःखदर्शनेन निहीनयानपरिवर्जनतया च परिपच्यत इति कारणम् । विशेषगामित्वं परिपाकवृद्धिगमनात् स्वभावः । सर्वलोकश्रेष्ठात्मभावता कर्म अविनिवर्तनीयभूमौ ॥ १ ॥

क्षान्तिपरिपाकलक्षणमारभ्य श्लोकः—

धृतिः प्रकृत्या प्रतिसंख्यभावना सुदुःखशीताद्यधिवासना सदा ।
विशेषगामित्वशुभाभिरामता मतं क्षमायाः परिपाकलक्षणम् ॥ १ ॥

घृतिः सहनं क्षान्तिरिति पर्यायाः । तत्परिपाके गोत्रं प्रतिसंख्यानं भावना च कारणम् । तीव्राणां शीतादिदुःखानामधिवासनास्वभावः । क्षमस्य विशेषगामित्वं कुशलाभिरामता च कर्म ॥ १ ॥

मेधापरिपाकमारभ्य श्लोकः—

विपाकशुद्धिः श्रवणाद्यमोषता प्रविष्टता सूक्तदुरुक्तयोस्तथा ।
स्मृतेर्महाबुद्ध्युदये च योग्यता सुमेधतायाः परिपाकलक्षणम् ॥ १ ॥

तत्र मेधानुकूला विपाकविशुद्धिः कारणम् । श्रुत चिन्तित-भावित-चिरकृत-चिरभाषितानामसम्मोषता, सुभाषित-दुर्भाषितार्थसुप्रविष्टता च स्मृतेर्मेधापरिपाकस्वभावः । लोकोत्तरप्रज्ञोत्पादनयोग्यता कर्म ॥ १ ॥

बलवत्त्वप्रतिलम्भपरिपाकमारभ्य श्लोकः—

शुभद्वयेन द्वयधातुपुष्टता फलोदये चाश्रययोग्यता परा ।
मनोरथाप्तिर्जगदग्रभूतता बलोपलम्भे परिपाकलक्षणम् ॥ १ ॥

---

१. स्वभाव इति सि० पुस्तके नास्ति ।

तत्र पुण्यज्ञानद्वयेन तस्य पुण्यज्ञानद्वयस्य बीजपुष्टता तत्परिपाके कारणम् । अधिगमं प्रत्याश्रययोग्यता तत्परिपाकस्वभावः । मनोरथसम्पत्तिर्जगदग्रभूतता च कर्म ॥ १ ॥

अहार्यतापरिपाकमारभ्य श्लोकः—

सुधर्मतायुक्तिविचारणाशयो विशेषलाभः परपक्षदूषणम् ।
पुनः सदा मारनिरन्तरायता अहार्यतायाः परिपाकलक्षणम् ॥ १ ॥

[SL 30] तत्परिपाकस्य सद्धर्मे युक्तिविचारणाकृत आशयः कारणम् । मारनिरन्तरायता स्वभावो यदा मारो न पुनः शक्नोत्यन्तरायं कर्तुम् । विशेषाधिगमः परपक्षदूषणं च कर्म ॥ १ ॥

प्रहाणिकाङ्गसमन्वागमपरिपाकमधिकृत्य श्लोकः—

शुभाचयोऽथाश्रययत्नयोग्यता विवेकतोदग्रशुभाभिरामता ।
जिनात्मजे ह्यङ्गसमन्वये पुनर्मतं हि सम्यक्परिपाकलक्षणम् ॥ १ ॥

तत्परिपाकस्य कारणं कुशलमूलोपचयः । आश्रयस्य वीर्यारम्भक्षमत्वं स्वभावः । विवेकोत्कृष्टा कुशलाभिरामता च कर्म ॥ १ ॥

नवविधात्मपरिपाकमाहात्म्यमारभ्य श्लोकः—

इति नवविधवस्तुपाचितात्मा परपरिपाचनयोग्यतामुपेतः ।
शुभधर्ममयसततप्रवर्धितात्मा भवति सदा जगतोऽग्रबन्धुभूतः ॥ १ ॥

द्विविधं तन्माहात्म्यम्—परपरिपाके प्रतिशरणत्वम्; सततं धर्मकायवृद्धिश्च । तत एव जगतोऽग्रबन्धुभूतः ॥ १ ॥

सत्त्वपरिपाकविभागे एकादश श्लोकाः—

व्रणेऽपि भोज्ये परिपाक इष्यते यथैव तत्स्रावणभोगयोग्यता ।
तथाश्रयेऽस्मिन् द्वयपक्षशान्ततां[1] तथोपभोगत्वमुशन्ति पक्वताम्[2] ॥ १ ॥

अनेन परिपाकस्वभावं दर्शयति । यथा व्रणस्य स्रावणयोग्यता परिपाकः, भोजनस्य च भोगयोग्यता; एवं सत्त्वानामाश्रये व्रणभोजनस्थानीये स्रावणस्थानीयं विपक्षशमनम् । भोगस्थानीयश्च प्रतिपक्षोपभोगः । तद्योग्यता आश्रयस्य परिपाक इति । विपक्षप्रतिपक्षावत्र पक्षद्वयं वेदितव्यम् ॥ १ ॥

द्वितीयश्लोकः—

विपाचनोक्ता परिपाचना तथा प्रपाचना चाप्यनुपाचनाऽपरा ।
सुपाचना[3] चाप्यधिपाचना[3] मता निपाचनोत्पाचनना च देहिषु ॥२॥

---

१. ०मक्षशान्तता–सि० । २. ०भोगत्वसुशान्तपक्षता–सि० ।
३-३. सुपाचनाप्यधि०–सि० ।

अनेन परिपाकप्रभेदं दर्शयति—१. क्लेशविगमेन पाचना[1] विपाचना। २. सर्वतो यानत्रयेण पाचना परिपाचना। ३. बाह्यपरिपाकविशिष्टत्वात् प्रकृष्टा पाचना प्रपाचना। ४. यथाविनेयधर्मदेशनात् तदनुरूपा पाचना अनुपाचना। ५. सत्कृत्य पाचना सुपाचना। ६. अधिगमेन पाचना अधि-[SL31] पाचना अविपरीतार्थेन। ७. नित्या पाचना निपाचना अपरिहाणी-यार्थेन। ८. क्रमेणोत्तरोत्तरपाचना उत्पाचना। इत्ययमष्टप्रकारः परपरिपाकप्रभेदः ॥ २ ॥

तृतीयचतुर्थौ श्लोकौ—

हिताशयेनेह यथा जिनात्मजो व्यवस्थितः सर्वजगद् विपाचयन्।
तथा न माता न पिता न बन्धवः सुतेषु बन्धुष्वपि सुव्यवस्थिताः ॥ ३ ॥
तथा जनो नात्मनि वत्सलो मतः कुतोऽपि सुस्निग्धपराश्रये जने !
यथा कृपात्मा परसत्त्ववत्सलो हिते सुखे चैव नियोजनान्मतः ॥ ४ ॥

आभ्यां किं दर्शयति ? यादृशेनाशयेन बोधिसत्त्वः सत्त्वान् परिपाचयति तमाशयं दर्शयति। मातापितृबान्धवाशयविशिष्टं लोकात्मवात्सल्यविशिष्टं च हितसुखसंयोजनात्। आत्मवत्सलस्तु लोक आत्मानं हिते च सुखे च सन्नियोजयति ॥ ३-४ ॥

अवशिष्टैः श्लोकैर्येन प्रयोगेण सत्त्वान् परिपाचयति, तं पारमिताप्रति-पत्त्या सन्दर्शयति।

यादृशेन दानेन यथा सत्त्वान् परिपाचयति तदारभ्य श्लोकः—

न बोधिसत्त्वस्य शरीरभोगयोः परेष्वदेयं पुनरस्ति सर्वथा।
अनुग्रहेण द्विविधेन पाचयन् परं समैर्दानगुणैर्न तृप्यते ॥ ५ ॥

त्रिविधेन दानेन पाचयति—सर्वस्वशरीरभोगदानेन, अविषमदानेन, अतृप्तिदानेन च। कथं परिपाचयति ? दृष्टधर्मसम्परायानुग्रहेण। अविघाते-नेच्छापूरणात्[2]। तेन[3] च संगृह्य कुशलप्रतिष्ठापनात् ॥ ५ ॥

यादृशेन शीलेन यथा सत्त्वान् परिपाचयति तदारभ्य श्लोकः—

सदा प्रकृत्याध्यविहिंसकः स्वयं रतोऽप्रमत्तोऽत्र परं निवेशयन्।
परम्परानुग्रहकृद् द्विधा परे विपाकनिष्यन्दगुणेन पाचकः ॥ ६ ॥

पञ्चविधेन शीलेन। ध्रुवशीलेन प्रकृतिशीलेन परिपूर्णशीलेनाध्यविहिंस-कत्वात्। परिपूर्णो ह्यविहिंसकोऽध्यविहिंसको दशकुशलकर्मपथपरिपूरितः। यथोक्तं द्वितीयायां भूमौ। अधिगमशीलेन स्वयंरततया निरन्तरास्खलित-शीलेन चाप्रमत्ततया। कथं च परिपाचयति ? शीले संनिवेशनात्।

---

१. पाचनना–सि०। २. परिपूर्णात्। ३. अनागतेन–सि०।

द्विधानुग्रहक्रियया दृष्टधर्मे सम्पराये च। सम्परायानुग्रहं परेषु [SL 32] विपाकनिष्यन्दगुणाभ्यां परम्परया करोति। तद्विपाकनिष्यन्दयोरन्योन्यानुकूल्येनाव्यवच्छेदात् ॥ ६ ॥

यादृश्या क्षान्त्या यथा सत्त्वान् परिपाचयति तदारभ्य श्लोकः—

परेऽपकारिण्युपकारिबुद्धिमान् प्रमर्षयन्नुग्रमपि व्यतिक्रमम्।
उपायचित्तैरपकारमर्षणैः शुभे समादापयतेऽपकारिणः ॥ ७ ॥

अपकारिणि परे उपकारिबुद्ध्या प्रगाढापकारमर्षणक्षान्त्या परिपाचयति। उपकारिबुद्धित्वं पुनः क्षान्तिपारमितापरिपूर्यानुकूल्यवृत्तिता वेदितव्यम्। कथं परिपाचयति ? दृष्टधर्मानुग्रहेण चापकारमर्षणात्। सम्परायानुग्रहेण चोपायज्ञस्तैरपकारमर्षणैरावर्ज्यापकारिणां कुशले समादापनात् ॥ ७ ॥

यादृशेन वीर्येण तथा सत्त्वान् परिपाचयति तदारभ्य श्लोकः—

पुनः स यत्नं परमं समाश्रितो न खिद्यते कल्पसहस्रकोटिभिः।
जिनात्मजः सत्त्वगणं[1] प्रपाचयन् परैकचित्तस्य शुभस्य कारणात् ॥ ८ ॥

अधिमात्रदीर्घकालाखेदे वीर्येण दीर्घकालाखेदित्वमनन्तसत्त्वपरिपाचनात् परैकचित्तस्य कुशलस्यार्थे कल्पससहस्रकोटिभिरखेदात्। अत एवोक्तं भवति—यथा परिपाचयति कुशलचिसन्नियोजनात् दृष्टधर्मसम्परायानुग्रहेणेति ॥ ८ ॥

यादृशेन ध्यानेन यथा सत्त्वान् परिपाचयति तदारभ्य श्लोकः—

वशित्वमागम्य मनस्यनुत्तरं परं समावर्जयतेऽत्र शासने।
निहत्य सर्वामिवमानकामतां शुभेन संवर्धयते च तं पुनः ॥ ९ ॥

प्राप्तानुत्तरवशित्वेन ध्यानेन निरामिषेण च निहतसर्वविमानाभिलाषेण परिपाचयति। बुद्धशासने परस्यावर्जनादावर्जितस्य च कुशलधर्मसंवर्धनात् परिपाचयति ॥ ९ ॥

यादृश्या प्रज्ञया यथा सत्त्वान् परिपाचयति तदारभ्य श्लोकः—

स तत्त्वभावार्थनये सुनिश्चितः करोति सत्त्वान् सुविनीतसंशयान्।
ततश्च ते तज्जिनशासनादराद् विवर्धयन्ते स्वपरं गुणैः शुभैः ॥ १० ॥

स बोधिसत्त्वस्तत्त्वार्थनये चाभिप्रायार्थनये च सुविनिश्चितया [SL 33]

---

१. सगणं–सि०।

प्रज्ञया परिपाचयति । कथं परिपाचयति ? सत्त्वानां संशयविनाशात् । ततश्च शासनबहुमानात् तेषामात्मपरगुणसंवर्धकत्वेन ॥ १० ॥

निगमनश्लोकः[१]—

इति सुगतिगतौ शुभत्रये वा जगदखिलं कृपया स बोधिसत्त्वः ।
तनुपरमविमध्यमप्रकारैर्विनयति लोकसमानभावगत्या ॥ ११ ॥

अनेन यत्र च विनयति—सुगतिगमने, यानत्रये वा; यच्च विनयति—जगदखिलम्; येन च विनयति-कृपया; यश्च विनयति-बोधिसत्त्वः; यादृशैश्च परिपाचनप्रकारैः-तनुपरमविमध्यमप्रकारैः; यावन्तं च कालम् तत्परिदीपनात् समासेन परिपाकमाहात्म्यं दर्शयति । तत्र तनुः प्रकारोऽधिमुक्तिचर्याभूमौ बोधिसत्त्वस्य परमोऽष्टम्यादिषु विमध्यमः सप्तसु वेदितव्यः । यावल्लोकस्य भावस्तत्समानया गत्या अत्यन्तमित्यर्थः ॥ ११ ॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे परिपाकाधिकारोऽष्टमः ॥

१. नियमनश्लोकः—सि० ।

९

नवमो बोध्यधिकारः

सर्वाकारज्ञतायां द्वौ श्लोकौ, तृतीयस्तयोरेव निर्देशभूतः—

अनेयैर्दुष्करशतैरमेयैः कुशलाचयैः ।
अप्रमेयेण कालेन अमेयावरणक्षयात् ।। १ ।।
सर्वाकारज्ञतावाप्तिः सर्वावरणनिर्मला ।
विवृता रत्नपेटेव बुद्धत्वं समुदाहृतम् ।। २ ।।
कृत्वा दुष्करमद्भुतं श्रमशतैः संचित्य सर्वं शुभं
कालेनोत्तमकल्पयानमहता सर्वावृतीनां क्षयात् ।
सूक्ष्मस्यावरणस्य भूमिषु गतस्योत्पाटनाद् बुद्धता
रत्नानामिव सा प्रभावमहतां पेटा समुद्घाटिता[1] ।। ३ ।।

समुदागमतः स्वभावतः औपम्यतश्च बुद्धत्वमुद्भावितम् । यावद्भिर्दुष्करशतैर्यावद्भिः कुशलसंभारैर्यावता कालेन यावतः क्लेशज्ञेयावरणस्य प्रहाणात् समुदागच्छति, अयं समुदागमः । सर्वाकारज्ञतावाप्तिः सर्वावरणनिर्मला स्वभावः । विवृता रत्नपेटा तदौपम्यम् ।। १-३ ।। [SL 34]

तस्यैव बुद्धत्वस्याद्वयलक्षणे सानुभावे द्वौ श्लोकौ[2]—

सर्वधर्माश्च बुद्धत्वं धर्मो नैव च कश्चन ।
शुक्लधर्ममयं तच्च न तैस्तन्निरूप्यते ।। १ ।।
धर्मरत्ननिमित्तत्वाल्लब्धरत्नाकरोपमम् ।
शुभसस्यनिमित्तत्वाल्लब्धमेघोपमं मतम् ।। २ ।।

सर्वधर्माश्च बुद्धत्वम्; तथताया अभिन्नत्वात्, तद्विशुद्धिप्रभावितत्वाच्च । बुद्धत्वस्य न च कश्चिधर्मोऽस्ति । परिकल्पितेन धर्मस्वभावेन शुक्लधर्ममयं च बुद्धत्वम्, पारमितादीनां कुशलानां तद्भावेन परिवृत्तेः । न च तैस्तन्निर्दिश्यते, पारमितादीनां पारमितादिभावेनापरिनिष्पत्तेरिदमद्वयलक्षणम् । रत्नाकरमेघोपमत्वमनुभावः; देशनाधर्मरत्नानां तत्प्रभवत्वात्, कुशलसस्यानां च विनेयसन्तानक्षेत्रेषु ।। १-२ ।।

बुद्धत्वं सर्वधर्मैः समुदितमथ वा सर्वधर्मव्यपेतम्,
प्रोद्भूतेर्धर्मरत्नप्रततसमुहतो धर्मरत्नाकराभम् ।

---

१. समुद्घातिता–सि० । २. लोकौ–मुद्रितोऽपपाठः ।

भूतानां शुक्लसस्यप्रसवसुमहतो हेतुतो मेघभूतम्,
दानाद्धर्माम्बुवर्षप्रततसुविहितस्याक्षयस्य प्रजासु ॥ ३ ॥

—अनेन तृतीयेन श्लोकेन तमेवार्थं निर्दिशति । सुमहतः प्रततस्य धर्मरत्नस्य प्रोद्भूतेर्निमित्तत्वाद्रत्नाकराभम्, भूतानां महतः शुक्लसस्यप्रसवहेतुत्वान्मेघभूतम् । महतः सुविहितस्याक्षयस्य धर्माम्बुवर्षस्य दानात् प्रजासु-- इत्ययमत्र पदविग्रहो वेदितव्यः ॥ ३ ॥

तस्यैव बुद्धत्वस्य शरणत्वानुत्तर्ये पञ्च श्लोकाः—

परित्राणं हि बुद्धत्वं सर्वक्लेशगणात् सदा ।
सर्वदुश्चरितेभ्यश्च जन्ममरणतोऽपि च ॥ १ ॥

—अनेन संक्षेपतः क्लेशकर्मजन्मसंक्लेशपरित्राणार्थेन शरणत्वं दर्शयति ॥

उपद्रवेभ्यः सर्वेभ्यो अपायादनुपायतः ।
सत्कायाद्धीनयानाच्च तस्माच्छरणमुत्तमम् ॥ २ ॥

[SL 35] अनेन द्वितीयेनोपद्रवादिपरित्राणाद्विस्तरेण । तत्र १. सर्वोपद्रवपरित्राणत्वं यद् बुद्धानुभावेन अन्धाश्चक्षूंषि प्रतिलभन्ते, बधिराः श्रोत्रम्[1], विक्षिप्तचित्ताः स्वस्थचित्तम्, ईतयः शाम्यन्तीत्येवमादि । २. अपायपरित्राणत्वं बुद्धप्रभया तद्गतानां मोक्षणात्, तदगमने च प्रतिष्ठापनात् । ३. अनुपायपरित्राणत्वं तीर्थिकदृष्टिव्युत्थापनात् । ४. सत्कायपरित्राणत्वं यानद्वयेन परिनिर्वापणात् । ५. हीनयानपरित्राणत्वमनियतगोत्राणां महायानैकायनीकरणात् ॥ २ ॥

शरणमनुपमं तच्छ्रेष्ठबुद्धत्वमिष्टं जननमरणसर्वक्लेशपापेषु रक्षा ।
विविधभयगतानां सर्वरक्षापयानं प्रततविविधदुःखापायनोपायगानाम् ॥३॥

—अनेन तृतीयेन तस्यैव शरणत्वस्यानुपमश्रेष्ठस्य चानुत्तर्यं तेनैवार्थेन दर्शयति ॥ ३ ॥

बौद्धैर्धर्मैर्यच्च सुसम्पूर्णशरीरं यत्सद्धर्मे वेत्ति सत्त्वान् प्रविनेतुम् ।
यातं पारं यत्कृपया सर्वजगत्सु तद् बुद्धत्वं श्रेष्ठमिहेष्टं[2] शरणानाम् ॥४॥

—अनेन चतुर्थेन यैः कारणैस्तत्तथानुत्तरं शरणं भवति तत्सन्दर्शयति । बौद्धैर्धर्मैर्बलवैशारद्यादिभिः सुसम्पूर्णस्वभावत्वात् स्वार्थनिष्ठामधिकृत्य सद्धर्मसत्त्वविनयोपायज्ञानात् करुणापारगमनाच्च परार्थनिष्ठामधिकृत्य ॥४॥

आकालात्[3] सर्वसत्त्वानां बुद्धत्वं शरणं महत् ।
सर्वव्यसनसम्पत्तिव्यावृत्त्यभ्युदये मतम् ॥ ५ ॥

---

१. श्रोतं–मि० । २. ०मिहत्यं–सि० । ३. आलोकात्–सी० ।

अनेन पञ्चमेन श्लोकेन यावन्तं कालं यावतां सत्त्वानां यत्रार्थे शरणं भवति तत्समासेन दर्शयति। यत्रार्थे इति सर्वव्यसनव्यावृत्तौ च ॥ ५ ॥

आश्रयपरावृत्तौ षट् श्लोकाः—

क्लेशज्ञेयवृत्तीनां सततमनुगतं बीजमुत्कृष्टकालं
यस्मिन्नस्तं प्रयातं भवति सुविपुलैः सर्वहानिप्रकारैः।
बुद्धत्वं शुक्लधर्मप्रवरगुणयुता चाश्रयस्यान्यथाप्ति-
स्तत्प्राप्तिर्निर्विकल्पाद्विषयसुमहतो ज्ञानमार्गात् सुशुद्धात् ॥ १ ॥

अनेन विपक्षबीजवियोगतः प्रतिपक्षसंपत्तियोगतश्चाश्रयपरिवृत्तिः [SL36] परिदीपिता। यथा च तत्प्राप्तिर्द्विविधमार्गलाभात्। सुविशुद्धलोकोत्तरज्ञानमार्गलाभात्। तत्पृष्ठलब्धानन्तज्ञेयविषयज्ञानमार्गलाभाच्च। उत्कृष्टकालमिति। अनादिकालम्। सुविपुलैः सर्वहानिप्रकारैरिति भूमिप्रकारैः ॥ १ ॥

स्थितश्च तस्मिन्स तथागतो जगन्महाचलेन्द्रस्थ इवाभ्युदीक्षते।
शमाभिरामं करुणायते जनं भवाभिरामेऽन्यजने[1] तु का कथा ॥२॥

अनेन द्वितीयेनान्याश्रयपरावृत्तिभ्यस्तद्विशेषं दर्शयति। तत्स्थो हि महाचलेन्द्रस्थ इव दूरान्तरनिकृष्टं लोकं पश्यति। दृष्ट्वा च करुणायते श्रावकप्रत्येकबुद्धानपि प्रागेव तदन्यान् ॥ २ ॥

प्रवृत्तिरुद्वृत्तिरवृत्तिराश्रयो निवृत्तिरावृत्तिरथो द्वयाऽद्वया।
समाविशिष्टा अपि सर्वगात्मिका तथागतानां परिवृत्तिरिष्यते ॥३॥

अनेन तृतीयेन तद्दशप्रभेदं दर्शयति। सा हि तथागतानां परिवृत्तिः परार्थवृत्तिरिति प्रवृत्तिः। सर्वधर्मविशिष्टत्वादुत्कृष्टा वृत्तिरित्युद्वृत्तिः। संक्लेशहेताववृत्तिः। आश्रय इति योऽसौ परिवृत्त्याश्रयस्तं दर्शयति। संक्लेशान्निवृत्तितो निवृत्तिः। आत्यन्तिकत्वादायता वृत्तिरित्यावृत्तिः। अभिसम्बोधिपरिनिर्वाणदर्शनवृत्त्या द्वया वृत्तिः। संसारनिर्वाणाप्रतिष्ठितत्वात् संस्कृतत्वेनाद्वया वृत्तिः। विमुक्तिसामान्येन श्रावकप्रत्येकबुद्धसमा वृत्तिः। बलवैशारद्यादिभिः बुद्धधर्मैरसमत्वाद्विशिष्टा वृत्तिः। सर्वयानोपदेशगतत्वात् सर्वगता वृत्तिः ॥ ३ ॥

यथाम्बरं सर्वगतं सदामतं तथैव तत् सर्वगतं सदामतम्।
यथाम्बरं रूपगणेषु सर्वगं तथैव तत् सत्त्वगणेषु सर्वगम् ॥४॥

अनेन चतुर्थेन तत्स्वभावस्य बुद्धत्वस्य सर्वगत्वं दर्शयति। आकाशसा-

---

[1] भवाभिरामे०—सि०।

धर्म्येणोद्देशनिर्देशतः पूर्वापराधभ्याम्। सत्त्वगणेषु सर्वगतत्वं बुद्धत्वस्यात्मत्वेन सर्वसत्त्वोपगमने परिनिष्पत्तितो वेदितव्यम् ॥ ४ ॥

यथोदभाजने भिन्ने चन्द्रबिम्बं न दृश्यते।
तथा दुष्टेषु सत्त्वेषु बुद्धबिम्बं न दृश्यते ॥ ५ ॥

[SL 37] अनेन पञ्चमेन सर्वगतत्वेऽप्यभाजनभूतेषु सत्त्वेषु अबुद्धबिम्बदर्शनं दृष्टान्तेन साधयति ॥ ५ ॥

यथाग्निर्ज्वलतेऽन्यत्र पुनरन्यत्र शाम्यति।
बुद्धेष्वपि तथा ज्ञेयं सन्दर्शनमदर्शनम् ॥ ६ ॥

अनेन षष्ठेन बुद्धविनेयेषु सत्सु बुद्धोत्पादात् तद्दर्शनम्। विनीतेषु परिनिर्वाणात्तददर्शनं अग्निज्वलनशमनसाधर्म्येण साधयति ॥ ६ ॥

अनाभोगाप्रतिप्रस्रब्धबुद्धकार्यत्वे चत्वारः श्लोकाः—

अघटितेभ्यस्तूर्येभ्यो यथा स्याच्छब्दसम्भवः।
तथा जिने विनाभोगं देशनायाः समुद्भवः ॥ १ ॥
यथा मणेर्विना यत्नं स्वप्रभासनिदर्शनम्[१]।
बुद्धेष्वपि विनाभोगं तथा कृत्यनिदर्शनम् ॥ २ ॥

आभ्यां श्लोकाभ्यामनाभोगेन बुद्धकार्यं साधयत्यघटिततूर्यशब्दमणिप्रभाससाधर्म्येण[१] ॥ २ ॥

यथाकाशे अविच्छिन्ना दृश्यन्ते लोकतः क्रियाः।
तथैवानास्रवे धातौ अविच्छिन्ना जिनक्रियाः ॥ ३ ॥
यथाकाशे क्रियाणां हि हानिरभ्युदयः सदा।
तथैवानास्रवे धातौ बुद्धकार्योदयव्ययः ॥ ४ ॥

आभ्यामप्यप्रतिप्रस्रब्धबुद्धकार्यत्वम्, बुद्धकृत्यस्याविच्छेदात्। आकाश इव लोकक्रियाणामविच्छेदेऽपि चान्यान्यक्रियोदयव्ययस्तथैव ॥ ३-४ ॥

अनास्रवधातुगाम्भीर्ये षोडश श्लोकाः—

पौर्वापर्याविशिष्टापि[२] सर्वावरणनिर्मला।
न शुद्धा नापि चाशुद्धा तथता बुद्धता मता ॥ १ ॥

पौर्वापर्येणाविशिष्टत्वान्न[३] शुद्धा। पश्चात् सर्वावरणनिर्मलत्वान्नाशुद्धा; मलविगमात् ॥ १ ॥

---

१. ०प्रभाव०—सि०। २. पौर्वापर्यविशिष्टापि—सि०।
३. पौर्वापर्येण०—सि०।

शून्यतायां विशुद्धायां नैरात्म्यान्मार्गलाभतः।
बुद्धाः शुद्धात्मलाभित्वात् गता आत्ममहात्मताम् ॥ २ ॥

तत्र चानास्रवे धातौ बुद्धानां परमात्मा निर्दिश्यते। किं [SL 38] कारणम्? अग्रनैरात्म्यात्मकत्वात्। अग्रं नैरात्म्यं विशुद्धा तथता, सा च बुद्धानामात्मा। स्वभावार्थेन तस्यां विशुद्धायामग्रं नैरात्म्यमात्मानं बुद्धा लभन्ते शुद्धम्। अतः शुद्धात्मलाभित्वात् बुद्धा आत्ममाहात्म्यं प्राप्ताः इत्यनेनाभिसन्धिना बुद्धानामनास्रवे धातौ परमात्मा व्यवस्थाप्यते ॥ २ ॥

न भावो नापि चाभावो बुद्धत्वं तेन कथ्यते।
तस्माद् बुद्धतथाप्रश्ने अव्याकृतनयो मतः ॥ ३ ॥

तेनैव कारणेन बुद्धत्वं न भाव उच्यते, पुद्गलधर्माभावलक्षणत्वात् तदात्मकत्वाच्च बुद्धत्वस्य। नाभाव उच्यते, तथतालक्षणभावात्। अतो बुद्धस्य भावाभावप्रश्ने, "भवति तथागतः परं मरणान्न भवति" इत्येवमादिरव्याकृतनयो मतः ॥ ३ ॥

दाहशान्तिर्यथा लोहे दर्शने तिमिरस्य च।
चित्तज्ञाने तथा बौद्धे भावाभावो न शस्यते ॥ ४ ॥

यथा च लोहे दाहशान्तिर्दर्शने च तिमिरमेतस्य शान्तिर्न भावः, दाहतिमिरयोरभावलक्षणत्वात्। नाभावः, शान्तिलक्षणेन भावात्। एवं बुद्धानां चित्तज्ञाने च दाहतिमिरस्थानीययो रागाविद्ययोः शान्तिर्न भावः शस्यते, तदभावप्रभावितत्वाच्चेतःप्रज्ञाविमुक्त्या नाभावः; तेन तेन विमुक्तिलक्षणेन भावात् ॥ ४ ॥

बुद्धानाममले धातौ नैकता बहुता न च।
आकाशवददेहत्वात् पूर्वदेहानुसारतः ॥ ५ ॥

बुद्धानामनास्रवधातौ नैकत्वम्, पूर्वदेहानुसारेण न बहुत्वम्, देहाभावादाकाशवत् ॥ ५ ॥

बलादिबुद्धधर्मेषु बोधिरत्नाकरोपमा।
जगत्कुशलसस्येषु महामेघोपमा मता ॥ ६ ॥
पुण्यज्ञानसुपूर्णत्वात् पूर्णचन्द्रोपमा मता।
ज्ञानालोककरत्वाच्च महादित्योपमा मता ॥ ७ ॥

एतौ रत्नाकरमेघोपमत्वे पूर्णचन्द्रमहादित्योपमत्वे च [SL 39] श्लोकौ गतार्थौ ॥ ६-७ ॥

अमेया रश्मयो यद्वद्व्यामिश्रा भानुमण्डले।
सदैककार्या वर्तन्ते लोकमालोकयन्ति च ॥ ८ ॥

तथैवानास्रवे धातौ बुद्धानामप्रमेयता।
मिश्रैककार्या कृत्येषु ज्ञानालोककरा मता ॥ ९ ॥

एकेन व्यामिश्ररश्म्येककार्यस्योपमतया साधारणकर्मतां दर्शयति। रश्मीनामेककार्यत्वं पाचनशोषणसमानकार्यत्वाद् वेदितव्यम्। द्वितीयेनानास्रवे धातौ मिश्रैककार्यत्वं निर्माणादिकृत्येषु ॥ ८–९ ॥

यथैकरश्मिनिःसारात् सर्वरश्मिविनिःसृतिः।
भानोस्तथैव बुद्धानां ज्ञेया ज्ञानविनिःसृतिः ॥ १० ॥

एककाले सर्वरश्मिविनिःसृत्या स च बुद्धानामेककाले ज्ञानप्रवृत्तिं दर्शयति ॥ १० ॥

यथैवादित्यरश्मीनां वृत्तौ नास्ति ममायितम्।
तथैव बुद्धज्ञानानां वृत्तौ नास्ति ममायितम् ॥ ११ ॥
यथा सूर्यैकमुक्ताभै रश्मिभिर्भास्यते जगत्।
सकृत् ज्ञेयं तथा सर्वं बुद्धज्ञानैः प्रभास्यते ॥ १२ ॥

ममत्वाभावे जगज्ज्ञेयप्रभासने[1] च यथाक्रमं श्लोकौ गतार्थौ ॥११–१२॥

यथैवादित्यरश्मीनां मेघाद्यावरणं मतम्।
तथैव बुद्धज्ञानानामावृतिः सत्त्वदुष्टता ॥ १३ ॥

यथा रश्मीनां मेघाद्यावरणमप्रभासेन, तथा बुद्धज्ञानानामावरणं सत्त्वानामभाजनत्वेन[2] दुष्टता पञ्चकषायात्युत्सदतया ॥ १३ ॥

यथा पांशुवशाद्वस्त्रे रङ्गचित्राऽविचित्रता।
तथाऽवेधवशान्मुक्तौ ज्ञानचित्राऽविचित्रता ॥ १४ ॥

[SL 40]　यथा पांशुविशेषेण वस्त्रे रङ्गविचित्रता क्वचिदविचित्रता। तथैव पूर्वप्रणिधानचर्याबलाधानविशेषाद् बुद्धानां विमुक्तौ ज्ञानविचित्रता भवति ॥ १४ ॥

श्रावकप्रत्येकबुद्धानां विमुक्तावविचित्रता।
गाम्भीर्यममले धातौ लक्षणस्थानकर्मसु।
बुद्धानामेतमुदितं रङ्गैर्वाकाशचित्रणा ॥१५॥

एतदनास्रवधातौ बुद्धानां त्रिविधं गाम्भीर्यमेवमुक्तम्। लक्षणगाम्भीर्यं चतुर्भिः श्लोकैः, स्थानगाम्भीर्यं पञ्चमेन, एकत्वपृथक्त्वाभ्यामस्थितत्वात्। कर्मगाम्भीर्यं दशभिः। तत् पुनर्लक्षणगाम्भीर्यं विशुद्धिलक्षणं परमात्मलक्षणम-

---

१. प्रभासेन–सि०।　　२. सत्त्वानामाभाजनत्वेन–सि०।

व्याकृतलक्षणं विमुक्तिलक्षणम् चारभ्योक्तम्। कर्मगाम्भीर्यं बोधिपक्षादि-रत्नाश्रयत्वकर्म सत्त्वपरिपाचनकर्म निष्ठागमनकर्म धर्मदेशनाकर्म निर्माणादिकृत्यकर्म ज्ञानप्रवृत्तिकर्म अविकल्पनकर्म चित्राकारज्ञानकर्म ज्ञानाप्रवृत्ति-कर्म विमुक्तिसामान्यज्ञानविशेषकर्म चारभ्योक्तम्। सेयमनास्रवे धातौ निष्प्रपञ्चत्वादाकाशोपमे गाम्भीर्यप्रभेददेशना यथा रङ्गैराकाशचित्रणी वेदितव्या ॥ १५ ॥

सर्वेषामविशिष्टापि तथता शुद्धिमागता।
तथागतत्वं तस्माच्च तद्गर्भाः सर्वदेहिनः ॥ १६ ॥

सर्वेषां निर्विशिष्टा तथता, तद्विशुद्धिस्वभावश्च तथागतः। अतः सर्वे सत्त्वास्तथागतगर्भा इत्युच्यते ॥ १६ ॥

विभुत्वविभागे श्लोका एकादश—

श्रावकाणां विभुत्वेन लौकिकस्याभिभूयते।
प्रत्येकबुद्धभौमेन श्रावकस्याभिभूयते ॥ १ ॥
बोधिसत्त्वविभुत्वस्य तत्कलां नानुगच्छति।
तथागतविभुत्वस्य तत्कलां नानुगच्छति ॥ २ ॥

आभ्यां तावद् द्वाभ्यां प्रभावोत्कर्षविशेषेण बुद्धानां विभुत्वं दर्शयति ॥ १-२ ॥

अप्रमेयमचिन्त्यं च विभुत्वं बौद्धमिष्यते।
यस्य यत्र यथा यावत्काले यस्मिन् प्रवर्तते ॥ ३ ॥

अनेन तृतीयेन प्रकारप्रभेदगाम्भीर्यविशेषाभ्यां कथमप्रमेयं कथं वाऽचिन्त्यम् ? इत्याह— यस्य पुद्गलस्यार्थे तत् प्रवर्तते यत्र लोकधातौ [SL 41] यथा तादृशैः प्रकारैर्यावदल्पं वा बहु वा यस्मिन् काले ॥ ३ ॥

अवशिष्टैः श्लोकैः परावृत्तिभेदेन[1] विभुत्वभेदं दर्शयति—

पञ्चेन्द्रियपरावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
सर्वार्थवृत्तौ सर्वेषां गुणद्वादशशतोदये ॥ ४ ॥

पञ्चेन्द्रिपरावृत्तौ द्विविधं विभुत्वं परमं लभ्यते। सर्वेषां पञ्चानामिन्द्रियाणां सर्वपदार्थवृत्तौ। तत्र प्रत्येकं द्वादशगुणशतोत्पत्तौ ॥ ४ ॥

मनसोऽपि परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
विभुत्वानुचरे ज्ञाने निर्विकल्पे सुनिर्मले ॥ ५ ॥

---

१. मनोवृत्तिभेदेन–सि०।

मनसः परावृत्तौ विभुत्वानुवरे निर्विकल्पे सुविशुद्धे ज्ञाने परमं विभुत्वं लभ्यते। येन सहितं सर्वं विभुत्वज्ञानं प्रवर्तते ॥ ५ ॥

सार्थोद्ग्रहपरावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
क्षेत्रशुद्धौ यथाकामं भोगसन्दर्शनाय हि ॥ ६ ॥

अर्थपरावृत्तौ उद्ग्रहपरावृत्तौ च क्षेत्रविशुद्धिविभुत्वं परमं लभ्यते, येन यथाक्रमं भोगसन्दर्शनं करोति ॥ ६ ॥

विकल्पस्य परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
अव्याघाते सदाकालं सर्वेषां ज्ञानकर्मणाम् ॥ ७ ॥

विकल्पपरावृत्तौ सर्वेषां ज्ञानानां कर्मणां च सर्वकालमव्याघाते परमं विभुत्वं लभ्यते ॥ ७ ॥

प्रतिष्ठायाः परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
अप्रतिष्ठितनिर्वाणं बुद्धानाममले पदे ॥ ८ ॥

प्रतिष्ठापरावृत्तावप्रतिष्ठितनिर्वाणं परमं विभुत्वं लभ्यते, बुद्धानामनास्रवे धातौ ॥ ८ ॥

मैथुनस्य परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
बुद्धसौख्यविहारेऽथ दाराऽसंक्लेशदर्शने ॥ ९ ॥

[SL 42] मैथुनस्य परावृत्तौ द्वयोर्बुद्धसुखविहारे च दाराऽसंक्लेशदर्शने च ॥ ९ ॥

आकाशसंज्ञाव्यावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
चिन्तितार्थसमृद्धौ च गतिरूपविभावने ॥ १० ॥

आकाशसंज्ञाव्यावृत्तौ द्वयोरेव चिन्तितार्थसमृद्धौ च येन गगनगर्भो भवति। गतिरूपविभावने च यथेष्टगमनाद्, आकाशीकरणाच्च[1] ॥ १० ॥

इत्यमेयपरावृत्तावमेयविभुता मता।
अचिन्त्यकृत्यानुष्ठानाद् बुद्धानाममलाश्रये ॥ ११ ॥ इति।

अनेन मुखेनाप्रमेया परावृत्तिः। तत्र चाप्रमेयं विभुत्वमचिन्त्यकर्मानुष्ठानं बुद्धानामनास्रवे धातौ वेदितव्यम् ॥ ११ ॥

तस्यैव बुद्धस्य सत्त्वपरिपाकनिमित्तत्वे सप्त श्लोकाः—

शुभे वृद्धो लोको व्रजति सुविशुद्धौ परमताम्,
शुभे चानारब्ध्वा व्रजति शुभवृद्धौ परमताम्।

---

१. ०मनादाशवसी०—सि०।

व्रजत्येवं लोको दिशि दिशि जिनानां सुकथितै-
रपक्वः पक्वो वा न च[1] पुनरशेषं ध्रुवमिह ॥ १ ॥

—अनेन यादृशस्य परिपाकस्य निमित्तं भवति तद्दर्शयति। उपचित-कुशलमूलानां च विमुक्तौ परमतायाम्, अनुपचितकुशलमूलानां च कुशल-मूलोपचये। अपक्वः शुभवृद्धौ परमतां व्रजन्[2] पाकं व्रजति, पक्वः सुविशुद्धौ परमतां व्रजति। एवं च नित्यकालं व्रजति, न च निःशेषम्, लोकस्या-नन्तत्वात् ॥ १ ॥

तथा कृच्छ्रावाप्यां[3] परमगुणयोगाद्भुतवतीं
महाबोधिं नित्यां ध्रुवमशरणानां च शरणम्।
लभन्ते यद्धीरा दिशि[4] दिशि[4] सदा[5] सर्वसमयं
तदाश्चर्यं लोके सुविधिचरणान्नाद्भुतमपि ॥ २ ॥

—अनेन द्वितीयेन परिपक्वानां बोधिसत्त्वानां परिपाकस्याश्चर्यं [SL. 43] नाश्चर्यं लक्षणम्। सदा सर्वसमयमिति नित्यं निरन्तरं च तदनुरूपमार्गचरणं सुविधिचरणम् ॥ २ ॥

क्वचिद् धर्म्यं[6] चक्रं[6] बहुमुखशतैर्दर्शयति यः,
क्वचिज्जन्मान्तर्धिं क्वचिदपि विचित्रां जनचरीम्।
क्वचित्कृत्स्नां बोधिं क्वचिदपि च निर्वाणमसकृत्,
न च स्थानात् तस्माद्विचलति स सर्वं च कुरुते ॥ ३ ॥

—अनेन तृतीयेन युगपद्बहुमुखपरिपाचनोपायप्रयोगे निमित्तत्वं दर्शयति। यथा यत्रस्थः सत्त्वान् विनयति। विचित्रा जनचरी जातकभेदेन। न च स्थानाच्चलतीत्यनास्रवाद्धातोः ॥ ३ ॥

न बुद्धानामेवं भवति मम पक्वोऽयमिति चा-
प्रपाच्योऽयं देही अपि च अधुना पाच्यत इति।
विना संस्कारं तु प्रपचमुपयात्येव जनता
शुभैर्धर्मैर्नित्यं दिशि दिशि समन्तात् त्रयमुखम् ॥ ४ ॥

—अनेन चतुर्थेन तत्परिपाकप्रयोगनिमित्तत्वमनभिसंस्कारेण दर्शयति। त्रयमुखमिति यानत्रयेण ॥ ४ ॥

---

१. वा च–सि०।
२. व्रजन–सि०।
३. कृत्वा चर्यां–सि०।
४–४ सि० पुस्तके नास्ति।
५. गसदा–सि०।
६–६. धर्माख्यकं–सि०।

यथाऽयत्नं भानुः प्रततविशदैरंशुविसरैः
प्रपाकं सस्यानां दिशि दिशि समन्तात् प्रकुरुते ।
तथा धर्मार्कोऽपि प्रशमविधिधर्मांशुविसरैः
प्रपाकं सस्यानां दिशि दिशि समन्तात् प्रकुरुते ॥ ५ ॥

—अनेन पञ्चमेनानभिसंस्कारपरिपाचनदृष्टान्तं दर्शयति ॥ ५ ॥

यथैकस्माद् दीपाद् भवति सुमहान् दीपनिचयो-
ऽप्रमेयोऽसंख्येयो न च स पुनरेति व्ययमतः ।
तथैकस्मात् पाकाद्[1] भवति सुमहान् पाकनिचयो[2]-
ऽप्रमेयोऽसंख्येयो न च पुनरुपैति[3] व्ययमतः ॥ ६ ॥

[SL 44]—अनेन षष्ठेन परम्परया परिपाचनम् ॥ ६ ॥

यथा तोयैस्तृप्तिं व्रजति न महासागर इव
न वृद्धिं वा याति प्रततविशदाम्बुप्रविशनैः ।
तथा बौद्धो धातुः सततसमितैः शुद्धिविशनै-
र्न तृप्तिं वृद्धिं वा व्रजति परमाश्चर्यमिह तत् ॥ ७ ॥

—अनेन सप्तमेन परिपक्वानां विमुक्तिप्रवेशे समुद्रोदाहरणेन धर्मधातो-रतृप्तिं चावकाशदानादवृद्धिं चानधिकत्वात्[4] ॥ ७ ॥

धर्मधातुविशुद्धौ चत्वारः श्लोकाः—

सर्वधर्मद्वयावारतथताशुद्धिलक्षणः ।
वस्तुज्ञानतदालम्बवशिताक्षयलक्षणः ॥ १ ॥

—एष स्वभावार्थमारभ्यैकः श्लोकः । क्लेशज्ञेयावरणद्वयात् सर्वधर्मतथता-विशुद्धिलक्षणश्च ।वस्तुतदालम्बनज्ञानयोरक्षयवशितालक्षणश्च ॥ १ ॥

सर्वतस्तथताज्ञानभावना समुदागमः ।
सर्वसत्त्वद्वयाधानसर्वथाऽक्षयता फलम् ॥ २ ॥

एष हेत्वर्थं फलार्थं चारभ्य द्वितीयः श्लोकः । सर्वतस्तथताज्ञानभावना धर्मधातुविशुद्धिहेतुः । सर्वत इति सर्वधर्मपर्यायमुखैः । सर्वसत्त्वानां सर्वथा हितसुखद्वयाधानाक्षयता फलम् ॥ २ ॥

कायवाक्चित्तनिर्माणप्रयोगोपायकर्मकः ।
समाधिधारणीद्वारद्वयामेयसमन्वितः ॥ ३ ॥

---

१. बुद्धाद्–सि० । २. परिपाक०–सि० ।
३. पुनसेति–सि० । ४. ध्याना०–सि० ।

एष कर्मार्थं योगार्थं चारभ्य तृतीयः श्लोकः। त्रिविधं कायादिनिर्माणं कर्म समाधिधारणीमुखाभ्यां द्वयेन चाप्रमेयेण पुण्यज्ञानसम्भारेण समन्वागमो योगः ।। ३ ।।

स्वभावधर्मसम्भोगनिर्माणैर्भिन्नवृत्तिकः ।
धर्मधातुर्विशुद्धोऽय बुद्धानां समुदाहृतः ।। ४ ।।

एष वृत्त्यर्थमारभ्य चतुर्थः श्लोकः। स्वाभाविकसाम्भोगिक- [SL 45] नैर्माणिककायवृत्त्या भिन्नवृत्तिकः ।। ४ ।।

बुद्धकायविभागे सप्त श्लोकाः—

स्वाभाविकोऽथ साम्भोग्यः कायो नैर्माणिकोऽपरः ।
कायभेदा हि बुद्धानां प्रथमस्तु द्वयाश्रयः ।। १ ।।

त्रिविधः कायो बुद्धानाम्–१. स्वभाविको धर्मकाय आश्रयपरावृत्तिलक्षणः, २. साम्भोगिको येन पर्षन्मण्डलेषु धर्मसम्भोगं करोति, ३. नैर्माणिको येन निर्माणेन सत्त्वार्थं करोति ।। १ ।।

सर्वधातुषु साम्भोग्यो भिन्नो गणपरिग्रहैः ।
क्षेत्रैश्च नामभिः कायैर्धर्मसम्भोगचेष्टितैः ।। २ ।।

तत्र साम्भोगिकः सर्वलोकधातुषु पर्षन्मण्डलबुद्धक्षेत्रनामशरीरधर्म-सम्भोगक्रियाभिर्भिन्नः ।। २ ।।

समः सूक्ष्मश्च तच्छ्लिष्टः[1] कायः स्वाभाविको मतः ।
सम्भोगविभुताहेतुर्यथेष्टं भोगदर्शने ।। ३ ।।

स्वाभाविकः सर्वबुद्धानां समो निर्विशिष्टतया। सूक्ष्मो दुर्ज्ञानतया। तेन साम्भोगिकेन कायेन सम्बद्धः सम्भोगविभुत्वे च हेतुर्यथेष्टं भोगदर्शनाय ।।३।।

अमेयं बुद्धनिर्माणं कायो नैर्माणिको मतः ।
द्वयोर्द्वयार्थसम्पत्तिः सर्वाकारा प्रतिष्ठिता ।। ४ ।।

नैर्माणिकस्तु कायो बुद्धानामप्रमेयप्रभेदं बुद्धनिर्माणं साम्भोगिकः स्वार्थ-सम्पत्तिलक्षणः। नैर्माणिकः परार्थसम्पत्तिलक्षणः। एवं द्वयार्थसम्पत्तिर्यथाक्रमं द्वयोः प्रतिष्ठिता—साम्भोगिके च काये, नैर्माणिके च ।। ४ ।।

शिल्पजन्ममहाबोधिसदानिर्वाणदर्शनैः ।
बुद्धनिर्माणकायोऽयं महोपायो[2] विमोचने ।। ५ ।।

स पुनर्निर्माणकायः सदा विनेयार्थं शिल्पस्य वीणावादना- [SL 46]

---

१. तच्छिष्टः–सि० । २. महामायो–सि० ।

दिभिः। जन्मनश्चाभिसम्बोधेश्च निर्वाणस्य च दर्शनैर्विमोचने महोपायत्वात् परार्थसम्पत्तिलक्षणो वेदितव्यः॥ ५॥

त्रिभिः कायैस्तु विज्ञेयो बुद्धानां कायसंग्रहः।
साश्रयः स्वपरार्थो यस्त्रिभिः कायैर्निदर्शितः॥ ६॥

त्रिभिश्च कायैर्बुद्धानां सर्वकायसंग्रहो वेदितव्यः। एभिस्त्रिभिः कायैः साश्रयः स्वपरार्थो निदर्शितः। द्वयोः स्वपरार्थप्रभावितत्वात्, द्वयोश्च तदाश्रितत्वाद्, यथा पूर्वमुक्तम्॥ ६॥

आश्रयेणाशयेनापि कर्मणा ते समा मताः।
प्रकृत्याऽस्रंसनेनापि प्रबन्धेनैषु नित्यता॥ ७॥

ते च त्रयः कायाः सर्वबुद्धानां यथाक्रमं त्रिभिर्निर्विशेषाः—आश्रयेण धर्मधातोरभिन्नत्वात्, आशयेन पृथग्बुद्धाशयस्याभावात्, कर्मणा च साधारणकर्मकत्वात्।

तेषु च त्रिषु कायेषु यथाक्रमं त्रिविधा नित्यता वेदितव्या, येन नित्यकायास्तथागता उच्यन्ते। प्रकृत्या नित्यता स्वाभाविकस्य स्वभावेन नित्यत्वात्। अस्रंसनेन साम्भोगिकस्य धर्मसम्भोगाविच्छेदात्। प्रबन्धेन नैर्माणिकस्यान्तर्धाये[1] पुनः पुनर्निर्माणदर्शनात्॥ ७॥

बुद्धज्ञानविभागे दश श्लोकाः—

आदर्शज्ञानमचलं त्रयज्ञानं तदाश्रितम्।
समताप्रत्यवेक्षायां कृत्यानुष्ठान एव च॥ १॥

चतुर्विधं बुद्धानां ज्ञानम्—आदर्शज्ञानम्, समताज्ञानम्, प्रत्यवेक्षाज्ञानम्, कृत्यानुष्ठानज्ञानं च। आदर्शज्ञानमचलम्, त्रीणि ज्ञानानि तदाश्रितानि चलानि॥ १॥

आदर्शज्ञानमममापरिच्छिन्नं सदानुगम्।
सर्वज्ञेयेष्वसम्मूढं न च तेष्वामुखं सदा॥ २॥

आदर्शज्ञानमममापरिच्छिन्नम् देशतः सदानुगं कालतः। सर्वज्ञेयेष्वसम्मूढं सदावरणविगमात्, न च तेष्वामुखमनाकारत्वात्॥ २॥

सर्वज्ञाननिमित्तत्वान्महाज्ञानाकरोपमम्।
सम्भोगबुद्धता ज्ञानप्रतिबिम्बोदयाच्च तत्॥ ३॥

[SL 47] तेषां च समतादिज्ञानानां सर्वप्रकाराणां हेतुवात् सर्वज्ञानाना-

१. ०न्तर्व्ययें–सि०।

माकरोपमम् । सम्भोगबुद्धत्वतज्ज्ञानप्रतिबिम्बोदयाच्च तदादर्शज्ञानमित्युच्यते ॥ ३ ॥

सत्त्वेषु समताज्ञानं भावनाशुद्धितोऽमतम्[1] ।
अप्रतिष्ठशमाविष्टं समताज्ञानमिष्यते ॥ ४ ॥

यद्बोधिसत्त्वेनाभिसमयकाले सत्त्वेषु[2] समताज्ञानं प्रतिलब्धं तद्भावनाशुद्धितो बोधिप्राप्तस्याप्रतिष्ठितनिर्वाणे निविष्टं समताज्ञानमिष्यते ॥ ४ ॥

महामैत्रीकृपाभ्यां च सर्वकालानुग्रं मतम् ।
यथाधिमोक्षं सत्त्वानां बुद्धबिम्बनिदर्शकम् ॥ ५ ॥

महामैत्रीकरुणाभ्यां सर्वकालानुगं यथाधिमोक्षं च सत्त्वानां बुद्धबिम्बनिदर्शकम् । यतः केचित् सत्त्वास्तथागतं नीलवर्णं पश्यन्ति, केचित् पीतवर्णमित्येवमादि ॥ ५ ॥

प्रत्यवेक्षणकं ज्ञानं[3] ज्ञेयेष्वव्याहतं सदा ।
धारणीनां समाधीनां निधानोपममेव च ॥ ६ ॥
परिषन्मण्डले सर्वविभूतीनां निदर्शकम् ।
सर्वसंशयविच्छेदि महाधर्मप्रवर्षकम् ॥ ७ ॥

प्रत्यवेक्षणकं ज्ञानं यथाश्लोकम् ॥ ६-७ ॥

कृत्यानुष्ठानताज्ञानं निर्माणं सर्वधातुषु ।
चित्राप्रमेयाचिन्त्यैश्च सर्वसत्त्वार्थकारकम् ॥ ८ ॥

कृत्यानुष्ठानज्ञानं सर्वलोकधातुषु निर्माणैर्नानाप्रकारैरप्रमेयैरचिन्त्यैश्च सर्वसत्त्वार्थकरम् ॥ ८ ॥

कृत्यनिष्पत्तिभिर्भेदैः संख्याक्षेत्रैश्च सर्वदा ।
अचिन्त्यं बुद्धनिर्माणं विज्ञेयं तच्च सर्वथा ॥ ९ ॥

तच्च बुद्धनिर्माणं सदा सर्वथा चाचिन्त्यं वेदितव्यम्—कृत्यक्रियाभेदतः, संख्यातः, क्षेत्रतश्च ॥ ९ ॥

धारणात् समचित्ताच्च सम्यग्धर्मप्रकाशनात् ।
कृत्यानुष्ठानतश्चैव चतुर्ज्ञानसमुद्भवः ॥ १० ॥

तत्र धारणात् श्रुतानां धर्माणाम् । समचित्तात् सर्वसत्त्वेष्वात्म- [SL. 48] परसमतया । शेषं गतार्थम् ॥ १० ॥

---

१. ०तोऽमलम्—सि० ।
२. सि० पुस्तके नास्ति ।
३. ज्ञाने—सि० ।

बुद्धानेकत्वापृथक्त्वे श्लोकः—

गोत्रभेदादवैयर्थ्यात् साकल्यादप्यनादितः।
अभेदान्नैकबुद्धत्वं बहुत्वं चामलाश्रये ॥ १ ॥

एक एव बुद्ध इत्येतन्नेष्यते। किं कारणम्? गोत्रभेदात्। अनन्ता हि बुद्धगोत्राः सत्त्वाः। तत्रैक एवाभिसम्बुद्धो नान्येऽभिसम्भोत्स्यन्त इति कुत एतत्! पुण्यज्ञानसम्भारवैयर्थ्यं च स्यादन्येषां बोधिसत्त्वानामनभिसम्बोधान्न च युक्तं वैयर्थ्यम्। तस्मादवैयर्थ्यादपि नैक एव बुद्धः। सत्त्वार्थक्रियासाकल्यं च न स्यात्। बुद्धस्य कस्यचिदप्रतिष्ठापनादेतच्च न युक्तम्। न च कश्चिदादिबुद्धोऽस्ति विना सम्भारेण बुद्धत्वायोगाद्विना चान्येन बुद्धेन [1]सम्भारायोगादित्यनादित्वादप्येको बुद्धो न युक्तः। बहुत्वमपि नेष्यते बुद्धानां धर्मकायस्याभेदादनास्रवे धातौ ॥ १ ॥

बुद्धत्वोपायप्रवेशे चत्वारः श्लोकाः—

याऽविद्यमानता सैव परमा विद्यमानता।
सर्वथाऽनुपलम्भश्च उपलम्भः परो मतः ॥ १ ॥

या परिकल्पितेन स्वभावेनाविद्यमानता सैव विद्यमानता परिनिष्पन्नेन स्वभावेन। यश्च सर्वथाऽनुपलम्भः परिकल्पितस्य स्वभावस्य, स एव परम उपलम्भः परिनिष्पन्नस्वभावस्य ॥ १ ॥

भावना परमा चेष्टा भावनामविपश्यताम्।
प्रतिलम्भः परश्चेष्टः प्रतिलम्भं न पश्यताम् ॥ २ ॥

सैव परमा भावना यो भावनाया अनुपलम्भः। स एव परमः प्रतिलम्भो यः प्रतिलम्भानुपलम्भः ॥ २ ॥

पश्यतां गुरुतां[2] दीर्घं निमित्तं वीर्यमात्मनः।
मानिनां बोधिसत्त्वानां दूरे[3] बोधिर्निरूप्यते ॥ ३ ॥

ये च गुरुत्वं बुद्धत्वं पश्यन्ति अद्भुतधर्मयुक्तम्। दीर्घं च कालं पश्यन्ति [SL 49] तत्समुदागमाय। निमित्तं च पश्यन्ति चित्तालम्बनम्। आत्मनश्च वीर्यं "वयमारब्धवीर्या बुद्धत्वं प्राप्स्यामः" इति ॥ ३ ॥

तेषामेवम्मानिनां बोधिसत्त्वानामौपलम्भिकत्वात् दूरे बोधिर्निरूप्यते—

पश्यतां कल्पनामात्रं सर्वमेतद् यथोदितम्।
अकल्पबोधिसत्त्वानां प्राप्ता बोधिर्निरूप्यते ॥ ४ ॥

---

१. संस्थाना० सि०। २. गुरुत्वं–सि०।
३. दुरे–सि०।

"कल्पनामात्रं त्वेतत् सर्वम्" इति पश्यतां तस्यापि कल्पनामात्रस्याविकल्पनादकल्पबोधिसत्त्वानामनुत्पत्तिकधर्मक्षान्तिलाभावस्थायामर्थतः प्राप्तैव बोधिरित्युच्यते।

बुद्धानामन्योन्यैककार्यत्वे[1] चत्वारः श्लोकाः—

भिन्नाश्रया भिन्नजलाश्च नद्यः, अल्पोदकाः कृत्यपृथक्त्वकार्याः।
जलाश्रितप्राणितनूपभोग्या भवन्ति पातालमसम्प्रविष्टाः॥ १॥
समुद्रविष्टाश्च भवन्ति सर्वा एकाश्रया एकमहाजलाश्च।
मिश्रैककार्याश्च महोपभोग्या जलाश्रितप्राणिगणस्य नित्यम्॥ २॥
भिन्नाश्रया भिन्नमताश्च धीराः स्वल्पावबोधाः पृथगात्मकृत्याः।
परीत्तसत्त्वार्थसदोपभोग्या भवन्ति बुद्धत्वमसम्प्रविष्टाः॥ ३॥
बुद्धत्वविष्टाश्च भवन्ति सर्वे एकाश्रया एकमहावबोधाः।
मिश्रैककार्याश्च महोपभोग्याः सदा महासत्त्वगणस्य ते हि॥ ४॥

तत्र भिन्नाश्रया नद्यः स्वभाजनभेदात्। कृत्यपृथक्त्वकार्याः पृथक्त्वेन कृत्यकरणात्। तनूपभोग्या इत्यल्पानामुपभोग्याः। शेषं गतार्थम्॥ १-४॥

बुद्धत्वप्रोत्साहने श्लोकः—

इति निरुपमशुक्लधर्मयोगाद् हितसुखहेतुतया च बुद्धभूमेः।
शुभपरमसुखाक्षयाकरत्वात् शुभमतिरर्हति बोधिचित्तमाप्तुम्॥ १॥

निरुपमशुक्लधर्मयोगात् स्वार्थसम्पत्तितः। हितसुखहेतुत्वाच्च बुद्धत्वस्य परार्थसम्पत्तिः। अनवद्योत्कृष्टाक्षयसुखाकरत्वाच्च सुखविहारो विशेषतः। बुद्धि-मानहीनबोधिचित्तमादातुं तत्प्रणिधानपरिग्रहात्॥ १॥

उद्दानम्

[SL 50]

आदिः सिद्धिः शरणं गोत्रं चित्ते तथैव चोत्पादः।
स्वपरार्थस्तत्त्वार्थः प्रभाव-परिपाक-बोधिश्च॥ १॥

एष च बोध्यधिकार आदिमारभ्य यावत् बोधिपटलानुसारेणनुगन्तव्यः॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे बोध्यधिकारो नवमः॥

●

१. ०मन्योन्यमैक०—सि०।

दशमोऽधिमुक्त्यधिकारः

अधिमुक्तिप्रभेदलक्षणविभागे श्लोकौ—

जाताऽजाता ग्राहका ग्राह्यभूता मित्रादाता स्वात्मतो भ्रान्तिका च ।

अभ्रान्तान्या आमुखा नैव चान्या घोषाचारा चैषिका चेक्षिका च ॥१॥

जाता अतीतप्रत्युत्पन्ना । अजाता अनागता । ग्राहिका आध्यात्मिकी, यथाऽऽलम्बनमधिमुच्यते । ग्राह्यभूता बाह्या, यामालम्बनत्वेनाधिमुच्यते । मित्रादात्ता औदारिकी । स्वात्मतः सूक्ष्मा । भ्रान्तिका हीना विपरीताधिमोक्षात् । अभ्रान्तिका प्रणीता[१] । आमुखा अन्तिके समवहितप्रत्ययत्वात् । अनामुखा दूरे विपर्ययात् । घोषाचारा श्रुतमयी । एषिका चिन्तामयी । ईक्षिका भावनामयी, प्रत्यवेक्षणात् ॥ १ ॥

हार्या कीर्णाऽव्यवकीर्णा विपक्षैर्हीनोदारा आवृताऽनावृता च ।

युक्ताऽयुक्ता सम्भृताऽसम्भृता च गाढं विष्टा दूरगा चाधिमुक्तिः ॥ २ ॥

हार्या मृद्वी व्यवकीर्णा मध्या । अव्यवकीर्णा विपक्षैरधिमात्रा । हीनाऽन्ययाने । उदारा महायाने । आवृता सावरणा विशेषगमनाय । अनावृता निरावरणा । [SL 51] युक्ता सातत्यसत्कृत्यप्रयोगात् । अयुक्ता तद्विरहिता । सम्भृता अधिगमयोग्या । असम्भृता विपर्ययात् । गाढं विष्टा भूमिप्रविष्टा । दूरगा परिशिष्टासु भूमिषु ॥ २ ॥

अधिमुक्तिपरिपन्थे त्रयः श्लोकाः—

अमनस्कारबाहुल्यं कौशीद्यं योगविभ्रमः ।

कुमित्रं शुभदौर्बल्यमयोनिशोमनस्क्रिया ॥ १ ॥

जाताया अमनसिकारबाहुल्यं परिपन्थः, अजातायाः कौशीद्यम्, ग्राह्यग्राहकभूताया योगविभ्रमः, तथैवाभिनिवेशात् । मित्रादात्तायाः कुमित्रम्, विपरीतग्रहणात् । स्वात्मतोऽधिमुक्तेः कुशलमूलदौर्बल्यम् । अभ्रान्ताया अयोनिशोमनसिकारः[२] परिपन्थः, तद्विरोधित्वात् ॥ १ ॥

---

१. प्रशान्ता–सि० ।

२. अमनसिकारः–सि० ।

प्रमादोऽल्पश्रुतत्वं च श्रुतचिन्ताल्पतुष्टता ।
शममात्राभिमानश्च तथाऽपरिजयो मतः ॥ २ ॥

आमुखायाः प्रमादः, तस्या अप्रमादकृतत्वात् । घोषाचारायां अल्पश्रुतत्वम्, नीतार्थसूत्रान्ताश्रवणात् । एषिकायाः श्रुतमात्रसन्तुष्टत्वम्, अल्पचिन्तासन्तुष्टत्वं च । ईक्षिकायाश्चिन्तामात्रसन्तुष्टत्वं शमथमात्राभिमानश्च । हार्याव्यवकीर्णयोरपरिजयः परिपन्थः ॥ २ ॥

अनुद्वेगस्तथोद्वेग आवृतिश्चाप्ययुक्तता ।
असम्भृतिश्च विज्ञेयाऽधिमुक्तिपरिपन्थता ॥ ३ ॥

हीनाया अनुद्वेगः संसारात्, उदाराया उद्वेगः, अनावृतायाश्चावृतिः, युक्ताया अयुक्तता, सम्भृताया असम्भृतिः परिपन्थः ॥ ३ ॥

अधिमुक्तावनुशंसे पञ्च श्लोकाः—

पुण्यं महदकौकृत्यं सौमनस्यं सुखं महत् ।
अविप्रणाशः स्थैर्यं च विशेषगमनं तथा ॥ १ ॥
धर्माभिसमयश्चाथ स्वपरार्थाप्तिरुत्तमा ।
क्षिप्राभिज्ञत्वमेते हि अनुशंसाधिमुक्तितः ॥ २ ॥

जातायां प्रत्युत्पन्नायां पुण्यं महत् । अतीतायामकौकृत्यमविप्रतिसारात् । ग्राहिकायां ग्राह्यभूतायां च महत् सौमनस्यं समाधियोगात् । कल्याणमित्रजनितायामविप्रणाशः । स्वयमधिमुक्तौ स्थैर्यम्, अभ्रान्तिकायामामुखायां[1] श्रुतमयादिकायां च यावत् मध्यायां विशेषगमनम् । अधिमात्रायां [SL 52] धर्माभिसमयः । हीनायां स्वार्थप्राप्तिः । उदारायां परार्थप्राप्तिः परमा । अनावृतयुक्तसम्भृतादिषु शुक्लपक्षासु क्षिप्राभिज्ञत्वमनुशंसः ॥ १-२ ॥

कामिनां सा श्वसदृशी कर्मप्रख्या समाधिनाम् ।
भृत्योपमा स्वार्थिनां सा राजप्रख्या परार्थिनाम् ॥ ३ ॥

यथा श्वा दुःखार्तः सततमवितृप्तः क्षुधितकः,
यथा कूर्मश्चासौ जलविवरके संकुचितकः ।
यथा भृत्यो नित्यमुपचकितमूर्तिर्विचरति,
यथा राजा आज्ञाविषयवशवर्ती[2] विहरति ॥ ४ ॥
तथा कामिस्थातृस्वपरजनकृत्यार्थमुदिते
विशेषो विज्ञेयः सततमधिमुक्त्या विविधया ।
महायाने तस्य विधिवदिह मत्वा परमताम्,
भृशं तस्मिन् धीरः सततमिह तामेव वृणुयात् ॥ ५ ॥

---

१. भ्रान्तिकाया०–सि० । २. ०विषये चक्रवर्ती–मि० ।

अपि खलु कामिनामधिमुक्तिः श्वसदृशी लौकिकसमाधिगतानां कूर्मप्रख्या स्वार्थवतां भृत्योपमा। राजप्रख्या परार्थवताम्। एतमेवार्थं परेणोपपाद्य महायानाधिमुक्तौ समादापयति ॥ ३-५ ॥

अधिमुक्तिलयप्रतिषेधे श्लोकः—

मनुष्यभूता[1] सम्बोधिं प्राप्नुवन्ति प्रतिक्षणम्।
अप्रमेया यतः सत्त्वा लयं नातोऽधिवासयेत् ॥ १ ॥

त्रिभिः कारणैर्लयो न युक्तः—यतो मनुष्यभूता बोधिं प्राप्नुवन्ति, नित्यं प्राप्नुवन्ति, अप्रमेयाश्च प्राप्नुवन्ति ॥ १ ॥

अधिमुक्तिपुण्यविशेषणे द्वौ श्लोकौ—

यथा पुण्यं प्रसवते परेषां भोजनं ददत्।
न तु स्वयं स भुञ्जानस्तथा पुण्यमहोदयः ॥ १ ॥
[SL 53] सूत्रोक्तो लभ्यते धर्मात् परार्थाश्रयदेशितात्।
न तु स्वार्थाश्रयाद्धर्माद् देशितादुपलभ्यते ॥ २ ॥

यथा भोजनं ददतः पुण्यमुत्पद्यते, परार्थाधिकारात्। न तु स्वयं भुञ्जानस्य, स्वार्थाधिकारात्। एवं परार्थाश्रयदेशितात् महायानधर्मात् तेषु तेषु महायानसूत्रेषूक्तः[2] पुण्योदयो महाँल्लभ्यते, न तु स्वार्थाश्रयदेशितात् श्रावकयानधर्मात् ॥ १-२ ॥

अधिमुक्तिफलपरिग्रहे श्लोकः—

इति विपुलगतौ महार्यधर्मे[3] परिजनयन्[4] सदा मतिमान्महाधिमुक्तिम्।
विपुलसततपुण्यतद्विवृद्धिं व्रजति गुणैरसमैर्महात्मतां च ॥ १ ॥

यत्र यादृश्याधिमुक्त्या यो यत्फलं परिगृह्णाति। विस्तीर्णे महायानधर्मेऽपरिहाणीययोदाराधिमुक्त्या मतिमान् त्रिविधं फलं परिगृह्णाति—विपुलपुण्यवृद्धिम्, तस्या एवाधिमुक्तेर्वृद्धिम्, तद्धेतुकां चातुल्यगुणमहात्मतां बुद्धत्वम् ॥ १ ॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे अधिमुक्त्यधिकारो दशमः ॥

●

१. मनुषभूताः—सि०।
२. सूत्रेषूक्तः—सि०।
३. महोध०—सि०।
४. जनिय—सि०।

११

एकादशो धर्मपर्येष्ट्यधिकारः

धर्मपर्येष्टयधिकारे आलम्बनपर्येष्टौ चत्वारः श्लोकाः—

पिटकत्रयं द्वयं वा संग्रहतः कारणैर्नवभिरिष्टम् ।
वासन-बोधन-शमन-प्रतिवेधैस्तद्विमोचयति ॥ १ ॥

पिटकत्रयं सूत्र-विनय-अभिधर्माः । तदेव त्रयं हीनयानाग्रयानभेदेन द्वयं भवति – श्रावकपिटकम्, बोधिसत्त्वपिटकं च । तत्पुनस्त्रयं द्वयं वा केनार्थेन पिटकम् ? इत्याह—संग्रहतः । सर्वज्ञेयार्थसंग्रहाद्वेदितव्यम् । केन कारणेन त्रयम् ? नवभिः कारणैः । विचिकित्साप्रतिपक्षेण सूत्रम्, यो यत्रार्थे संशयितस्तस्य तन्निश्चयार्थं देशनात् । अन्तद्वयानुयोगप्रतिपक्षेण विनयः, सावद्यपरिभोगप्रतिषेधतः कामसुखल्लिकानुयोगान्तस्य, अनवद्यभोगानुज्ञानत आत्मक्लमथानुयोगान्तस्य । स्वयंदृष्टिपरामर्षप्रतिपक्षेणाभिधर्मः, अविपरीतधर्मलक्षणाभिद्योतनात् ।

पुनः शिक्षात्रयदेशना सूत्रेण, अधिशीलाधिचित्तसम्पादनता विनयेन, शीलवतोऽविप्रतिसारादिक्रमेण[1] समाधिलाभात् । अधिप्रज्ञासम्पाद- [SL 54] नाभिधर्मेण, अविपरीतार्थप्रविचयात् । पुनर्धर्मार्थदेशना सूत्रेण, धर्मार्थनिष्पत्तिर्विनयेन क्लेशविनयसंयुक्तस्य तयोः प्रतिवेधात् । धर्मार्थसाङ्कथ्यविनिश्चयकौशल्यमभिधर्मेणेति ।

एभिर्नवभिः कारणैः पिटकत्रयमिष्टम् । तच्च संसाराद्विमोचनार्थम् । कथं पुनस्तद्विमोचयति ? वासन-बोधन-शमन-प्रतिवेधैस्तद्विमोचयति । श्रुतेन चित्तवासनतः । चिन्तया बोधनतः । भावनया शमथेन शमनतः । विपश्यनया प्रतिवेधतः ॥ १ ॥

सूत्राभिधर्मविनयाश्चतुर्विधार्था मताः समासेन ।
तेषां ज्ञानाद् धीमान् सर्वाकारज्ञतामेति ॥ २ ॥

ते च सूत्रविनयाभिधर्माः प्रत्येकं चतुर्विधार्थाः समासतस्तेषां ज्ञानाद् बोधिसत्त्वः सर्वज्ञतां प्राप्नोति । श्रावकस्त्वेकस्या अपि गाथाया अर्थमाज्ञायास्रवक्षयं प्राप्नोति ॥ २ ॥

आश्रयतो लक्षणतो धर्मादर्थाच्च सूचनात् सूत्रम् ।
अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मश्च ॥ ३ ॥

---

१. सारादविप्रतिसारेण—सि० ।

कथं प्रत्येकं चतुर्विधार्थः ? आश्रयलक्षणधर्मार्थसूचनात् सूत्रम्। तत्राश्रयो यत्र देशे देशितं येन यस्मै च। लक्षणं संवृतिसत्यलक्षणम्, परमार्थसत्यलक्षणं च। धर्माः स्कन्धायतनधात्वाहारप्रतीत्यसमुत्पादादयः। अर्थः अनुसन्धिः।

अभिमुखत्वादभीक्ष्णत्वादभिभवनादभिगमनाच्चाभिधर्मो वेदितव्यः। निर्वाणाभिमुखो धर्मः अभिधर्मः; सत्यबोधिपक्षविमोक्षमुखादिदेशनात्। अभीक्ष्णं धर्मोऽभिधर्मः; एकैकस्य धर्मस्य रूप्यरूपिसनिदर्शनादिप्रभेदेन बहुलनिर्देशात्। अभिभवतीत्यभिधर्मः; परप्रवादाभिभवनाद् विवादाधिकरणादिभिः। अभिगम्यते सूत्रार्थ एतेनेत्यभिधर्मः॥ ३॥

आपत्तेरुत्थानाद् व्युत्थानान्निःसृतेश्च विनयत्वम्।
पुद्गलतः प्रज्ञप्तेः प्रविभागविनिश्चयाच्चैव॥ ४॥

[SL 55] आपत्तितः, समुत्थानतः, व्युत्थानतः, निःसरणतश्च वेदितव्यः। तत्रापत्तिः पञ्चापत्तिनिकायाः। समुत्थानमापत्तीनामज्ञानात् प्रमादात् क्लेशप्राचुर्यादनादराच्च। व्युत्थानमाशयतो न दण्डकर्मतः। निःसरण सप्तविधम्— प्रतिदेशना, अभ्युपगमः शिक्षादत्तकादीनाम्, दण्डकर्मणाम्[1] समवधातः[2] प्रज्ञप्ते शिक्षापदे पुनः पर्यायेण ज्ञानात्, प्रस्रब्धिः समग्रेण संघेन शिक्षापदस्य प्रतिस्रम्भणात्, आश्रयपरिवृत्तिर्भिक्षुभिक्षुण्योः स्त्रीपुरुषव्यञ्जनपरिवर्तनादसाधारणा चेदापत्तिः[3], भूतप्रत्यवेक्षा धर्मोद्दानाकारैः[4] प्रत्यवेक्षाविशेषः, धर्मताप्रतिलम्भश्च सत्यदर्शनेन क्षुद्रानुक्षुद्रापत्त्यभावे[5] धर्मताप्रतिलम्भात्[6]।

पुनश्चतुर्विधेनार्थेन विनयो वेदितव्यः—१. पुद्गलतो यमागम्य शिक्षा प्रज्ञप्यते, २. प्रज्ञप्तितो यदाऽरोचिते तं पुद्गलापराधे शास्ता सन्निपात्य संघं[7] शिक्षां प्रज्ञापयति, ३. प्रविभागतो यः प्रज्ञप्ते शिक्षापदे, ४. तदुद्देशस्य विभागः, विनिश्चयतश्च तत्रापत्तिः कथं भवत्यनापत्तिर्वेति निर्धारणात्॥ ४॥

आलम्बनलाभपर्येष्टौ त्रयः श्लोकाः—

आलम्बनं मतो धर्मः अध्यात्मं बाह्यकं द्वयम्।
लाभो द्वयोर्द्वयार्थेन द्वयोश्चानुपलम्भतः॥ १॥

धर्मालम्बनं यो देशितः कायादिकश्चाध्यात्मिकम्, बाह्यम्, आध्यात्मिकबाह्यञ्च। तत्र ग्राहकभूतं बाह्यं तयोरेव तथता द्वयम्। तत्र द्वयोराध्यात्मिक-

---

१. कर्मणः—सि०। २. समवद्योतः—सि०। ३. वेदा०—सि०।
४. धर्मोद्दानाकरैः—सि०। ५. क्षुद्रापन्नाभावे—सि०। ६. धर्मप्रतिलम्भात्—सि०।
७. संघशिक्षां—सि०।

बाह्ययोरालम्बनयोर्द्वयार्थेन लाभो यथाक्रमम्। यदि ग्राह्यार्थाद् ग्राहकार्थमभिन्नं पश्यति ग्राहकार्थाच्च ग्राह्यार्थम्, द्वयस्य पुनः समस्तस्याध्यात्मिकबाह्यालम्बनस्य तथताया लाभस्तयोरेव द्वयोरनुपलम्भाद्वेदितव्यः॥ १॥

मनोजल्पैर्यथोक्तार्थप्रसन्नस्य प्रधारणात्।
अर्थख्यानस्य जल्पाच्च नाम्नि स्थानाच्च चेतसः॥ २॥
धर्मालम्बनलाभः स्यात् त्रिभिर्ज्ञानैः श्रुतादिभिः। [SL 55]
त्रिविधालम्बनलाभश्च पूर्वोक्तस्तत्समाश्रितः॥ ३॥

धर्मालम्बनलाभः पुनस्त्रिभिर्ज्ञानैर्भवति श्रुत-चिन्ता-भावनामयैः। तत्र समाहितेन चेतसा मनोजल्पैर्यथोक्तार्थप्रसन्नस्य तत्प्रधारणात्। श्रुतमयेन ज्ञानेन तल्लाभः। मनोजल्पैरिति। संकल्पैः। प्रसन्नस्येति। अधिमुक्तस्य निश्चितस्य। प्रधारणादिति। प्रविचयात्। जल्पादर्थख्यानस्य प्रधारणाच्चिन्तामयेन तल्लाभः। यदि मनोजल्पादेवायमर्थः ख्यातीति पश्यति नान्यन्मनोजल्पाद्, यथोक्तं द्वयालम्बनलाभे। चित्तस्य नाम्नि स्थानात् भावनामयेन ज्ञानेन तल्लाभो वेदितव्यः; द्वयानुपलम्भाद्, यथोक्तं द्वयालम्बनलाभे। अत एव च स पूर्वोक्तस्त्रिविधालम्बनलाभो धर्मालम्बनलाभसन्निश्रितो वेदितव्यः॥ २-३॥

मनसिकारपर्येष्टौ पञ्च श्लोकाः—

त्रिधातुकः कृत्यकरः ससम्बाधाश्रयोऽपरः।
अधिमुक्तिनिवेशी च तीव्रच्छन्दकरोऽपरः॥ १॥
हीनपूर्णाश्रयो द्वेधा सजल्पोऽजल्प एव च।
ज्ञानेन सम्प्रयुक्तश्च योगोपनिषदात्मकः॥ २॥
सम्भिन्नालम्बनश्चासो विभिन्नालम्बनः स च।
पञ्चधा सप्तधा चैव परिज्ञा पञ्चधाऽस्य च॥ ३॥
चत्वारः सप्तत्रिंशच्च आकारा भावनागताः।
मार्गद्वयस्वभावोऽसौ द्व्यनुशंसः प्रतीच्छकः॥ ४॥
प्रयोगी वशवर्ती च परीत्तो विपुलात्मकः।
योगिनां हि मनस्कार एष सर्वात्मको मतः॥ ५॥

अष्टादशविधो मनस्कारः—धातुनियतः, कृत्यकरः, आश्रयविभक्तः, अधिमुक्तिनिवेशकः, छन्दजनकः, समाधिसन्निश्रितः, ज्ञानसम्प्रयुक्तः, सम्भिन्नालम्बनः, विभिन्नालम्बनः, परिज्ञानियतः, भावनाकारप्रविष्टः, शमथविपश्यनामार्गस्वभावः, अनुशंसमनस्कारः, प्रतीच्छकः, प्रायोगिकमनस्कारः, वशवर्तिमनस्कारः, परीत्तमनस्कारः, विपुलमनस्कारश्च। तत्र—

धातुनियतो यः श्रावकादिगोत्रनियतः।

कृत्यकरो यः सम्भृतसम्भारस्य।

आश्रयविभक्तो यः ससंबाधगृहस्थाश्रयः, असंबाधप्रव्रजिताश्रयश्च।

अधिमुक्तिनिवेशको यो बुद्धानुस्मृतिसहगतः।

[SL. 57] छन्दजनको यस्तत्सम्प्रत्ययसहगतः।

समाधिसन्निश्रितो यः समन्तकमौलसमाधिसहगतः सवितर्कसविचारावितर्कविचारमात्रावितर्काविचारसहगतश्च।

ज्ञानसम्प्रयुक्तो यो योगोपनिषद्योगसहगतः। स पुनर्यथाक्रमं श्रुतचिन्तामयः, भावनामयश्च।

सम्भिन्नालम्बनः पञ्चविधः—सूत्रोद्दानगाथानिपातयावदुद्गृहीतयावद्देशितालम्बनः।

विभिन्नालम्बनः सप्तविधः—नामालम्बनः, पदालम्बनः, व्यञ्जनालम्बनः, पुद्गलनैरात्म्यालम्बनः, धर्मनैरात्म्यालम्बनः, रूपिधर्मालम्बनः, अरूपिधर्मालम्बनश्च। तत्र रूपिधर्मालम्बनो यः कायालम्बनः। अरूपिधर्मालम्बनो यो वेदनाचित्तधर्मालम्बनः।

परिज्ञानियतो यः परिज्ञेये वस्तुनि परिज्ञेयेऽर्थे परिज्ञायां परिज्ञाफले तत्प्रवेदनायां च। तत्र परिज्ञेयं वस्तु दुःखम्, परिज्ञेयोऽर्थः, तस्यैवानित्यदुःखशून्यानात्मता। परिज्ञा=मार्गः। परिज्ञाफलं विमुक्तिः। तत्प्रवेदना विमुक्तिज्ञानदर्शनम्।

भावनाकारप्रविष्टश्चतुराकारभावनः सप्तत्रिंशदाकारभावनश्च। तत्र चतुराकारभावनः—पुद्गलनैरात्म्याकारभावनः, धर्मनैरात्म्याकारभावनः, दर्शनाकारभावनः, ज्ञानाकारभावनश्च। तत्र सप्तत्रिंशदाकारभावनः—अशुभाकारभावनो दुःखाकारभावनोऽनित्याकारभावनोऽनात्माकारभावनः स्मृत्युपस्थानेषु। प्रतिलम्भाकारभावनो निसेवनाकारभावनो निर्विघाटनाकारभावनः प्रतिपक्षाकारभावनः सम्यक्प्रहाणेषु। सन्तुष्टिप्रातिपक्षिमनस्कारभावनो यदा च्छन्दं जनयति। विक्षेपसंशयप्रातिपक्षिकमनस्कारभावनो यदा व्यायच्छते वीर्यमारभते यथाक्रमम्। औद्धत्यप्रातिपक्षिकसमाध्याकारभावनो यदा चित्तं प्रगृह्णाति। लयप्रातिपक्षिकसमाध्याकारभावनो यदा चित्तं प्रदधाति। एते यथाक्रमं चतुर्षु ऋद्धिपादेषु वेदितव्याः। स्थितचित्तस्य लोकोत्तरसम्पत्तिसम्प्रत्ययाकारभावनः। यथा सम्प्रत्ययाकारभावन एवं व्यवसायाकारभावनो धर्मासम्प्रमोषाकारभावनश्चित्तस्थित्याकारभावनः प्रविचयाकारभावन इन्द्रियेषु। एत एव पञ्च निर्लिखितविपक्षमनस्कारा बलेषु। सम्बोधिसम्प्रख्यानाकारभावनस्तत्रैव विचयोत्साहसौमनस्यकर्मण्यता-

चित्तस्थितिसमताकारभावनाः सप्तसम्बोध्यङ्गेषु। प्राप्तिनिश्रयाकारभावनः परिकर्मभूमिसंरक्षणाकारभावनः परसम्प्राप्त्याकारभावन आर्यकान्तशीलप्रविष्टकारभावनः संलिखितवृत्तिसमुदाचाराकारभावनः पूर्वपरिभावितप्रतिलब्धमार्गाभ्यासाकारभावनः धर्मस्थितिनिमित्तासम्प्रमोषाकारभावनोऽनिमित्तस्थित्याश्रयपरिवृत्त्याकारभावनश्च मार्गाङ्गेषु।

शमथविपश्यनाभावनामार्गस्वभावयोर्न कश्चिनिर्देशः।

अनुशंसमनस्कारो द्विविधः—दौष्ठुल्यापकर्षणः, दृष्टिनिमित्ता- [SL 58] पकर्षणश्च।

प्रतीच्छको यो धर्मस्रोतसि बुद्धबोधिसत्त्वानामन्तिकादववादग्राहकः।

प्रायोगिकमनस्कारः पञ्चविधः समाधिगोचरे—१. संख्योपलक्षणप्रायोगिको येन सूत्रादिषु नामपदव्यञ्जनसंख्यामुपलक्षयते। २. वृत्त्युपलक्षणप्रायोगिको येन द्विविधां वृत्तिमुपलक्षयते—परिमाणवृत्तिं च, व्यञ्जनानामपरिमाणवृत्तिं च नामपदयोः। ३. परिकल्पोपलक्षणप्रायोगिको येन द्वयमुपादाय द्वयपरिकल्पमुपलक्षयते। नामपरिकल्पमुपादायार्थपरिकल्पम्, अर्थपरिकल्पमुपादाय नामपरिकल्पमपरिकल्पमक्षरम्। ४. क्रमोपलक्षणप्रायोगिको येन नामग्रहणपूर्विकामर्थग्रहणप्रवृत्तिमुपलक्षयते। ५. प्रतिवेधप्रायोगिकश्च। स पुनरेकादशविधो वेदितव्यः—आगन्तुकत्वप्रतिवेधतः, सम्प्रख्याननिमित्तप्रतिवेधतः, अर्थानुपलम्भप्रतिवेधतः, उपलम्भानुपलम्भप्रतिवेधतः, धर्मधातुप्रतिवेधतः, पुद्गलनैरात्म्यप्रतिवेधतः, धर्मनैरात्म्यप्रतिवेधतः, हीनाशयप्रतिवेधतः, उदारमाहात्म्याशयप्रतिवेधतः, यथाधिगमधर्मव्यवस्थानप्रतिवेधतः, व्यवस्थापितधर्मप्रतिवेधतश्च।

वशवर्तिमनस्कारस्त्रिविधः—१. क्लेशावरणसुविशुद्धः, २. क्लेशज्ञेयावरणसुविशुद्धः, ३. गुणाभिनिर्हारसुविशुद्धश्च ॥ १–१ ॥

धर्मतत्त्वपर्येष्टौ द्वौ श्लोकौ—

तत्त्वं यत् सततं द्वयेन रहितं भ्रान्तेश्च सन्निश्रयः,
शक्यं नैव च सर्वथाभिलपितुं यच्चाप्रपञ्चात्मकम्।
ज्ञेयं हेयमथो विशोध्यममलं यच्च प्रकृत्या मतम्,
यस्याकाशसुवर्णवारिसदृशी क्लेशाद् विशुद्धिर्मता ॥ १ ॥

सततं द्वयेन रहितं तत्त्वम्। परिकल्पितः स्वभावो ग्राह्यग्राहकलक्षणेनात्यन्तमसत्त्वात्। भ्रान्तेः सन्निश्रयः। परतन्त्रस्तेन तत्परिकल्पनात्। अनभिलाप्यमप्रपञ्चात्मकं च परिनिष्पन्नः स्वभावः। तत्र प्रथमं तत्त्वं परिज्ञेयं द्वितीयं प्रहेयं तृतीयं विशोध्यं चागन्तुकमलाद् विशुद्धं च प्रकृत्या,

यस्य प्रकृत्या विशुद्धस्य आकाशसुवर्णवारिसदृशी क्लेशाद् विशुद्धिः। न ह्याकाशादीनि प्रकृत्या अशुद्धानि, न चागन्तुकमलापगमादेषां विशुद्धिर्नेष्यत इति ॥ १ ॥

न खलु जगति तस्माद्विद्यते किञ्चिदन्यद्
जगदपि तदशेषं तत्र सम्मूढबुद्धि।
कथमयमभिरूढो लोकमोहप्रकारो
यदसदभिनिविष्टः सत्समन्ताद् विहाय ॥ २ ॥

[SL 59] न खलु तस्मादेवंलक्षणाद् धर्मधातोः किञ्चिदन्यल्लोके विद्यते; धर्मताया धर्मस्याभिन्नत्वात्। शेषं गतार्थम् ॥ २ ॥

तत्त्वे मायोपमपर्येष्टौ पञ्चदश श्लोकाः—

यथा माया तथाऽभूतपरिकल्पो निरुच्यते।
यथा मायाकृतं तद्वद् द्वयभ्रान्तिर्निरुच्यते ॥ १ ॥

यथा माया मन्त्रपरिगृहीतं[1] भ्रान्तिनिमित्तं काष्ठलोष्टादिकम्, तथाऽभूतपरिकल्पः परतन्त्रः स्वभावाकारो[2] वेदितव्यः। यथा मायाकृतं तस्यां मायायां हस्त्यश्वसुवर्णाद्याकृतिस्तद्भावेन प्रतिभासिता, तथा तस्मिन्नभूतपरिकल्पे द्वयभ्रान्तिर्ग्राह्यग्राहकत्वेन प्रतिभासिता परिकल्पितस्वभावाकारा वेदितव्या ॥ १ ॥

यथाऽतस्मिन्न तद्भावः परमार्थस्तथेष्यते।
यथा तस्योपलब्धिस्तु तथा संवृतिसत्यता ॥ २ ॥

यथाऽतस्मिन्न तद्भावो मायाकृते हस्तित्वाद्यभावस्तथा तस्मिन् परतन्त्रे परमार्थ इष्यते परिकल्पितस्य द्वयलक्षणस्याभावः। यथा तस्य मायाकृतस्य हस्त्यादिभावेनोपलब्धिः, तथाऽभूतपरिकल्पस्य संवृतिसत्यतोपलब्धिः ॥ २ ॥

तदभावे यथा व्यक्तिस्तन्निमित्तस्य लभ्यते।
तथाश्रयपरावृत्तावसत्कल्पस्य लभ्यते ॥ ३ ॥

यथा मायाकृतस्याभावे तस्य निमित्तस्य काष्ठादिकस्य व्यक्तिर्भूतार्थोपलभ्यते, तथाश्रयपरावृत्तौ द्वयभ्रान्त्यभावादभूतपरिकल्पस्य भूतोऽर्थ उपलभ्यते ॥ ३ ॥

तन्निमित्ते यथा लोको ह्यभ्रान्तः कामतश्चरेद्।
परावृत्तावपर्यस्तः कामचारी तथा यतिः[3] ॥ ४ ॥

---

१. यन्त्रपरि०–सि०। २. स्वभावो–सि०। ३. पतिः–सि०।

यथा तन्निमित्ते काष्ठादावभ्रान्तो लोकः कामतश्चरति स्वतन्त्रः, तथाऽऽश्रयपरावृत्तावपर्यस्त आर्यः कामचारी भवति स्वतन्त्रः ॥ ४ ॥

तदाकृतिश्च तत्रास्ति तद्भावश्च न विद्यते ।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वं मायादिषु विधीयते ॥ ५ ॥

एष श्लोको गतार्थः ॥ ५ ॥ [SL. 60]

न भावस्तत्र चाभावो नाभावो भाव एव च ।
भावाभावाविशेषश्च मायादिषु विधीयते ॥ ६ ॥

न भावस्तत्र चाभावो यस्तदाकृतिभावो नासौ न भावः । नाभावो भाव एव च । यो हस्तित्वाद्यभावो नासौ[1] भावः । तयोश्च भावाभावयोरविशेषो मायादिषु विधीयते । य एव हि तत्र तदाकृतिभावः, स एव हस्तित्वाद्यभावः । य एव हस्तित्वाद्यभावः स एव तदाकृतिभावः ॥ ६ ॥

तथा द्वयाभताऽत्रास्ति[2] तद्भावश्च न विद्यते ।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वं रूपादिषु विधीयते ॥ ७ ॥

तथाऽत्राभूतपरिकल्पे द्वयाभासतास्ति द्वयभावश्च नास्ति । तस्मादस्तित्वनास्तित्वं रूपादिषु विधीयते, अभूतपरिकल्पस्वभावेषु ॥ ७ ॥

न भावस्तत्र चाभावो नाभावो भाव एव च ।
भावाभावाविशेषश्च रूपादिषु विधीयते ॥ ८ ॥

न भावस्तत्र चाभावः । या द्वयाभासता । नाभावो भाव एव च । या द्वयतानास्तिता । भावाभावाविशेषश्च रूपादिषु विधीयते । य एव हि द्वयभासताया भावः स एव द्वयस्याभाव इति ॥ ८ ॥

समारोपापवादान्तप्रतिषेधार्थमिष्यते[3] ।
हीनयानेन यानस्य प्रतिषेधार्थमेव च ॥ ९ ॥

किमर्थं पुनरयं भावभावयोरैकान्तिकत्वविशेषश्चेष्यते ? यथाक्रमम् समारोपापवादान्तप्रतिषेधार्थमिष्यते, हीनयानगमनप्रतिषेधार्थं च । अभावस्य ह्यभावत्वं विदित्वा समारोपं न करोति । भावस्य भावत्वं विदित्वापवादं न करोति । तयोश्चाविशेषं विदित्वा न भावादुद्विजते, तस्मान्न हीनयानेन निर्याति ॥ ९ ॥

भ्रान्तेर्निमित्तं भ्रान्तिश्च रूपविज्ञप्तिरिष्यते ।
अरूपिणी च विज्ञप्तिरभावात् स्यान्न चेतरा ॥१०॥

---

१. नासौ न–सि० ।
२. द्वयाभासता०–सि० । ३. ०वादाभप्र०–सि० ।

[SL 61] रूपभ्रान्तेर्या निमित्तविज्ञप्तिः सा रूप विज्ञप्तिरिष्यते। सा तु रूपभ्रान्तिररूपिणी विज्ञप्तिः। अभावाद् रूपविज्ञप्तेरितरापि न स्यादरूपिणी विज्ञप्तिः; कारणाभावात् ॥१०॥

मायाहस्त्याकृतिग्राहभ्रान्तेर्द्वयमुदाहृतम् ।
द्वयं तत्र यथा नास्ति द्वयं चैवोपलभ्यते ॥ ११ ॥
बिम्बसङ्कलिकाग्राहभ्रान्तेर्द्वयमुदाहृतम् ।
द्वयं तत्र यथा नास्ति द्वयं चैवोपलभ्यते ॥ १२ ॥

मायाहस्त्याकृतिग्राहभ्रान्तितो द्वयमुदाहृतम्—ग्राह्यं ग्राहकं च। तत्र यथा नास्ति द्वयं चैवोपलभ्यते। प्रतिबिम्बसङ्कलिका च मनसिकुर्वतः तद्-ग्राहभ्रान्तेर्द्वयमुदाहृतं पूर्ववत् ॥ ११-१२ ॥

तथा भावात् तथाऽभावाद् भावाभावाविशेषतः[1] ।
सदसन्तोऽथ मायाभा ये धर्मा भ्रान्तिलक्षणाः ॥ १३ ॥

ये धर्मा भ्रान्तिलक्षणा विपक्षस्वभावास्ते सदसन्तो मायोपमाश्च। किं कारणम् ? सन्तस्तथाभावादभूतपरिकल्पत्वेन। असन्तस्तथाऽभावाद् ग्राह्य-ग्राहकत्वेन। तयोश्च भावाभावयोरविशिष्टत्वात् सन्तोऽप्यसन्तोऽपि, मायापि चैवंलक्षणा, तस्मान्मायोपमाः ॥ १३ ॥

तथाऽभावात् तथाऽभावात् तथाऽभावादलक्षणाः ।
मायोपमाश्च निर्दिष्टा ये धर्माः प्रातिपक्षिकाः ॥ १४ ॥

येऽपि प्रातिपक्षिका धर्मा बुद्धेनोपदिष्टाः स्मृत्युपस्थानादयस्तेऽप्यलक्षणा मायाश्च निर्दिष्टाः। किं कारणम् ? तथाऽभावाद्, यथा बालैर्गृह्यन्ते। तथा-ऽभावाद्, यथा देशिताः। तथाऽभावाद्, यथा सन्दर्शिता बुद्धेन गर्भावक्रमण-जन्माभिनिष्क्रमणाभिसम्बोध्यादयः। एवमलक्षणा अविद्यमानाश्च ख्यान्ति, तस्मान्मायोपमाः ॥ १४ ॥

मायाराजेव चान्येन मायाराज्ञा पराजितः ।
ये सर्वधर्मान् पश्यन्ति निर्मानास्ते जिनात्मजाः ॥१५॥

[SL 62] ये प्रातिपक्षिका धर्मास्ते मायाराजस्थानीयाः; संक्लेशप्रहाणे व्यवदानाधिपत्यात्। येऽपि सांक्लेशिका धर्मास्तेऽपि राजस्थानीयाः, संक्लेश-निर्वृत्तावाधिपत्यात्। अतस्तैः प्रातिपक्षिकैः संक्लेशपराजयो राज्ञेव[2] राज्ञः पराजयो द्रष्टव्यः। तज्ज्ञानाच्च बोधिसत्त्वा निर्माना भवन्ति उभय-पक्षे ॥ १५ ॥

---

१. भावाभाववि०—सि०।　　२. मायाराज्ञेव—सि०।

औपम्यार्थे श्लोकः—

मायास्वप्नमरीचिबिम्बसदृशाः प्रोद्भासश्रुत्कोपमाः,
विज्ञेयोदकचन्द्रबिम्बसदृशा निर्माणतुल्याः पुनः।
षट् षट् द्वौ न पुनश्च षट् द्वयमता एकैकशश्च त्रयः,
संस्काराः खलु तत्र तत्र कथिता बुद्धैर्विबुद्धोत्तमैः ॥ १ ॥

यत्तूक्तं भगवता—"मायोपमा धर्मा यावन्निर्माणोपमाः" इति। मायोपमा धर्माः षडाध्यात्मिकान्यातनानि; असत्यात्मजीवादित्वे तथा प्रख्यानात्। स्वप्नोपमाः षट्, बाह्यान्यायतनानि तदुपभोगस्यावस्तुकत्वात्। मरीचिकोपमौ द्वौ धर्मौ—चित्तम्, चैतसिकाश्च; भ्रान्तिकरत्वात्। प्रतिबिम्बोपमाः पुनः षडेवाध्यात्मिकान्यायतनानि; पूर्वकर्मप्रतिबिम्बत्वात्। प्रतिभासोपमाः षडेव; बाह्यान्यायतनान्याध्यात्मिकानामायतनानां छायाभूतत्वात् तदाधिपत्योत्पत्तितः। षट् द्वयं मताः षट् द्वयमताः। प्रतिश्रुत्कोपमा देशनाधर्माः। उदकचन्द्रबिम्बोपमाः समाधिसन्निश्रिता धर्माः समाधेरुदकस्थानीयत्वादच्छतया। निर्माणोपमाः संचिन्त्यभवोपपत्तिपरिग्रहेऽसंक्लिष्टसर्वक्रियाप्रयोगत्वात् ॥१॥

ज्ञेयपर्येष्टौ श्लोकः—

अभूतकल्पो न भूतो नाभूतोऽकल्प एव च।
न कल्पो नापि चाकल्पः सर्वं ज्ञेयं निरुच्यते ॥ १ ॥

अभूतकल्पो यो न लोकोत्तरज्ञानानुकूलः कल्पः, न भूतो नाभूतो यस्तदनुकूलो यावन्निर्वेधभागीयः। अकल्पस्तथता लोकोत्तरं च ज्ञानम्। [SL63] न कल्पो नापि चाकल्पः। लोकोत्तरपृष्ठलब्धं लौकिकं ज्ञानम्। एतावच्च सर्वं ज्ञेयम् ॥ १ ॥

संक्लेशव्यवदानपर्येष्टौ श्लोकद्वयम्—

स्वधातुतो द्वयाभासाः साविद्याक्लेशवृत्तयः।
विकल्पाः सम्प्रवर्तन्ते द्वयद्रव्यविवर्जिताः ॥ १ ॥

स्वधातुत इति। स्वबीजादालयविज्ञानतः[1]। द्वयाभासा इति। ग्राह्यग्राहकाभासाः। सहाविद्यया क्लेशैश्च वृत्तिरेषां त इमे साविद्याक्लेशवृत्तयः। द्वयद्रव्यविवर्जिता इति। ग्राह्यद्रव्येण, ग्राहकद्रव्येण च। एवं क्लेशः पर्येष्टव्यः ॥ १ ॥

आलम्बनविशेषाप्तिः स्वधातुस्थानयोगतः।
त एव ह्यद्वयाभासा वर्तन्ते चर्मकाण्डवत् ॥ २ ॥

---
१. भावाङ्गदालय०—सि०।

आलम्बनविशेषाप्तिरिति। यो धर्मालम्बनलाभः पूर्वमुक्तः। स्वधातुस्थान-योगत इति। स्वधातुर्विकल्पानां तथता तत्र स्थानं नाम्नि स्थानाच्चेतसः। योगत इति। अभ्यासात्। भावनामार्गेण त एव विकल्पा अद्वयाभासा वर्तन्ते परा-वृत्ताश्रयस्य। चर्मवत्, काण्डवच्च। यथा हि खरत्वापगमात् तदेव चर्म मृदु भवति। अग्निसन्तापनया तदेव काण्डं ऋजु भवति। एवं शमथविपश्यना-भावनाभ्यां चेतसः[1] प्रज्ञाविमुक्तिलाभे परावृत्ताश्रयस्य त एव विकल्पा न पुनर्द्वयाभासाः प्रवर्तन्ते। इत्येवं व्यवदानं पर्येष्टव्यम्॥ २॥

विज्ञप्तिमात्रतापर्येष्टौ द्वौ श्लोकौ—

चित्तं द्वयप्रभासं रागाद्याभासमिष्यते तद्वत्।
श्रद्धाद्याभासं न तदन्यो धर्मः क्लिष्टकुशलोऽस्ति॥ १॥

चित्तमात्रमेव द्वयप्रतिभासमिष्यते—ग्राह्यप्रतिभासं ग्राहकप्रतिभासं च। यथा रागादिक्लेशाभासं तदेवेष्यते, श्रद्धादिकुशलधर्माभासं वा। न तु तदा-भासादन्यः क्लिष्टो धर्मोऽस्ति रागादिलक्षणः, कुशलो वा श्रद्धादिलक्षणः। यथा द्वयप्रतिभासादन्यो न द्वयलक्षणः॥ १॥

इति चित्तं चित्राभासं चित्राकार प्रवर्तते।
तथा भासो भावाभावो न तु धर्माणां मतः॥ २॥

[SL 64] तत्र चित्तमेव वस्तुतश्चित्राभासं प्रवर्तते। पर्यायेण रागाभासं वा द्वेषाभासं वा। चित्राकारं च युगपत् श्रद्धाद्याकारम्। भासो भावाभावः क्लिष्टकुशलावस्थे चेतसि। न तु धर्माणां क्लिष्टानां कुशलानां वा तत्प्रति-भासव्यतिरेकेण तल्लक्षणाभावात्॥ २॥

लक्षणपर्येष्टौ श्लोका अष्टौ। एकेनोद्देशः, शेषैर्निर्देशः—

लक्ष्यं च लक्षणं चैव लक्षणा च प्रभेदतः।
अनुग्रहार्थं सत्त्वानां सम्बुद्धैः सम्प्रकाशिताः॥ १॥

अनेनोद्देशः॥ १॥

सदृष्टिकं च यच्चित्तं तत्रावस्थाविकारिता।
लक्ष्यमेतत् समासेन ह्यप्रमाणं प्रभेदतः॥ २॥

तत्र चित्तं विज्ञानं रूपं च। दृष्टिश्चैतसिका धर्माः। तत्रावस्था चित्त-विप्रयुक्ता धर्माः। अविकारिता असंस्कृतमाकाशादिकं तद्विज्ञप्तेर्नित्यं तथा-प्रवृत्तेः। इत्येतत् समासेन पञ्चविधं लक्ष्यं प्रभेदेनाप्रमाणम्॥ २॥

---

१. चेतः—सि०।

यथा जल्पार्थसंज्ञाया निमित्तं तस्य वासना।
तस्मादप्यर्थविख्यानं परिकल्पितलक्षणम् ॥ ३ ॥

लक्षणं समासेन त्रिविधं परिकल्पितादिलक्षणम्। तत्र परिकल्पितलक्षणं त्रिविधम्, यथा—जल्पार्थसंज्ञाया निमित्तम्, तस्य जल्पस्य वासना, तस्माच्च वासनाद्यो ऽर्थः ख्याति अव्यवहारकुशलानां विनापि यथाजल्पार्थसंज्ञया। तत्र यथाभिलाषमर्थसंज्ञा चैतसिकी यथाजल्पार्थसंज्ञा। तस्या यदालम्बनं तन्निमित्तम्। एवं यच्च परिकल्प्यते, यतश्च कारणाद् वासना, अतस्तदुभयं परिकल्पितलक्षणमत्राभिप्रेतम् ॥ ३ ॥

अपरपर्यायः—

यथा नामार्थमर्थस्य नाम्नः प्रख्यानता च या।
असंकल्पनिमित्तं हि परिकल्पितलक्षणम् ॥ ४ ॥

यथा नाम चार्थश्च यथा नामार्थम्, अर्थस्य नाम्नश्च प्रख्यानता यथानामार्थप्रख्यानता। यदि यथा नामार्थः ख्याति, यथार्थं वा नाम—इत्येतदभूतपरिकल्पालम्बनं परिकल्पितलक्षणम्। एतावद्धि परिकल्प्यते यदुत नाम वा वा अर्थो वेति ॥ ४ ॥

त्रिविधत्रिविधाभासो ग्राह्यग्राहकलक्षणः।
अभूतपरिकल्पो हि परतन्त्रस्य लक्षणम् ॥ ५ ॥

त्रिविधस्त्रिविधश्चाभासोऽस्येति त्रिविधत्रिविधाभासः। तत्र [SL 65] त्रिविधाभासः—पदाभासः, अर्थाभासः, देहाभासश्च। पुनस्त्रिविधाभासो मनउद्ग्रहविकल्पाभासः। मनो यत् क्लिष्टं सर्वदा। उद्ग्रहः पञ्चविज्ञानकायाः। विकल्पो मनोविज्ञानम्। तत्र प्रथमस्त्रिविधाभासो ग्राह्यलक्षणः, द्वितीयो ग्राहकलक्षणः। इत्ययमभूतपरिकल्पः परतन्त्रस्य लक्षणम् ॥ ५ ॥

अभावभावता या च भावाभावसमानता।
अशान्तशान्ताऽकल्पा च परिनिष्पन्नलक्षणम् ॥ ६ ॥

परिनिष्पन्नलक्षणं पुनस्तथा सा ह्यभावता च, सर्वधर्माणां परिकल्पितानां भावता च; तदभावत्वेन भावात्। भावाभावसमानता च तयोर्भावाभावयोरभिन्नत्वात्। अशान्ता चागन्तुकैरुपक्लेशैः, शान्ता च प्रकृतिपरिशुद्धत्वात्। अविकल्पा च विकल्पागोचरत्वात् निष्प्रपञ्चतया। एतेन त्रिविधं लक्षणं तथतायाः परिदीपितम्—स्वलक्षणम्, [1]संक्लेशव्यदानलक्षणम्, अविकल्पलक्षणं च ॥ ६ ॥ उक्तं त्रिविधं लक्षणम् ॥

---

१. क्लेश०—सि०।

निष्यन्दधर्ममालम्ब्य योनिशो मनसिक्रिया ।
चित्तस्य धातौ स्थानं च सदसत्तार्थपश्यना ॥ ७ ॥

लक्षणा पुनः पञ्चविधा योगभूमिः–आधारः, आधानम्, आदर्शः, आलोकः, आश्रयश्च । तत्राधारो निष्यन्दधर्मो यो बुद्धेनाधिगमो देशितः स तस्याधिगमस्य निष्यन्दः । आधानं योनिशो मनस्कारः । आदर्शः चित्तस्य धातौ स्थानं समाधिः, यदेतत्पूर्वं नाम्नि स्थानमुक्तम् । आलोकः सदसत्त्वेनार्थदर्शनं लोकोत्तरा प्रज्ञा, तया सच्च सतो यथाभूतं पश्यत्यसच्च सतः । आश्रय आश्रयपरावृतिः ॥ ७ ॥

समतागमनं तस्मिन्नार्यगोत्रं हि निर्मलम् ।
समं विशिष्टमन्यूनानधिकं लक्षणा मता ॥ ८ ॥

समतागमनमनास्रवधातौ आर्यगात्रे तदन्यैरार्यैः । तच्च निर्मलमार्यगोत्रं बुद्धानाम् । समं विमुक्तिसमतया श्रावकप्रत्येकबुद्धैः । विशिष्टं पञ्चभिर्विशेषैः—१. विशुद्धिविशेषेण सवासनक्लेशविशुद्धितः, २. परिशुद्धिविशेषेण क्षेत्रपरिशुद्धितः, ३ कायविशेषेण धर्मकायतया, ४. सम्भोगविशेषेण पर्षन्मण्डलेष्वविच्छिन्नधर्मसम्भोगप्रवर्तनतः, ५. कर्मविशेषेण च तुषितभवनवासादिनिर्माणैः सत्त्वार्थक्रियानुष्ठानतः । न च तस्योनत्वं संक्लेशपक्षनिरोधे [SL 66] नाधिकत्वं व्यवदानपक्षोत्पादः । इत्येषा पञ्चविधा योगभूमिर्लक्षणा । तया हि तल्लक्ष्य लक्षणं च लक्ष्यते ॥ ८ ॥

विमुक्तिपर्येष्टौ षट् श्लोकाः—

पदार्थदेहनिर्भासपरावृत्तिरनास्रवः ।
धातुर्बीजपरावृत्तेः स च सर्वत्रगाश्रयः ॥ १ ॥

बीजपरावृत्तेरिति । आलयविज्ञानपरावृत्तितः । पदार्थदेहनिर्भासानां विज्ञानानां परावृत्तिरनास्रवो धातुर्विमुक्तिः । स च सर्वगाश्रयः श्रावकप्रत्येकबुद्धगतः ॥ १ ॥

चतुर्धा वशिताऽवृत्तेर्मनसश्चोद्ग्रहस्य च ।
विकल्पस्याविकल्पे हि क्षेत्रे ज्ञानेऽथ कर्मणि ॥ २ ॥

मनसश्चोद्ग्रहस्य च । विकल्पस्य चावृत्तः परावृत्तेरित्यर्थः । चतुर्धा वशिता भवति यथाक्रममविकल्पे क्षेत्रे ज्ञानकर्मणश्च ॥ २ ॥

अचलादित्रिभूमौ च वशिता सा चतुर्विधा ।
द्विधैकस्यां तदन्यस्यामेकैका वशिता मता ॥ ३ ॥

सा चेयमचलादिभूमित्रये चतुर्धा वशिता वेदितव्या । एकस्यामचलायां

भूमौ द्विविधा। अविकल्पे[1] चानभिसंस्कारनिर्विकल्पत्वात्; क्षेत्रे च बुद्धक्षेत्रपरिशोधनात्। तदन्यस्यां भूमावेकैका वशिता–साधुमत्यां ज्ञानवशिता, प्रतिसंविद्विशेषलाभात्; धर्ममेघायां कर्मण्यभिज्ञाकर्मणामव्याघातात् ॥ ३ ॥

अपरो विमुक्तिपर्यायः—

विदित्वा नैरात्म्यं द्विविधमिह धीमान् भवगतम्,
समं तच्च ज्ञात्वा प्रविशति स तत्त्वं ग्रहणतः।
ततस्तत्र स्थानान्मनस इह न ख्याति तदपि
तदख्यानं मुक्तिः परम उपलम्भस्य विगमः ॥ ४ ॥

द्विविधं नैरात्म्यं विदित्वा भवत्रयगतं बोधिसत्त्वः समं तच्च ज्ञात्वा द्विविधनैरात्म्यं परिकल्पितपुद्गलाभावात् परिकल्पितधर्माभावात्, न तु सर्वथैवाभावतः। तत्त्वं प्रविशति विज्ञप्तिमात्रताम्। ग्रहणतो ग्रहणमात्रमेतदिति। ततस्तत्र तत्त्वविज्ञप्तिमात्रस्थानान्मनसस्तदपि तत्त्वं न ख्याति विज्ञप्तिमात्रम्। तदख्यानं मुक्तिः परम उपलम्भस्य यो विगमः पुद्गल- [SL. 67] धर्मयोरनुपलम्भात् ॥ ४ ॥

अपरः पर्यायः—

आधारे सम्भारादाधाने सति हि नाममात्रं पश्यन्।
पश्यति हि नाममात्रं तत्पश्यंस्तच्च नैव पश्यति भूयः ॥ ५ ॥

आधार इति। श्रुतौ सम्भारादिति संभृतसंभारस्य पूर्वं सम्भारलाभाद्। आधाने सतीति। योनिशोमनस्कारे। नाममात्रं पश्यन्निति। अभिलापमात्रमर्थरहितम्। "पश्यति हि नाममात्रमिति। विज्ञप्तिमात्रं नाम अरूपिणश्चत्वारः स्कन्धाः" इति कृत्वा। तत्पश्यन्। तदपि भूयो नैव पश्यत्यर्थाभावे तद्विज्ञप्त्यदर्शनादिति। अयमनुपलम्भो विमुक्तिः ॥ ५ ॥

अपरः प्रकारः—

चित्तमेतत् सदौष्ठुल्यमात्मदर्शनपाशितम्।
प्रवर्त्तते निवृत्तिस्तु तदध्यात्मस्थितेर्मता ॥ ६ ॥

चित्तमेतत्सदौष्ठुल्यं प्रवर्तते जन्मसु। आत्मदर्शनपाशितमिति। दौष्ठुल्यकारणं दर्शयति। द्विविधेनात्मदर्शनेन पाशितमतः सदौष्ठुल्यमिति। निवृत्तिस्तु तदध्यात्मस्थितेरिति। तस्य चित्तस्य चित्त एवावस्थानादालम्बनानुपलम्भतः ॥ ६ ॥

---

१. ०न–सि०।

म० सू० : ५

निःस्वभावतापर्येष्टौ श्लोकद्वयम् —

स्वयं स्वेनात्मनाऽभावात् स्वभावे चानवस्थितेः ।
ग्राहवत् तदभावाच्च[1] निःस्वभावत्वमिष्यते ।। १ ।।

स्वयमभावान्निःस्वभावत्वं धर्माणां प्रत्ययाधीनत्वात्, स्वेनात्मनाऽभावान्निःस्वभावत्वं निरुद्धानां पुनस्तेनात्मनानुपत्तेः, स्वभावेऽनवस्थितत्वान्निःस्वभावत्वं क्षणिकत्वात् – इत्येतत्त्रिविधं निःस्वभावत्वम् संस्कृलक्षणत्रयानुगं वेदितव्यम् । ग्राहवत्तदभावाच्च निःस्वभावत्वम् । तदभावादिति स्वाभावात् । यथा बालानां स्वभावग्राहो नित्यसुखशुच्यात्मा वाऽन्येन वा परिकल्पितलक्षणेन तथासौ स्वभावो नास्ति । तस्मादपि निःस्वभावत्वं धर्माणामिष्यते ।। १ ।।

निःस्वभावतया सिद्धा उत्तरोत्तरनिश्रयात् ।
अनुत्पन्नानिरुद्धादिशान्तप्रकृति-निर्वृता ।। २ ।।

[SL 68] सिद्धा निःस्वभावतयाऽनुत्पादादयः । यो हि निःस्वभावः सोऽनुत्पन्नः, योऽनुत्पन्नः सोऽनिरुद्धः, योऽनिरुद्धः स आदिशान्तः, य आदिशान्तः स प्रकृतिपरिनिर्वृतः—इत्येवमुत्तरोत्तरनिश्रयैरेभिर्निःस्वभावतादिभिर्निःस्वभावतयाऽनुत्पादादयः सिद्धा भवन्ति ।। २ ।।

अनुत्पत्तिधर्मक्षान्तिपर्येष्टावार्या[2]—

आदौ तत्त्वेऽन्यत्वे स्वलक्षणे स्वयमथान्यथाभावे ।
संक्लेशेऽथ विशेषे क्षान्तिरनुत्पत्तिधर्मोक्ता ।। १ ।।

अष्टास्वनुत्पत्तिधर्मेषु क्षान्तिरनुत्पत्तिकर्मक्षान्तिः । आदौ संसारस्य, न हि तस्याद्युत्पत्तिरिति । तत्वेऽन्यत्वे च पूर्वपश्चिमानाम्, न हि संसारे तेषामेव धर्माणामुत्पत्तिः, ये पूर्वमुत्पन्नास्तद्भावेनानुत्पत्तेः । न चान्येषाम्, अपूर्वप्रकारानुत्पत्तेः । स्वलक्षणे परिकल्पितस्य स्वभावस्य, न हि तस्य कदाचिदुत्पत्तिः । स्वयमनुत्पत्तौ परतन्त्रस्य । अन्यथाभावे परिनिष्पन्नस्य न हि तदन्यथाभावस्योत्पत्तिरस्ति । संक्लेशे प्रहीणे, न हि क्षयज्ञानलाभिनः संक्लेशस्योत्पत्तिं पुनः पश्यन्ति । विशेषे बुद्धधर्मकायानाम् । न हि तेषां विशेषोत्पत्तिरस्ति । इत्येतेष्वनुत्पत्तिधर्मेषु क्षान्तिरनुत्पत्तिधर्मोक्ता ।। १ ।।

एकयानतापर्येष्टौ सप्त श्लोकाः—

धर्मनैरात्म्यमुक्तीनां तुल्यत्वाद् गोत्रभेदतः ।
द्वयाशयाप्तेश्च निर्माणात् पर्यन्तादेकयानता ।। १ ।।

---

१. तदाभावा०—सि० ।

२. आर्याच्छन्दनिबद्ध एष श्लोक इत्यर्थः ।

१. धर्मतुल्यत्वादेकयानता, श्रावकादीनां धर्मधातोरभिन्नत्वात् यातव्यं यानमिति कृत्वा। २. नैरात्म्यस्य तुल्यत्वादेकयानता, श्रावकादीनामात्माभावतासामान्याद्याता यानमिति कृत्वा। विमुक्तितुल्यत्वादेकयानता, याति यानमिति कृत्वा। ४. गोत्रभेदादेकयानता। अनियतश्रावकगोत्राणां महायानेन निर्याणात् यान्ति तेन यानमिति कृत्वा। ५. द्वयाशयाप्तेरेकयानता। बुद्धानां च सर्वसत्त्वेष्वात्माशयप्राप्तेः, श्रावकाणां च तद्गोत्रनियतानां पूर्वं बोधिसम्भारचरितानामात्मनि[१] बुद्धाशयप्राप्तेरभिन्नसन्तानाधिमोक्षलाभतो बुद्धानुभावेन तथागतानुग्रहविशेषप्रदेशलाभाय इत्येकत्वाशयलाभेनैकत्वाद् बुद्धतच्छ्रावकाणामेकयानता। ६. निर्माणादेकयानता, यथोक्तम्–'अनेकशतकृत्वोऽहं श्रावकयानेन परिनिर्वृतः'' इति विनेयानामर्थे तथा निर्माणसन्दर्शनात्। ७. पर्यन्तादप्येकयानता; यतः परेणः यातव्यं [SL 69] नास्ति तद्यानमिति कृत्वा। बुद्धत्वमेकयानम्। एवं तत्र तत्र सूत्रे तेनाभिप्रायेणैकयानता वेदितव्या, न तु यानत्रयं नास्ति ॥ १ ॥

किमर्थं पुनस्तेन तेनाभिप्रायेणैकयानता बुद्धैर्देशिता?

आकर्षणार्थमेकेषामन्यसन्धारणाय च।
देशितानियतानां हि सम्बुद्धैरेकयानता ॥ २ ॥

आकर्षणार्थमेकेषामिति। ये श्रावकगोत्रा अनियताः। अन्येषां च सन्धारणाय। ये बोधिसत्त्वगोत्रा अनियताः ॥ २ ॥

श्रावकोऽनियतो द्वेधा दृष्टादृष्टार्थयानतः।
दृष्टार्थो वीतरागश्चावीतरागोऽप्यसौ मृदुः ॥ ३ ॥

श्रावकः पुनरनियतो द्विविधो वेदितव्यः—दृष्टार्थयानश्च यो दृष्टार्थं महायनेन निर्याति, अदृष्टार्थयानश्च यो न दृष्टसत्यो महायानेन निर्याति। दृष्टार्थः पुनर्वीतरागश्चावीतरागश्च कामेभ्यः। असौ च मृदुर्धन्धगतिको वेदितव्यः ॥ ३ ॥

यो दृष्टार्थो द्विविध उक्तः—

तौ च लब्धार्यमार्गस्य भवेषु परिणामनात्।
अचिन्त्यपरिणामिक्या उपपत्त्या समन्वितौ ॥ ४ ॥

तौ च दृष्टार्थौ लब्धस्यार्यमार्गस्य भवेषु परिणामनात् अचिन्त्यपरिणामिक्या उपपत्त्या समन्वागतौ वेदितव्यौ। अचिन्त्यो हि तस्यार्यमार्गस्य परिणाम उपपत्तौ। तस्मादचिन्त्यपरिणामिकी ॥ ४ ॥

---

१. ०चरितादनात्मनि–सि०।

प्रणिधानवशादेक उपपत्तिं प्रपद्यते ।
एकोऽनागामितायोगान्निर्माणैः प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥

तयोश्चैकः प्रणिधानवशादुपपत्तिं गृह्णाति यथेष्टं यो न वीतरागः । एकोऽनागामितायोगबलेन निर्माणैः ॥ ५ ॥

निर्वाणाभिरतत्वाच्च तौ धन्धगतिकौ मतौ ।
पुनः पुनः स्वचित्तस्य समुदाचारयोगतः ॥ ६ ॥

[SL 70] तौ च निर्वाणभिरतत्वादुभावपि धन्धगतिकौ मतौ; चिरतरेणाभिसम्बोधतः । स्वस्य श्रावकचित्तस्य निर्वित्सहगतस्याभीक्ष्णं समुदाचारात् ॥६॥

सोऽकृतार्थो ह्यबुद्धे च जातो ध्यानार्थमुद्यतः ।
निर्माणार्थी तदाश्रित्य परां बोधिमवाप्नुते ॥ ७ ॥

यः पुनरसाववीतरागो दृष्टसत्यः सोऽकृतार्थः शैक्षो भवन् बुद्धरहिते काले जातो ध्यानार्थमुद्यतो भवति निर्माणार्थी । तच्च निर्माणमाश्रित्य क्रमेण परां बोधिं प्राप्नोति । तमवस्थात्रयस्थं सन्धायोक्तं भगवता श्रीमालासूत्रे—"श्रावको भूत्वा प्रत्येकबुद्धो भवति पुनश्च बुद्धः" इति । अग्निदृष्टान्तेन च[1], यदा च पूर्वं दृष्टसत्यावस्थो[2] यदा बुद्धरहिते काले स्वयं ध्यानमुत्पाद्य जन्मकायं त्यक्त्वा निर्माणकायं गृह्णाति यदा च परां बोधिं प्राप्नोतीति ॥ ७ ॥

विद्यास्थानपर्येष्टौ श्लोकः—

विद्यास्थाने पञ्चविधे योगमकृत्वा सर्वज्ञत्वं नैति कथञ्चित् परमार्थः ।
इत्यन्येषां निग्रहणानुग्रहणाय स्वाज्ञार्थं वा तत्र करोत्येव स योगम् ॥

पञ्चविधं विद्यास्थानम्–अध्यात्मविद्या, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्साविद्या, शिल्पकर्मस्थानविद्या च । तद्यदर्थं बोधिसत्त्वेन पर्येष्टव्यं तद् दर्शयति । सर्वज्ञत्वप्राप्त्यर्थमभेदेन सर्वम् । भेदेन पुनर्हेतुविद्यां शब्दविद्यां च पर्येषते निग्रहार्थमन्येषां तदनधिमुक्तानाम् । चिकित्साविद्यां शिल्पकर्मस्थानविद्यां चान्येषामनुग्रहार्थं तदर्थिकानाम् । अध्यात्मविद्यां स्वयमाज्ञार्थम् ॥ १ ॥

[SL 71] धातुपुष्टिपर्येष्टौ त्रयोदश श्लोकाः—

पारमितापरिपूरणार्थं ये पारमिताप्रतिसंयुक्ता एवं मनसिकारा धातुपुष्टये भवन्ति, त एताभिर्गाथाभिर्देशिताः—

हेतूपलब्धितुष्टिश्च निश्रयतदनुस्मृतिः ।
साधारणफलेच्छा च यथाबोधाधिमुच्यना ॥ १ ॥

---

१. सि० पुस्तके नास्ति ।
२. ०सत्यावस्था–सि० ।

ते पुनर्हेतूपलब्धितुष्टिमनसिकारात् यावदग्रत्वात्मावधारणमनसिकारः। १. तत्र हेतूपलब्धितुष्टिमनसिकार आदित एव तावत्। गोत्रस्थो बोधिसत्त्वः स्वात्मनि पारमितानां गोत्रं पश्यन् हेतूपलब्धितुष्टया पारमिताधातुपुष्टिं करोति। २. गोत्रस्थोऽनुत्तरायां सम्यक्सम्बोधौ चित्तमुत्पादयतीत्यतोऽनन्तरं निश्रयतदनुस्मृतिमनसिकारः। स हि बोधिसत्त्वः स्वात्मनि पारमितानां संनिश्रयभूतं बोधिचित्तं समनुपश्यन्नेवं मनसिकरोति--'नियतमेताः पारमिताः परिपूरिं गमिष्यन्ति, तथा ह्यस्माकं बोधिचित्तं संविद्यते' इति। ३. उत्पादितबोधिचित्तस्य पारमिताभिः स्वपरार्थप्रयोगे साधारणफलेच्छामनसिकार आसां पामितानां परसाधारणं वा फलं भवत्यन्यथा वा मा भूदित्यभिसंस्करणात्। ४. स्वपरार्थं प्रयुज्यमानोऽसंक्लेशोपायं तत्त्वार्थं प्रतिविध्यतीत्यतोऽनन्तरं यथाबोधाधिमुच्यनामनसिकारः। एवं सर्वत्रानुक्रमो वेदितव्यः। यथा बुद्धैर्भगवद्भिः पारमिता अभिसम्बुद्धा अभिसम्भोत्स्यन्तेऽभिसम्बुध्यन्ते च, तथाऽहमधिमुच्ये इत्यभिसंस्करणात्॥ १॥

चतुर्विधानुभावेन प्रीयणाऽखेदनिश्चयः।
विपक्षे प्रतिपक्षे च प्रतिपत्तिश्चतुर्विधा॥ २॥

अनुभावप्रीयणामनसिकारश्चतुर्विधानुभावदर्शनप्रीयणा, चतुर्विधानुभावो विपक्षप्रहाणम्, संभारपरिपाकः, स्वपरानुग्रहः, आयत्यां विपाकफलनिःष्यन्दफलदानता च। सत्त्वस्वबुद्धधर्मपरिपाकमारभ्याखेदनिश्चयमनसिकारः, सर्वसत्त्वविप्रतिपत्तिभिः सर्वदुःखापत्तिपातैश्चाखेदनिश्चयाभिसंस्करणात् परमबोधिप्राप्तये। विपक्षे प्रतिपक्षे च चतुर्विधप्रतिपत्तिमनसिकारः। दानादिविपक्षाणां च मात्सर्यादीनां प्रतिदेशना, प्रतिपक्षाणां च दानादीनामनुमोदना, तदाधिपतेयधर्मदेशनार्थं च बुद्धाध्येषणा। तासां च बोधौ परिणामना॥ २॥ [SL 72]

प्रसादः सम्प्रतीक्षा च दानच्छन्दः परत्र च।
सन्नाहः प्रणिधानं च अभिनन्दमनस्क्रिया॥ ३॥

अधिमुक्तिबलाधानतामारभ्य पारमिताधिपतेयधर्मार्ये च प्रसादमनसिकारः। धर्मपर्येष्टिमारभ्य सम्प्रतीच्छनमनसिकारस्तस्यैव धर्मस्याप्रतिवहनयोगेन परिग्रहणतया। देशनामारभ्य दानच्छन्दमनसिकारो धर्मस्यार्थस्य च प्रकाशनार्थं परेषाम्। प्रतिपत्तिमारभ्य सन्नाहमनसिकारो दानादिपरिपूरये सन्नह्नात्। प्रणिधानमनसिकारस्तत्परिपूरिप्रत्यये[1] समवधा-

---

१. ०परिपूरिप्राप्तये–सि०।

नार्थम्। अभिनन्दमनसिकारः—"अहो बत दानादिप्रतिपत्त्या सम्यक् सम्पादयेयम्" इत्यभिनन्दनात्। एत एव त्रयो मनसिकारा अववादानुशासन्यां योजयितव्याः। उपायोपसंहितकर्ममनसिकारः सङ्कल्पैः सर्वप्रकारदानादि-प्रयोगमनसिकरणात्॥ ३॥

शक्तिलाभे सदौत्सुक्यं दानादौ षड्विधेधनम्।
परिपाकेऽथ पूजायां सेवायामनुकम्पना॥ ४॥

औत्सुक्यमनसिकारश्चतुर्विधः—शक्तिलाभे च दानादौ षड्विधे दानदाने यावत् प्रज्ञादाने। एवं शीलादिषु षड्विधेषु। पारमिताभिरेव संग्रहवस्तु-प्रयोगेण सत्त्वपरिपाके। पूजायां च दानेन लाभसत्कारपूजया। शेषाभिश्च प्रतिपत्तिपूजया। अविपरीतपारमितोपदेशार्थश्च कल्याणमित्रसेवायामौत्सुक्य-मनसिकारो वेदितव्यः। अनुकम्पामनसिकारश्चतुर्भिरप्रमाणैर्दानाद्युपसंहारेण मैत्रायत्तः। मात्सर्यादिसमवधानेन सत्त्वेषु करुणायत्तः। दानादिसमन्वागतेषु मुदितायत्तः। तदसंक्लेशाधिमोक्षतश्च उपेक्षायत्तः॥ ४॥

अकृते कुकृते लज्जा कौकृत्यं विषये रतिः।
अमित्रसंज्ञा खेदे च रचनोद्भावनामतिः॥ ५॥

ह्रीधर्ममारभ्य लज्जामनस्कारः, अकृतेषु वा दानादिष्वपरिपूर्णमिथ्या-कृतेषु वा लज्जा; लज्जायमानश्च प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थमनानुषङ्गिकं कौकृत्यायते। [SL 73] धृतिमारभ्य रतिमनस्कारो दानाद्यालम्बनेऽविक्षेपतश्चित्तस्य धारणात्। अखेदमनस्कारो दानादिप्रयोगपरिखेदे शत्रुसंज्ञाकरणात्। रचनाच्छन्दमनस्कारः; पारमिताप्रतिसंयुक्तशास्त्ररचनाभिसंस्करणात्। लोकज्ञतामारभ्य उद्भावनामनस्कारः; तस्यैव शास्त्रस्य लोके यथाभाजन-मुद्भावनाभिसंस्करणात्॥ ५॥

दानादयः प्रतिसरणं सम्बोधौ नेश्वरादयः।
दोषाणां च गुणानां च प्रतिसंवेदना[१] द्वयोः॥ ६॥

प्रतिसरणमनस्कारो बोधिप्राप्तये दानादीनां प्रतिसरणान्नेश्वरादीनाम्, प्रतिसंविन्मनस्कारो मात्सर्यदानादिविपक्षप्रतिपक्षयोर्दोषगुणप्रतिसंवेद-नात्॥ ६॥

चयानुस्मरणप्रीतिर्माहात्म्यस्य च दर्शनम्।
योगेऽभिलाषोऽविकल्पे तद्धृत्यां प्रत्ययागमे॥ ७॥

---

१. प्रतिसंवेदनात्—सि०।

चयानुस्मरणप्रीतिमनस्कारो दानाद्युपचये पुण्यज्ञानसम्भारोपचयसन्दर्शनात्। माहार्थ्यसन्दर्शनमनस्कारो दानादीनां बोधिपक्षे भावार्थेन महाबोधिप्राप्त्यर्थसन्दर्शनात्। अभिलाषमनस्कारः। स पुनश्चतुर्विधः—१. योगाभिलाषमनस्कारः, शमथविपश्यनायोगभावनाभिलाषात्; २. अविकल्पाभिलाषमनस्कारः, पारमितापरिपूरणार्थमुपायकौशल्याभिलाषात्; ३. धृत्यभिलाषमनस्कारः, पारमिताधिपतेयधर्मार्थधारणाभिलाषात्; ४. प्रत्ययाभिगमाभिलाषमनस्कारः, सम्यक्प्रणिधानाभिसंस्करणात्॥ ७॥

सप्तप्रकारासद्ग्राहव्युत्थाने शक्तिदर्शनम्।
आश्चर्यं चाप्यनाश्चर्यं संज्ञा चैव चतुर्विधा॥ ८॥

सप्तप्रकारासद्ग्राहव्युत्थानशक्तिदर्शनमनस्कारः। सप्तविधोऽसद्ग्राहः। १. असति सद्ग्राहः; २. दोषवति गुणवत्त्वग्राहः, ३. गुणवत्यगुणवत्त्वग्राहः, ४. सर्वसंस्कारेषु च नित्यसुखासद्ग्राहौ, ५. सर्वधर्मेषु चात्मासद्ग्राहः, ६. निर्वाणे चाशान्तासद्ग्राहः, ७. यस्य प्रतिपक्षेण शून्यतादिसमाधित्रयं धर्मोद्दानचतुष्टयं च देश्यते। आश्चर्ये चतुर्विधसंज्ञामनस्कारः—पारमितासूदारसंज्ञा, आयतत्वसंज्ञा, प्रतिकारनिरपेक्षसंज्ञा, विपाकनिरपेक्षासंज्ञा च। अनाश्चर्येऽपि चतुर्विधसंज्ञामनस्कारः[1]। चतुर्विधमनाश्चर्यमौदर्य आयतत्वे च सति पारमितानां बुद्धत्वफलाभिनिर्वर्तनात्। अस्मिन्नेव च द्वये सति स्वपरसमचित्तावस्थापनात् तद्विशिष्टेभ्यश्च शक्रादिभ्यः[2] पूजादिलाभे सति प्रतिकारनिरपेक्षता, सर्वलोकेभ्यो[3] विशिष्टशरीरभोगलाभे[3] सत्यपि विपाकनिरपेक्षता॥ ८॥

समता सर्वसत्त्वेषु दृष्टिश्चापि महात्मिका।
परगुणप्रतीकारस्त्रयाशास्तिर्निरन्तरः ॥ ९॥

समतामनस्कारः सर्वसत्त्वेषु दानादिभिः समथाप्रवृत्त्यभिसंस्करणात्। [SL 74] महात्मदृष्टिमनस्कारः सर्वसत्त्वोपकारतया पारमितासंदर्शनात्। प्रत्युपकाराशंसनमनस्कारो[4] दानादिगुणप्रवृत्त्या परेभ्यः। आशास्तिमनस्कारः सत्त्वेषु त्रिस्थानाशंसनात् पारमितानां बोधिसत्त्वभूमिनिष्ठाया बुद्धभूमिनिष्ठायाः सत्त्वार्थाचरणाशंसनाच्च। निरन्तरमनस्कारो दानादिभिरवन्ध्यकालकरणाभिसंस्करणात्[5]॥ ९॥

---

१. चतुर्विधमन०—सि०। २. शक्रदिभ्यः—सि०। ३-३. सि० पुस्तके नास्ति। ४. प्रत्ययकारा०—सि०। ५. ०रवध्य०—सि०।

बुद्धप्रणीतानुष्ठानादर्वागस्थानचेतना[1] ।
तद्धानिवृद्धया सत्त्वेषु अनामोदः प्रमोदना ॥१०॥

सम्यक्प्रयोगमनस्कारः, अविपरीतानुष्ठानादर्वागस्थानमनसिकरणात् । अनामोदमनस्कारः, दानादिभिर्हीयमानेषु । प्रमोदमनस्कारः, दानादिभिर्वर्धमानेषु सत्त्वेषु ॥ १० ॥

प्रतिवर्णिकाभूतायां[2] भावनायां च नारुचिः ।
नाधिवासमनस्कारो व्याकृतनियते स्पृहा ॥ ११ ॥

अरुचिमनस्कारः पारमिताप्रतिवर्णिकाभावनायाम् । रुचिमनस्कारो भूतायाम् । अनधिवासनामनस्कारो मात्सर्यादिविपक्षविनयाभिसंस्करणात् । स्पृहामनस्कारो द्विविधः—पारमितापरिपूरिव्याकरणलाभस्पृहामनस्कारः, पारमितानियतभूम्यवस्थालाभस्पृहामनस्कारश्च ॥ ११ ॥

आयत्यां दर्शनाद् वृत्तिचेतना समतेक्षणा ।
अग्रधर्मेषु वृत्त्या च अग्रत्वात्मावधारणा ॥१२॥

आयत्यां दर्शनाद् वृत्तिमनस्कारो यां[3] यां[3] गतिं गत्वा बोधिसत्त्वेन [SL 75] सताऽवश्यकरणीयताऽभिसंस्कारणात् दानादीनाम् । समतेक्षणामनस्कारस्तदन्यैर्बोधिसत्त्वैः सहात्मनः पारमितासातत्यकरणाधिमोक्षार्थम् । अग्रत्वात्मावधारणमनस्कारः पारमिताग्रधर्मप्रवृत्त्या स्वात्मनः प्रधानभावसन्दर्शनात् ॥ १२ ॥

एते शुभमनस्कारा दशपारमितान्वयाः ।
सर्वदा बोधिसत्त्वानां धातुपुष्टौ भवन्ति हि ॥१३॥

इति निगमनश्लोको गतार्थः ॥ १३ ॥

धर्मपर्येष्टिभेदे द्वौ श्लोकौ —

पुष्टेरध्याशयतो महती पर्येष्टिरिष्यते धीरे ।
सविवासा ह्यविवासा तथैव वैभुत्विकी तेषाम् ॥ १ ॥
असकाया लब्धकाया[4] प्रपूर्णकाया च बोधिसत्त्वानाम् ।
बहुमानसूक्ष्ममाना निर्माणा चैषणाऽभिमता ॥ २ ॥

त्रयोदशविधा पर्येष्टिः–१. पुष्टितः श्रुताधिमुक्तिपुष्ट्या । २. अध्याशयतो धर्ममुखस्रोतसा । ३. महती विभुत्वलाभिनाम् । ४. सविप्रवासा प्रथमा । ५. अविप्रवासा द्वितीया । ६ वैभुत्विकी तृतीया । ७. अकाया श्रुतचिन्तामयी

१. ०चेतनात्–सि० ।
२. ०वर्णिकायां–सि० ।
३-३. ०सि पुस्तके नास्ति ।
४. लघ्वकाया–सि० ।

धर्मकायरहितत्वात् । ८. सकाया भावनामयी अधिमुक्तिचर्याभूमौ । ९. लब्धकाया सप्तसु भूमिषु । १०. परिपूर्णकाया शेषासु । ११. बहुमानाधिमुक्तिचर्याभूमौ । १२. सूक्ष्ममाना सप्तसु । १३. निर्माणा शेषासु ॥ १–२ ॥

धर्महेतुत्वपर्येष्टौ श्लोकः—

रूपारूपे धर्मो लक्षणहेतुस्तथैव चारोग्ये ।
ऐश्वर्येऽभिज्ञाभिस्तदक्षयत्वे च धीराणाम् ॥ १ ॥

रूपे लक्षणहेतुर्धर्मः । अरूपे आरोग्यहेतुः क्लेशव्याधिप्रशमनात् । ऐश्वर्यहेतुरभिज्ञाभिस्तदक्षयत्वहेतुश्चानुपधिशेषनिर्वाणेऽप्यनुपच्छेदात् । अत एवोक्तं ब्रह्मपरिपृच्छासूत्रे—"चतुर्भिर्धर्मैः समन्वागता बोधिसत्त्वा धर्मं [SL 76] पर्येषन्ते । रत्नसंज्ञया दुर्लभार्थेन, भैषज्यसंज्ञया क्लेशव्याधिप्रशमनार्थेन, अर्थसंज्ञया अविप्रणाशार्थेन, निर्वाणसंज्ञया सर्वदुःखप्रशमनार्थेन । रत्नभूतानि हि लक्षणानि शोभाकरत्वात्, अतस्तद्धेतुत्वाद्धर्मरत्नसंज्ञा । आरोग्यहेतुत्वाद् भैषज्यसंज्ञा । अभिज्ञैश्वर्यहेतुत्वादर्थसंज्ञा । तदक्षयहेतुत्वान्निर्वाणसंज्ञाऽक्षयनिर्भयतार्थेन ॥ १ ॥

विकल्पपर्येष्टौ श्लोकः—

अभावभावाध्यपवादकल्प एकत्वनानात्वविशेषकल्पाः ।
यथार्थनामाभिनिवेशकल्पाः जिनात्मजैः सम्परिवर्जनीयाः ॥ १ ॥

दशविधविकल्पो बोधिसत्त्वेन परिवर्जनीयः । १. अभावविकल्पः, यस्य प्रतिपक्षेणाह—प्रज्ञापारमितायामिह बोधिसत्त्व एव सन्निति । २. भावविकल्पः, यस्य प्रतिपक्षेणाह—बोधिसत्त्वं न समनुपश्यतीत्येवमादि । ३. अध्यारोपविकल्पः, यस्य प्रतिपक्षेणाह—रूपं शारिपुत्र स्वभावेन शून्यमिति । ४. अपवादविकल्पः यस्य प्रतिपक्षेणाह—न शून्यतयेति । ५. एकत्वविकल्पः, यस्य प्रतिपक्षेणाह–या रूपस्य शून्यता न तद्रूपमिति । ६. नानात्वविकल्पः, यस्य प्रतिपक्षेणाह—न चान्यत्र शून्यताया रूपं रूपमेव शून्यता शून्यतैव रूपमिति । ७. स्वलक्षणविकल्पः, यस्य प्रतिपक्षेणाह –नाममात्रमिदं यदिदं रूपमिति । ८. विशेषविकल्पः, यस्य प्रतिपक्षेणाह – रूपस्य हि नोत्पादो न निरोधो न संक्लेशो न व्यवदानमिति । ९ यथानामार्थाभिनिवेशविकल्पः, यस्य प्रतिपक्षेणाह—कृत्रिमं नामेत्येवमादि । १० यथार्थनामाभिनिवेशविकल्पश्च, यस्य प्रतिपक्षेणाह—तानि बोधिसत्त्वः सर्वनामानि न समनुपश्यन्नाभिनिविशते यथार्थतयेत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

निगमनश्लोकः—

इति शुभमतिरेत्य यत्नमुग्रं द्वयपर्येषितधर्मता सतत्त्वा ।
प्रतिशरणमतः सदा प्रजानां भवति गुणैः स समुद्रवत् प्रपूर्णः ॥ १ ॥

अनेन निगमनश्लोकेन पर्येष्टिमाहात्म्यं त्रिविधं दर्शयति–१. उपायमाहात्म्यमुग्रवीर्यतया संवृत्तिपरमार्थसत्यधर्मतापर्येषणतश्च तत्त्वं सत्यमित्यर्थः, २. परार्थमाहात्म्यं प्रतिशरणीभावात् प्रजानाम्, ३. स्वार्थमाहात्म्यं च गुणैः समुद्रवत् प्रपूर्णत्वात् ॥ १ ॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे धर्मपर्येष्ट्यधिकार एकादशः ॥

१२

द्वादशो देशनाधिकारः

धर्मदेशनायां मात्सर्यप्रतिषेधे श्लोकः— [SL 71]

प्राणान् भोगांश्च धीराः प्रमुदितमनसः कृच्छ्रलब्धानसारान्,
सत्त्वेभ्यो दुःखितेभ्यः सततमवसृजन्त्युच्चदानप्रकारैः ।
प्रागेवोदारधर्मं हितकरमसकृत् सर्वथैव प्रजानाम्,
कृच्छ्रे नैवोपलब्धं भृशमवसृजतां वृद्धिगं चाव्ययं च ।। १ ।।

कृच्छ्रलब्धानप्यसारान् क्षयित्वात्[1] प्राणान् भोगांश्च बोधिसत्त्वा दुःखितेभ्यः कारुण्यात् सततमुदारैर्विसर्गैरुत्सृजन्ति प्रागेव धर्मं यो नैव कृच्छ्रेण वा भृशमपि वाऽवसृजतां वृद्धिं गच्छति न क्षयम् ।। १ ।।

धर्मनैरर्थक्यसार्थक्ये श्लोकद्वयम्—

धर्मो नैव च देशितो भगवता प्रत्यात्मवेद्यो यतः,
आकृष्टा जनता च युक्तिविहितैर्धर्मैः[2] स्वकीं धर्मताम् ।
स्वशान्त्यास्यपुटे विशुद्धिविपुले साधारणेऽथाक्षये,
लालेनेव कृपात्मभिस्त्वजगरप्रख्यैः समापादिता ।। १ ।।

तत्र बुद्धा अजगरोपमाः; तेषां स्वशान्तेरास्यपुटं[3] धर्मकायः । विशुद्धिविपुलं सवासनक्लेशज्ञेयावरणविशुद्धितः । साधरणं सर्वबुद्धैः अक्षयमात्यन्तिकत्वात् ।। १ ।।

तस्मान्नैव निरर्थिका भवति सा या भावना योगिनाम्,
तस्मान्नैव निरर्थिका भवति सा या देशना सौगती ।
दृष्टोऽर्थः श्रुतमात्रकाद्यदि भवेत् स्याद्भावनाऽपार्थिका,
अश्रुत्वा यदि भावनामनुविशेत् स्याद् देशनाऽपार्थिका ।। २ ।।

तस्मान्न निरर्थिका योगिनां भावना भवति, प्रत्यात्मवेद्यस्य धर्मस्य तद्वशेनाभिगमात् । न निरर्थिका देशना भवति, युक्तिविहितैर्धर्मैः स्वधर्मतायां जनताकर्षणात् । यथा पुनर्भावना सार्थिका भवेद्देशना वा, तत् श्लोकार्धेन दर्शयति । शेषं गतार्थम् ।। २ ।।

देशनाविभागे श्लोकः—

आगमतो अधिगमतो विभुत्वतो देशनाग्रसत्त्वानाम् ।
मुखतो रूपात् सर्वत आकाशादुच्चरणताऽपि··· ।। १ ।।

---

१. क्षयित्वा–सि० । २. युक्तविहितै०— सि० । ३. शान्तिरास्य– सि० ।

[SL 78] तत्र विभुत्वतो या महाभूमिप्रविष्टानाम्। सर्वतो रूपाद्या वृक्ष-वादित्रादिभ्योऽपि निश्चरति। शेषं गतार्थम् ॥ १ ॥

देशनासम्पत्तौ श्लोकद्वयम् -

विशदा सन्देहजहा आदेया तत्त्वदर्शिका द्विविधा।
सम्पन्नदेशनेयं विज्ञेया[1] बोधिसत्त्वानाम् ॥ १ ॥

अयं चतुष्कार्थनिर्देशेन श्लोकः। यदुक्तं ब्रह्मपरिपृच्छायाम्—चतुर्भिर्धर्मैः समन्वागता बोधिसत्त्वा महाधर्मदानं वितरन्ति सद्धर्मपरिग्रहणतया, आत्मनः प्रज्ञोत्तापनतया, सत्पुरुषकर्मकरणतया, संक्लेशव्यवदानसंदेशनतया च। एकेन हि बाहुश्रुत्याद्विशदा देशना भवति। द्वितीयेन महाप्राज्ञत्वात्। संशयजहा परेषां संशयच्छेदात्। तृतीयेनानवद्यकर्मत्वादादेया। चतुर्थेन तत्त्वदर्शिका द्विविधा—संक्लेशलक्षणस्य च तत्त्वस्य, व्यवदानलक्षणस्य च द्वाभ्यां द्वाभ्यां सत्याभ्याम् ॥ १ ॥

मधुरा मदव्यपेता न च खिन्ना देशनाग्रसत्त्वानाम्।
स्फुटचित्रयुक्तगमिका निरामिषा सर्वगा चैव ॥ २ ॥

अस्मिन् द्वितीये श्लोके मधुरा परेणाक्षिप्तस्यापरुषवचनात्। मदव्यपेता स्तुतौ सिद्धौ वा मदाननुगमनात्। अखिन्ना अकिलासिकत्वात्। स्फुटा निराचार्यमुष्टित्वात् कृत्स्नदेशनतः। चित्रा अपुनरुक्तत्वात्। युक्ता प्रमाणाविरुद्धत्वात्। गमिका प्रतीतपदव्यञ्जनत्वात्। निरामिषा प्रसन्नाधिकरानार्थिकत्वात्[2]। सर्वत्रगा यानत्रयगतत्वात् ॥ २ ॥

वाक्सम्पत्तौ श्लोकः—

अदीना मधुरा सूक्ता प्रतीता वाग्जिनात्मजे[3]।
यथार्हानामिषा चैव प्रमिता विशदा तथा ॥ १ ॥

[SL 79] अदीना पौरी पर्षत्पूरणात्। मधुरा वल्गुः। सूक्ता विस्पष्टा सुनिरुक्ताक्षरत्वात्। प्रतीता विज्ञेया प्रतीताभिधानत्वात्। यथार्हा श्रवणीया विनेयानुरूपत्वात्। अनामिषा अनिःश्रिता लाभसत्कारश्लोके[4]। प्रमिता[5] अप्रतिकूला परिमितायामखेदात्। विशदा अपर्याप्ता ॥ १ ॥

व्यञ्जनसम्पत्तौ श्लोकद्वयम्—

उद्देशान्निर्देशात् तथैव यानानुलोमनात् श्लाक्ष्ण्यात्।
प्रातीत्याद् याथार्हान्नैर्याण्याद् आनुकूल्याच्च ॥ १ ॥

---

१. विज्ञेयं–सि०।
२. ०नधिकत्वात्–सि०।
३. विपदा तथा–सि०।
४. ०सत्कारालोके–सि०।
५. प्रतता–सि०।

युक्तैःपदव्यञ्जनैरुद्देशात् प्रमाणाविरोधेन। सहितैर्निर्देशादुद्देशाविरोधेन। यानानुलोमनादानुलोमिकैर्यानत्रयाविरोधेन। श्लाक्ष्ण्यादानुच्छविकैरकष्टशब्दतया। प्रातीत्यादौपयिकैः प्रतीतार्थतया चार्थोपगमनात्। याथार्हयात् प्रतिरूपैर्विनेयानुरूपतया। नैर्याण्यात् प्रदक्षिणैर्निर्वाणाधिकारतया। आनुकुल्यान्निपन्निपकस्याङ्गसम्भारैः शैक्षस्यार्याष्टाङ्गमार्गानुकूल्यात् ॥ १ ॥

व्यञ्जनसम्पच्चैषा विज्ञेया सर्वथाग्रसत्त्वानाम्।
षष्टयङ्गी साऽचिन्त्या घोषोऽनन्तस्तु सुगतानाम् ॥ २ ॥

षष्टयङ्गी साऽचिन्त्या या गुह्यकाधिपतिनिर्देशे बुद्धस्य षष्टयाकारा वाग् निर्दिष्टा –"पुनरपरं, शान्तमते, तथागतस्य षष्टयाकारोपेता वाग् निश्चरति स्निग्धा च मृदुका च मनोज्ञा च मनोरमा च शुद्धा च" इति विस्तरः। [SL80]

तत्र १. स्निग्धा सत्त्वधातुकुशलमूलोपस्तम्भिकत्वात्। २. मृदुका दृष्ट एव धर्मे सुखसंस्पर्शत्वात्। ३. मनोज्ञा स्वर्थत्वात्। ४. मनोरमा सुव्यञ्जनत्वात्। ५. शुद्धा निरुत्तरलोकोत्तरपृष्ठलब्धत्वात्। ६ विमला सर्वक्लेशानुशयवासनाविसंयुक्तत्वात्। ७. प्रभास्वरा प्रतीतपदव्यञ्जनत्वात्। ८. वल्गुः सर्वतीर्थ्यकुमतिदृष्टिविघातबलगुणयुक्तत्वात्। ९. श्रवणीया प्रतिपत्तिनैर्याणिकत्वात्। १०. अनेला[1] सर्वपरप्रवादिभिरनाच्छेद्यत्वात्। ११ कला[2] रञ्जिकत्वात्। १२. विनीता रागादिप्रतिपक्षत्वात्। १३. अकर्कशा शिक्षाप्रज्ञप्तिसुखोपायत्वात्। १४. अपरूपा तद्व्यतिक्रमसंपन्निःसरणोपदेशकत्वात्। १५ सुविनीता यानत्रयनयोपदेशिकत्वात्। १६. कर्णसुखा विक्षेपप्रतिपक्षत्वात्। १७. कायप्रह्लादनकरी समाध्याबाहकत्वात्। १८. चित्तौद्बिल्यकरी विपश्यनाप्रामोद्यावाहकफलकत्वात्। १९. हृदयसन्तुष्टिकरी संशयच्छेदिकत्वात्। २०. प्रीतिसुखसञ्जननी मिथ्यानिश्चयापकर्षिकत्वात्। २१. निःपरिदाहा प्रतिपत्तावविप्रतिसारत्वात्। २२. आज्ञेया सम्पन्नश्रुतमयज्ञानाश्रयत्वात्। २३. विज्ञेया सम्पन्नचिन्तामयज्ञानाश्रयत्वात्। २४. विस्पष्टा अनाचार्यमुष्टिधर्मविहितत्वात्। २५. प्रेमणीया अनुप्राप्तस्वकार्थानां प्रेमकरत्वात्। २६. अभिनन्दनीयानऽनुप्राप्तस्वकार्थानां स्पृहणीयत्वात्। २७. आज्ञापनीया अचिन्त्यधर्मसम्यग्दर्शिकत्वात्। २८. विज्ञापनीया चिन्त्यधर्मसम्यग्देशिकत्वात्। २९ युक्ता प्रमाणाविरुद्धत्वात्। ३०. सहिता यथार्हविनेयदेशिकत्वात्। ३१. पुनरुक्तदोषजहा अवन्ध्यत्वात्। ३२. सिंहस्वरवेगा सर्वतीर्थ्यसन्त्रासकत्वात्। ३३. नागस्वरशब्दा उदारत्वात्।

---

१. अनन्ता–सि०।　　२. अखिला–सि०।

३४. मेघस्वरघोषा गम्भीरत्वात्। ३५. नागेन्द्ररुता आदेयत्वात्। ३६. किन्नरसंगीतिघोषा मधुरत्वात्। ३७. कलविङ्कस्वररुतरविता तीक्ष्णभंगुरत्वात्। ३८. ब्रह्मस्वररुतरविता दूरङ्गमत्वात्। ३९. जीवञ्जीवकस्वररुतरविता सर्वसिद्धिपूर्वङ्गममङ्गलत्वात्। ४०. देवेन्द्रमधुरनिर्घोषा अनतिक्रमणीयत्वात्। ४१ दुन्दुभिस्वरा सर्वमारप्रत्यर्थिकविजयपूर्वंगमत्वात्। ४२. अनुन्नता स्तुत्यसंक्लिष्टत्वात्। ४३ अनवनता निन्दाऽसंक्लिष्टत्वात्। ४४. सर्वशब्दानुप्रविष्टा सर्वव्याकरणसर्वाकारलक्षणानुप्रविष्टत्वात्। ४५. अपशब्दविगता स्मृतिसम्प्रमोषे तदनिश्चरणत्वात्। ४६ अविकला विनेयकृत्यसर्वकालप्रत्युपस्थितत्वात्। ४७. अलीना लाभसत्कारानिश्रितत्वात्। ४८. अदीना सावद्यापगतत्वात्। ४९. प्रमुदिता अखेदित्वात्। ५०. प्रसृता सर्वविद्यास्थानकौशल्यानुगतत्वात्। ५१. सखिला सत्त्वानां तत्सकलार्थसम्पादकत्वात्। ५२. सरिता प्रबन्धानुपच्छिन्नत्वात्। ५३. ललिता विचित्राकारप्रत्युपस्थानत्वात्। ५४. सर्वस्वरपूरणी एकस्वरनैकशब्दविज्ञप्तिप्रत्युपस्थापनत्वात्। ५५. सर्वसत्त्वेन्द्रियसन्तोषणी एकानेकार्थविज्ञप्तिप्रत्युपस्थानत्वात्। ५६. अनिन्दिता यथाप्रतिज्ञत्वात्। ५७. अचञ्चला आगमितकालप्रयुक्तत्वात्। ५८. अचपला अत्वरमाणविहितत्वात्। ५९. सर्वपर्षदनुरविता दूरान्तिकपर्षत्तुल्यश्रवणत्वात्। ६०. सर्वाकारवरोपेता सर्वलौकिकार्थदृष्टान्तधर्मपरिणामिकत्वात् ॥ २ ॥ [SL 81]

देशनामाहात्म्ये चत्वारः श्लोकाः—

वाचा पदैः सुयुक्तैरुद्देशविभागसंशयच्छेदैः।
बहुलीकारानुगता ह्युद्घटितविपश्चितज्ञेषु ॥ १ ॥

आख्याति वाचा। प्रज्ञापयति पदैः सुयुक्तैः। प्रस्थापयति विभाजयति विवृणोति यथाक्रममुद्देशविभागसंशयच्छेदैः उत्तानीकरोति उत्तानीकरणम्। बहुलीकारानुगता देशना निश्चयबलाधानार्थम्। देशयत्युद्घटितज्ञेषु। सम्प्रकाशयति विपश्चितज्ञेषु ॥ १ ॥

शुद्धा त्रिमण्डलेन हितेयं देशना हि बुद्धानाम्।
दोषैर्विवर्जिता पुनरष्टभिरेषैव विज्ञेया ॥ २ ॥

शुद्धा त्रिमण्डलेनेति। येन च देशयति वाचा पदैश्च। यथा चोद्देशादिप्रकारैः। येषु चोद्घटितविपश्चितज्ञेषु। ॥ २ ॥

एषैव च देशना पुनरष्टदोषविवर्जिता वेदितव्या यथाक्रमम्—

कौशीद्यमनवबोधो ह्यवकाशस्याकृतिर्ह्यनीतत्वम्।
सन्देहस्याच्छेदस्तद्विगमस्यादृढीकरणम् ॥ ३ ॥

खेदोऽथ मत्सरित्वं दोषा ह्येते मता कथायां हि ।
तदभावाद् बुद्धानां निरुत्तरा देशना भवति ।। ४ ।।

ते पुनरष्टौ दोषाः—कौशीद्यम्, अनवसम्बोधः, अवकाशस्याकरणम्, अनीतार्थत्वम्, संदेहस्याच्छेदना, तद्विगमस्यादृढीकरणं निश्चयस्येत्यर्थः । खेदो येनाभीक्ष्णं न देशयेत्, मत्सरित्वं चाकृत्स्नप्रकाशनात् ।।३–४।।

अर्थसम्पत्तौ श्लोकद्वयम्—

कल्याणो धर्मोऽयं हेतुत्वाद्भक्तितुष्टिबुद्धीनाम् ।
द्विविधार्थः सुग्राह्यश्चतुर्गुणब्रह्मचर्यवदः ।। २ ।।
परैरसाधारणयोगकेवलं त्रिधातुकक्लेशविहानिपूरकम् ।
स्वभावशुद्धं मलशुद्धितश्च तच्चतुर्गुणब्रह्मविचर्यमिष्यते ।। १ ।।

चतुर्गुणब्रह्मचर्यसम्प्रकाशको धर्मः । आदिमध्यपर्यवसान- [SL 82] कल्याणो यथाक्रमं श्रुतचिन्ताभावनाभिर्भक्तितुष्टिबुद्धिहेतुत्वात् । तत्र भक्तिरधिमुक्तिः, सम्प्रत्ययः तुष्टिः, प्रामोद्यं युक्तिनिध्यानाच्छवयप्राप्तिलां विदित्वा, बुद्धिः समाहितचित्तस्य यथाभूतज्ञानम् । द्विविधार्थ इत्यतः स्वर्थः संवृतिपरमार्थसत्ययोगात् । सुग्राह्य इत्यतः सुव्यञ्जनः प्रतीतपदव्यञ्जनत्वात् । चतुर्गुणं ब्रह्मचर्यम्—केवलं परैरसाधारणत्वात्, परिपूर्णं त्रिधातुक्लेशप्रहाणपरिपूरणात्, परिशुद्धं स्वभावविशुद्धितोऽनास्रवत्वात्, पर्यवदातं मलविशुद्धितः सन्तानविशुद्धया क्षीणास्रवाणाम् ।। १–२ ।।

अभिसन्धिविभागे श्लोकद्वयम्—

अवतारणसन्धिश्च सन्धिर्लक्षणतोऽपरः ।
प्रतिपक्षाभिसन्धिश्च सन्धिः परिणतावपि ।। १ ।।
श्रावकेषु स्वभावेषु दोषाणां विनये तथा ।
अभिधानस्य गाम्भीर्ये सन्धिरेष चतुर्विधः ।। २ ।।

चतुर्विधोऽभिसन्धिर्देशनायां बुद्धस्य वेदितव्यः—अवतारणाभिसन्धिः, लक्षणाभिसन्धिः, प्रतिपक्षाभिसन्धिः, परिणामनाभिसन्धिश्च । तत्र १. अवतारणाभिसन्धिः श्रावकेषु द्रष्टव्यः, शासनावतारणार्थमनुत्त्रासाय रूपाद्यस्तित्वदेशनात् । २. लक्षणाभिसन्धिस्त्रिषु परिकल्पितादिस्वभावेषु द्रष्टव्यः, निःस्वभावानुत्पन्नादिसर्वधर्मदेशनात् । ३. प्रतिपक्षाभिसन्धिर्दोषाणां विनये द्रष्टव्यः यथाष्टावरणप्रतिपक्षाग्रयानसम्भाषानुशंसं[१] गाथाद्वयं वक्ष्यति । ४. परिणामनाभिसन्धिरभिधानगाम्भीर्ये द्रष्टव्यः । यथाह—

---

१. ०भासानुशंसे–सि० ।

असारे सारमतयो विपर्यासे च सुस्थिताः ।
क्लेशेन च सुसंक्लिष्टा लभन्ते बोधिमुत्तमाम् ॥ इति ।

अयमत्राभिसन्धिः – असारे सारमतय इति । अविक्षेपे येषां सारबुद्धिः प्रधानबुद्धिर्विक्षेपो हि विसारश्चेतसः । विपर्यासे च सुस्थिता इति । नित्यसुखशुच्यात्मग्राहविपर्ययेणानित्यादिके विपर्यासे सुस्थिता अपरिहाणितः । क्लेशेन च सुसंक्लिष्टा इति । दीर्घदुष्करव्यायामश्रमेणात्यर्थं परिक्लिष्टाः ॥ १–२ ॥

अभिप्रायविभागे श्लोकः—

समताऽर्थान्तरे ज्ञेयस्तथा कालान्तरे पुनः ।
पुद्गलस्याशये चैव अभिप्रायश्चतुर्विधः ॥ १ ॥

[SL 83] चतुर्विधोऽभिप्रायः–१. समताभिप्रायः,[१] यदाह—"अहमेव स तस्मिन् समये विपश्यी सम्यक्सम्बुद्धोऽभूवम्" इति, अविशिष्टधर्मकायत्वात् । २. अर्थान्तराभिप्रायः, यदाह—"निःस्वभावाः सर्वधर्मा अनुत्पन्ना" इत्येवमादि, अयथारुतार्थत्वात् । ३. कालान्तराभिप्रायः, यदाह—"ये सुखावत्यां प्रणिधानं करिष्यन्ति ते तत्रोपपत्स्यन्ते" इति । कालान्तरेणेत्यभिप्रायः । ४. पुद्गलाशयाभिप्रायः, यत्तदेव कुशलमूलं कस्यचित् प्रशंसते, कस्यचिद्विगर्हते ॥ १ ॥

अल्पमात्रसन्तुष्टस्य वैपुल्यसंग्रहात् महायानसूत्रान्तात् सानुशंसां गाथाद्वयमुपादायाह—

"बुद्धे धर्मेऽवज्ञा कौशीद्यं तुष्टिरल्पमात्रेण ।
रागे माने चरितं कौकृत्यं चानियतभेदः ॥ १ ॥
सत्त्वानामावरणं तत्प्रतिपक्षोऽग्रयानसम्भाषा ।
सर्वान्तरायदोषप्रहाणमेषां ततो भवति" ॥ २ ॥
यो ग्रन्थतोऽर्थतो वा गाथाद्वयधारणे प्रयुज्येत ।
स हि दशविधमनुशंसं लभते सत्त्वोत्तमो धीमान् ॥ ३ ॥
कृत्स्नां च धातुपुष्टिं प्रामोद्यं चोत्तमं मरणकाले ।
जन्म च यथाभिकामं जातिस्मरतां च सर्वत्र ॥ ४ ॥
बुद्धैश्च समवधानं तेभ्यः श्रवणं तथाग्रयानस्य ।
अधिमुक्तिं सह बुद्धया द्वयमुखतामाशु बोधिं च ॥ ५ ॥

बुद्धे धर्मेऽवज्ञेति पञ्च गाथाः । तत्रानियतभेदो बोधिसत्त्वानामनियतानां महायानाद् भेदः । अग्रयानसम्भाषा या महायानदेशना । बुद्धेऽवज्ञावरणस्य

१. सतताभि०–सि० ।　　२. तु० धम्मपदे १-११ ।

प्रतिपक्षसम्भाषा—"अहमेव स तेन कालेन विपश्यी सम्यक्सम्बुद्धोऽभूवम्" इति। धर्मेऽवज्ञावरणस्य प्रतिपक्षसम्भाषा—"इयतो गंगानदीवालिकासमान-बुद्धान् पर्युपास्य महायानेऽवबोध उत्पद्यते" इति। कौशीद्यावरणस्य प्रतिपक्ष-सम्भाषा—"ये सुखावत्यां प्रणिधानं करिष्यन्ति ते तत्रोपपत्स्यन्ते" इति। "विमलचन्द्रप्रभस्य च तथागतस्य नामधेयग्रहणमात्रेण नियतो भवत्यनुत्तरायां सम्यक्सम्बोधौ" इति। अल्पमात्रसन्तुष्ट्यावरणस्य प्रतिपक्षसम्भाषा– यत्र भगवान् क्वचिद्दानादि विवर्णयति। अन्यत्र वर्णितवान्। रागचरितस्य चावरणस्य प्रतिपक्षसम्भाषा—यत्र भगवान् बुद्धक्षेत्रविभूति वर्णयति। मानचरितस्यावरणस्य प्रतिपक्षसम्भाषा—यत्र भगवान् कस्यचिद् बुद्धस्या-धिकां संपत्तिं वर्णयति। कौकृत्यावरणस्य प्रतिपक्षसम्भाषा—"ये बुद्धबोधि-सत्त्वेष्वपकारं[1] करिष्यन्ति ते सर्वे स्वर्गोपगा भविष्यन्ति" इति। [SL 84] अनियतभेदस्यावरणस्य प्रतिपक्षसम्भाषा—महाश्रावकाणां बुद्धत्वे व्याकरण-देशना, एकयानदेशना च। कृत्स्नधातुपुष्टिः – सर्वमहायानाधिष्ठानाय धातु-पुष्टिस्तदावरणविगमात् सर्वत्र महायानेऽधिमुक्तिलाभतः। द्वयमुखता—समाधिमुखता, धारणीमुखता च। दृष्टे धर्मे द्विविधोऽनुशंसः, साम्परायिके-ऽष्टविधः क्रमेणोत्तरोत्तरविशेषलाभाद् वेदितव्यः ॥ १-५ ॥

देशनानुशंसे श्लोकः—

इति सुमतिरखेदवान् कृपालुः प्रथितयशाः सुविधिज्ञतामुपेतः।
भवति सुकथिको हि बोधिसत्त्वस्तपति जने कथितो यथैव सूर्यः॥ १॥

पञ्चभिः कारणैः सुकथिकत्वम्। सूर्यवत्प्रतपनं चानुशंसः। लोकावर्जनतो बहुमतत्त्वात्। पञ्च कारणानि सुकथिकत्वस्य—येनाविपरीतं दर्शयति, अभी-क्ष्णम्, निरामिषचित्तम्, आदेयवाक्यम्, विनेयानुरूपं च॥ १॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे देशनाधिकारो द्वादशः॥

●

१. ष्वकारं–सि०।

त्रयोदशः प्रतिपत्त्यधिकारः

प्रतिपत्तिविभागे षट् श्लोकाः—

द्वेधा नैरात्म्यमाज्ञाय धीमान् पुद्गलधर्मयोः ।
द्वयमिथ्यात्वसम्यक्त्वं विवर्ज्येत त्रयेण हि ॥ १ ॥

यथार्थमाज्ञाय धर्ममाज्ञाय धर्मानुधर्मप्रतिपन्नो भवति सामीचीप्रतिपन्नोऽनुधर्मचारी तत्सन्दर्शयति। तत्र द्विधा पुद्गलधर्मनैरात्म्यज्ञानं ग्राह्यग्राहकाभावतः। द्वयमिथ्यात्वसम्यक्त्वं विवर्ज्य त्रयम्। अभावे च शून्यतासमाधिः परिकल्पितस्य स्वभावस्य। भावे चाप्रणिहितानिमित्तौ परतन्त्रनि- [SL 85] ष्पन्नयोः स्वभावयोः। एतत्समाधित्रयं लौकिकं न मिथ्यात्वं लोकोत्तरज्ञानावाहनात्। न सम्यक्त्वम्; अलोकोत्तरत्वात् ॥ १ ॥

अर्थज्ञः सर्वधर्माणां वेत्ति कोलसमानताम् ।
श्रुततुष्टिप्रहाणाय धर्मज्ञस्तेन कथ्यते ॥ २ ॥

एवमर्थज्ञः सर्वधर्माणां सूत्रादीनां लोकोपमतां जानाति। श्रुतमात्रसन्तुष्टिप्रहाणाय तेन धर्मज्ञो भवति ॥ २ ॥

पार्थग्जनेन ज्ञानेन प्रतिविध्य द्वयं तथा ।
तज्ज्ञानपरिनिष्पत्तावनुधर्मं प्रपद्यते ॥ ३ ॥

एतेन द्विविधेन पार्थग्जनेनार्थधर्मज्ञानेन द्वयं नैरात्म्यभावं प्रतिविध्य यथाक्रमं नैरात्म्यं तथा प्रतिविध्य यथोक्तं तस्य ज्ञानस्य परिनिष्पत्त्यर्थं प्रतिपद्यते। एवमनुधर्मं प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

ततो ज्ञानं स लभते लोकोत्तरमनुत्तरम् ।
आदिभूमौ समं सर्वैर्बोधिसत्त्वैस्तदात्मभिः ॥ ४ ॥

ततो ज्ञानं स लभते लोकोत्तरमनुत्तरमिति। विशिष्टतरयानाभावात्। आदिभूमौ प्रमुदितायां भूमौ। समं सर्वैर्बोधिसत्त्वैस्तदात्मभिरिति। तद्भूमिकैः। एवं सामीचीप्रतिपन्नो भवति तद्भूमिकबोधिसत्त्वसमतया ॥ ४ ॥

कृत्वा दर्शनहेयानां[1] क्लेशानां सर्वसंक्षयम् ।
ज्ञेयावरणहानाय[2] भावनायां प्रयुज्यते ॥ ५ ॥

श्लोको गतार्थः ॥ ५ ॥

---

१. ०ज्ञेयानां–सि०।

२. ०ज्ञानाय–सि०।

व्यवस्थानविकल्पेन ज्ञानेन सहचारिणा ।
अनुधर्मं चरत्येवं परिशिष्टासु भूमिषु ॥ ६ ॥

शेषेणानुधर्मचारित्वं दर्शयति । व्यवस्थानविकल्पेनेति । [SL 86] भूमिव्यवस्थानज्ञानेन, अविकल्पेन च । सहचारिणेति । अनुसम्बद्धचारिणा अन्योन्यनैरन्तर्येण । एतेन श्लोकद्वयेनानुधर्मचारित्वं दर्शितम् ॥ ६ ॥

प्रतिपत्तावप्रमादक्रियायां चत्वारः श्लोकाः—

सुलाभोऽथ स्वधिष्ठानः सुभूमिः सुसहायकः ।
सुयोगो गुणवान् देशो यत्र धीमान् प्रपद्यते ॥ १ ॥

चतुर्भिश्चक्रैरप्रमादक्रियां[1] दर्शयति प्रतिरूपदेशवासादिभिः । तत्रानेन श्लोकेन प्रतिरूपदेशवासं दर्शयति । सुलाभश्चीवरपिण्डपातादीनां जीवितपरिष्कारणामकृच्छ्रेण लाभात् । स्वधिष्ठानो दुर्जनैर्दस्युप्रभृतिभिरनधिष्ठितत्वात् । सुभूमिरारोग्यभूमित्वात् । सुसहायकः सभागशीलदृष्टिसहायकत्वात् । सुयोगो दिवाल्पाकीर्णाभिलापकत्वात्, रात्रौ चाल्पशब्दादिकत्वात् ॥ १ ॥

बहुश्रुतो दृष्टसत्यो वाग्मी समनुकम्पकः ।
अखिन्नो बोधिसत्त्वश्च ज्ञेयः सत्पुरुषो महान् ॥ २ ॥

—अनेन द्वितीयेन सत्पुरुषं दर्शयति । आगमाधिगमवाक्करणनिरामिषचित्ताकिलासित्वगुणयोगात् ॥ २ ॥

स्वालम्बना सुसंस्तब्धा[2] सूपाया[3] चैव[3] देशिता ।
सुनिर्याणप्रयोगा च आत्मसम्यक्प्रधानता ॥ ३ ॥

—अनेन तृतीयेन योनिशोमनस्कारसंगृहीतामात्मनः सम्यक्प्रणिधानतां दर्शयति । सद्धर्मालम्बनतया सुसम्भृतसम्भारतया, शमथादिनिमित्तानां कालेन कालं भावनातया, अल्पमात्रासन्तुष्टितया सत्युत्तरकरणीये सातत्यसत्कृत्यप्रयोगतया च ॥ ३ ॥

रतेः क्षणोपपत्तेश्च आरोग्यस्यापि कारणम् ।
समाधेर्विचयस्यापि पूर्वे हि कृतपुण्यता ॥ ४ ॥

—अनेन चतुर्थेन पूर्वकृतपुण्यतां पञ्चविधेन हेतुत्वेन दर्शयति । रतिहेतुत्वेन यतः प्रतिरूपदेशवासेऽभिरमते । क्षणोपपत्तिहेतुत्वेन यतः सत्पुरुषायाश्रयं लभते । आरोग्यसमाधिप्रज्ञाहेतुत्वेन च यत आत्मनः सम्यक्प्रणिधानं सम्पद्यते ॥ ४ ॥

---

१. चक्रैः = श्लोकैः । २. मुसंभण—सि० । ३-३. सुभावनैव—सि० ।

क्लेशत एव क्लेशनिःसरणे श्लोकास्त्रयः—

धर्मधातुविनिर्मुक्तो यस्माद्धर्मो न विद्यते ।
तस्माद्रागादयस्तेषां बुद्धैर्निःसरणं मताः ॥ १ ॥

यदुक्तं भगवता—"नाहमन्यत्र रागाद् रागस्य निःसरणं वदाम्येवं द्वेषान्मोहात्" इति । तत्राभिसन्धि दर्शयति - यस्माद्धर्मधातुविनिर्मुक्तो धर्मो नास्ति धर्मताव्यतिरेकेण धर्माभावात्, तस्माद् रागादिधर्मतापि रागाद्याख्यां लभते । स च निःसरणं रागादीनामित्येवं तत्राभिसन्धिर्वेदितव्यः ॥ १ ॥

धर्मधातुविनिर्मुक्तो यस्माद्धर्मो न विद्यते ।
तस्मात् संक्लेश निर्देशे स सन्धिर्धीमतां[१] मतः ॥ २ ॥

यदुक्तम्—"अविद्या च बोधिश्चैकम्" इति । तत्रापि सक्लेशनिर्देशे स एवाभिसन्धिः । अविद्या बोधिधर्मता स्यात्, तदुपचारात् ॥ २ ॥

यतस्तानेव रागादीन् योनिशः प्रतिपद्यते ।
ततो विमुच्यते तेभ्यस्तेनैषां निःसृतिस्ततः ॥ ३ ॥

तानेव रागादीन् योनिशः प्रतिपद्यमानस्तेभ्यो विमुच्यते, तस्मात् परिज्ञातास्त एव, तेषां निःसरणं भवतीत्ययमत्राभिसन्धिः ॥ ३ ॥

श्रावकप्रत्येकबुद्धमनसिकारपरिवर्जने श्लोकद्वयम्—

न खलु जिनसुतानां बाधकं दुःखमुग्रम्,
नरकभवनवासः सत्त्वहेतोः कथञ्चित् ।
शमभवगुणदोषप्रेरिता हीनयाने,
विविधशुभविकल्पा बाधका धीमतां तु ॥ १ ॥
न खलु नरकवासो धीमतां सर्वकालम्,
विमलविपुलबोधेरन्तरायं करोति ।
स्वहितपरमशीतस्त्वन्ययाने विकल्पः,
परमसुखविहारेऽप्यन्तरायं करोति ॥ २ ॥

[SL88] अनयोः श्लोकयोरेकस्य द्वितीयः साधकः । उभौ गतार्थौ ॥ १-२ ॥

निःस्वभावताप्रकृतिपरिशुद्धित्रासप्रतिषेधे चत्वारः श्लोकाः—

धर्माभावोपलब्धिश्च निःसंक्लेशविशुद्धिता ।
मायादिसदृशी ज्ञेया आकाशसदृशी तथा ॥ १ ॥

१. संविद्धीमतां–सि० ।

यथैव चित्रे विधिवद्विचित्रिते नतोन्नतं नास्ति च दृश्यतेऽथ च।
अभूतकल्पेऽपि तथैव सर्वथा द्वयं सदा नास्ति च दृश्यतेऽथ च ॥ २ ॥
यथैव तोये लुटिते[1] प्रसादिते न जायते सा पुनरच्छताऽन्यतः।
मलापकर्षस्तु स तत्र केवलः स्वचित्तशुद्धौ विधिरेष एव हि ॥ ३ ॥
मतं च चित्तं प्रकृतिप्रभास्वरं सदा तदागन्तुकदोषदूषितम्।
न धर्मताचित्तमृतेऽन्यचेतसः प्रभास्वरत्वं प्रकृतौ विधीयते ॥ ४ ॥

धर्माभावश्च धर्मोपलब्धिश्चेति त्रासस्थानं निःसंक्लेशता च धर्मधातोः प्रकृत्या विशुद्धता च पश्चादिति त्रासस्थानं बालानाम्। तद्यथाक्रमं मायादिदृश्येनाकाशसादृश्येन च प्रसाधयंस्ततस्त्रासं प्रतिषेधयति। तथा चित्रे नतोन्नतसादृश्येन लुटितप्रसादिततोयसादृश्येन च यथाक्रमम्। चतुर्थेन श्लोकेन तोयसाधर्म्यं चित्ते प्रतिपादयति—यथा तोयं प्रकृत्या प्रसन्नमागन्तुकेन तु कालुष्येण लुटितं भवति, एवं चित्तं प्रकृत्या प्रभास्वरं मतमागन्तुकैस्तु दोषैर्दूषितमिति। न च धर्मताचित्तादृतेऽन्यस्य चेतसः परतन्त्रलक्षणस्य प्रकृतिप्रभास्वरत्वं विधीयते। तस्माच्चित्ततथतैवात्र चित्तं वेदितव्यम् ॥ १-४ ॥

रागजापत्तिप्रतिषेधे चत्वारः श्लोकाः—

बोधिसत्त्वस्य सत्त्वेषु प्रेम मज्जगतं महत्।
यथैकपुत्रके तस्मात् सदा हितकरं मतम् ॥ १ ॥
सत्त्वेषु हितकारित्वान्नैत्यापत्तिं स रागजाम्।
द्वेषो विरुध्यते त्वस्य सर्वसत्त्वेषु सर्वथा[2] ॥ २ ॥

यथा कपोती स्वसुतातिवत्सला स्वसावकाँस्तानुपगुह्य तिष्ठति।
तथाविधायां प्रतिघो विरुध्यते सुतेषु तद्वत् सकृपेऽपि देहिषु ॥ ३ ॥

मैत्री यतः प्रतिघचित्तमतो विरुद्धम्,
शान्तिर्यतो व्यसनचित्तमतो विरुद्धम्।
अर्थो यतो निकृतिचित्तमतो विरुद्धम्,
ह्लादो यतः प्रतिभयं च[3] ततो विरुद्धम् ॥ ४ ॥ [SL 89]

यत्सत्त्वेषु बोधिसत्त्वस्य प्रेम सोऽत्र रागोऽभिप्रेतः, तत्कृतामापत्तिं तेषां प्रतिषेधयति; सत्त्वहितक्रियाहेतुत्वात् ॥ १-२ ॥

---

१. लुतिते—सि०। एवमग्रेऽपि।
२. सत्पथा—सि०।
३. न—सि०।

कपोतीमुदाहरति तद्बहुरागत्वात् अपत्यस्नेहाधिमात्रतया। सकृपे बोधिसत्त्वे देहिषु सत्त्वेषु प्रतिघो विरुध्यते। बोधिसत्त्वानां सत्त्वेषु मैत्री भवति, व्यसनशान्तिः, अर्थदानम्; ह्लादश्च प्रीत्युत्पादात्। यत इमे मैत्र्यादयस्तत एव प्रतिघचित्तं विरुद्धम्। तत्पूर्वकाणि च व्यसनचित्तादीनि ॥ ३-४॥

प्रतिपत्तिभेदे पञ्च श्लोकाः—

यथातुरः सुभैषज्ये संसारे प्रतिपद्यते।
आतुरे च यथा वैद्यः सत्त्वेषु प्रतिपद्यते ॥ १ ॥
अनिष्पन्ने यथा चेटे स्वात्मनि प्रतिपद्यते।
वणिग्यथा पुनः पण्ये कामेषु प्रतिपद्यते ॥ २ ॥
यथैव रजको वस्त्रे कर्मण प्रतिपद्यते।
पिता यथा सुते बाले सत्त्वाहेठे प्रपद्यते ॥ ३ ॥
अग्न्यर्थी वा धरारण्यां सातत्ये प्रतिपद्यते।
वैश्वासिको वानिष्पन्ने अधिचित्ते प्रपद्यते ॥ ४ ॥
मायाकार इव ज्ञेये प्रज्ञया प्रतिपद्यते।
प्रतिपत्तिर्यथा यस्मिन् बोधिसत्त्वस्य सा मता ॥ ५ ॥

यथा यस्मिन् प्रतिपद्यते तदभिद्योतयति यथेति। सुभैषज्यादिष्विवातुरादयः। यत्रेति संसारादिषु, प्रतिसंख्याय संसारनिषेवणात्। कारुण्येन क्लेशातुरसत्त्वापरित्यागात्, स्वप्रणिहितत्वचित्तकरणात्। दानादिपारमिताभिश्च यथाक्रमं भोगवृद्धिनयनात्, कायादिकर्मपरिशोधनात्, सत्त्वापकाराकोपात्, कुशलभावनानिरन्तराभियोगात्, समाध्यनास्वादनात्, ज्ञेयाविपर्यासाच्च ॥ १-५ ॥

प्रतिपत्तित्रिमण्डलपरिशुद्धौ श्लोकः—

इति सततमुदारयुक्तवीर्यो द्वयपरिपाचनशोधने सुयुक्तः।
परमविमलनिर्विकल्पबुद्ध्या व्रजति स सिद्धिमनुत्तमां क्रमेण ॥ १ ॥

[SL 90] इति निर्विकल्पेन धर्मनैरात्म्यज्ञानेन प्रतिपत्तुः प्रतिपत्तव्यस्य प्रतिपत्तेश्चाविकल्पना त्रिमण्डलपरिशुद्धिर्वेदितव्या। द्वयपरिपाचनशोधनेषु सुयुक्त[1] इति। सत्त्वानामात्मनश्च ॥ १ ॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे प्रतिपत्त्यधिकारस्त्रयोदशः ॥

●

---

१. युक्तः—सि०।

१४

चतुर्दशोऽववादानुशासन्यधिकारः

अववादानुशासनीविभागे श्लोका एकपञ्चाशत्—

कल्पासंख्येयनिर्यातो ह्यधिमुक्ति विवर्धयन् ।
सम्पूर्णः कुशलैर्धर्मैः सागरो वारिभिर्यथा ॥ १ ॥

अधिमुक्ति विवर्धयन्निति अधिमात्रावस्थानयनात् । शेषं गतार्थम् ॥ १ ॥

तथा सम्भृतसम्भारो ह्यादिशुद्धो जिनात्मजः ।
सुविज्ञः कल्यचित्तश्च भावनायां प्रयुज्यते ॥ २ ॥

आदिशुद्धो बोधिसत्त्वसंवरपरिशोधनान्महायाने दृष्टिऋजुकरणाच्चाविपरीतार्थग्रहणतः । सुविज्ञो बहुश्रुतत्वात् । कल्यचित्तो विनिवरणत्वात् ॥२॥

धर्मस्रोतसि बुद्धेभ्योऽववादं लभते तदा ।
विपुलं शमथज्ञानवैपुल्यगमनाय हि ॥ ३ ॥

श्लोको गतार्थः ॥ ३ ॥

ततः सूत्रादिके धर्मे सोऽद्वयार्थविभावके ।
सूत्रादिनाम्नि बध्नीयाच्चित्तं प्रथमतो यतिः ॥ ४ ॥
ततः पदप्रभेदेषु विचरेदनुपूर्वशः ।
विचारयेत् तदर्थांश्च प्रत्यात्मं योनिशश्च सः ॥ ५ ॥
अवधृत्य च तानर्थान् धर्मे संकलयेत् पुनः ।
ततः कुर्यात् समाशास्ति तदर्थाधिगमाय सः ॥ ६ ॥

सूत्रगेयादिके धर्मे यत्सूत्रादिनाम दशभूमिकमित्येवमादि, [SL 91] तत्र चित्तं प्रथमतो बध्नीयात् ।

एभिस्त्रिभिः श्लोकैः षट् चित्तान्युपदिष्टानि—मूलचित्तम्, अनुचरचित्तम्, विचारणाचित्तम्, अवधारणाचित्तम्, सङ्कलनचित्तम्, आशास्तिचित्तं च । तत्र—

१. मूलचित्तं यत्सूत्रादीनां धर्माणां नामालम्बनम् । अववादं श्रुत्वा स्वयं वा कल्पयित्वा । तद्यथा—"अनित्यं दुःखं शून्यमनात्म्यं च योनिशो न च" इत्यादि ।

२ अनुचरचित्तं येन सूत्रादीनां नामत आलम्बितानां पदप्रभेदमनुगच्छति ।

३. विचारणाचित्तं येनार्थं व्यञ्जनं च विचारयति। तत्रार्थं चतुर्भिराकारैर्विचारयति—गणनाय, तुलनया, मीमांसया, प्रत्यवेक्षणया च। तत्र गणनासंग्रहणं तद्यथा—"रूपं दशायतनान्येकस्य च प्रदेशो वेदना षड् वेदनाकायाः" इत्येवमादि। तुलना संख्यावतो धर्मस्य शमलक्षणग्रहणमनाध्यारोपानपवादतः। मीमांसा = प्रमाणपरीक्षा। प्रत्यवेक्षणा = गणिततुलितमीमांसितस्यार्थस्यावलोकनम्। व्यञ्जनं द्वाभ्यामाकाराभ्यां विचारयति—सार्थतया च समस्तानां व्यञ्जनाम्, निरर्थतया च व्यस्तानाम्।

४. अवधारणाचितं येन यथानुचरितं विचारितं वा तन्निमित्तमवधारयति।

५. सङ्कलनचित्तं तद्यथा विचारितमर्थं मूलचित्ते संक्षिप्य परिपिण्डिताकारं वर्तते।

६. आशास्तिचित्तं यदर्थं प्रयुक्तो भवति समाध्यर्थं[1] वा[1] तत्परिपूर्यर्थं वा श्रामण्यफलार्थं वा भूमिप्रवेशार्थं वा विशेषगमनार्थं वा तच्छन्दसहगतं वर्तते। 'चित्तमेव ह्यालम्बनप्रतिभासं वर्तते, न चित्तादन्यदालम्बनमस्ति' इति जानतो वा चित्तमात्रमजानतो वा चित्तमेवालम्बनं नान्यत्।

इति षड्विधं चित्तमालम्बनं व्यस्थाप्यते ॥ ४-६ ॥

एषेत प्रत्यवेक्षेत मनोजल्पैः प्रबन्धतः।
निर्जल्पैकरसैश्चापि मनस्कारैर्विचारयेत् ॥ ७ ॥
ज्ञेयः शमथमार्गोऽस्य धर्मनाम च पिण्डितम्।
ज्ञेयो विपश्यनामार्गस्तदर्थानां विचारणा ॥ ८ ॥
युगनद्धश्च विज्ञेयो मार्गस्तत्पिण्डितं पुनः।
लीनं चित्तस्य गृह्णीयादुद्धतं शमयेत् पुनः ॥ ९ ॥
शमप्राप्तमुपेक्षेत[2] तस्मिन्नालम्बने पुनः।
सातत्येनाथ सत्कृत्य सर्वस्मिन्योजयेत् पुनः ॥ १० ॥

एभिश्चतुर्भिः श्लोकैरेकादश मनस्कारा उपदिष्टाः—सवितर्कः सविचारः, [SL91] अवितर्को विचारमात्रः, अवितर्कोऽविचारः, शमथमनस्कारः, विपश्यनामनस्कारः, युगनद्धमस्कारः, प्रग्रहनिमित्तमनस्कारः[3], शमथमित्तमनस्कारः, उपेक्षानिमित्तमनस्कारः, सातत्यमनस्कारः, सत्कृत्यमनस्कारश्च ॥ ७-१० ॥

---

१. सार्थतथा—सि०। २. समा०—सि०।
३. सि० पुस्तके नास्ति।

निबध्यालम्बने चित्तं तत्प्रवाहं न विक्षिपेत् ।
अवगम्याशु विक्षेपं तस्मिन् प्रतिहरेत् पुनः ।। ११ ।।
प्रत्यात्मं संक्षिपेच्चित्तमुपर्युपरि बुद्धिमान् ।
ततश्च [1]दमयेच्चित्तं समाधौ गुणदर्शनात् ।। १२ ।।
अरतिं शमयेत् तस्मिन् विक्षेपदोषदर्शनात् ।
अभिध्यादौर्मनस्यादीन् व्युत्थितान् शमयेत्तथा ।। १३ ।।
ततश्च साभिसंस्कारां चित्ते स्वरसवाहिताम् ।
लभेतानभिसंस्कारां[2] तदभ्यासात् पुनर्यतिः ।। १४ ।।

एभिश्चतुर्भिः श्लोकैर्नवाकारया चित्तस्थित्या स्थित्युपाय उपदिष्टः । **चित्तं** स्थापयति, संस्थापयति, अवस्थापयति, उपस्थापयति, दमयति, **शमयति**, व्युपशमयति, एकोतीकरोति, समादधातीति नवाकारा ।।११-१४।।

ततः स तनुकां लब्ध्वा प्रश्रब्धिं कायचेतसोः ।
विज्ञेयः समनस्कारः पुनस्तां[3] स विवर्धयन् ।। १५ ।।
वृद्धिदूरङ्गमत्वेन मौलीं स लभते स्थितिम् ।
तां शोधयन्नभिज्ञार्थमेति कर्मण्यतां पराम् ।। १६ ।।
ध्यानेऽभिज्ञाभिनिर्हाराल्लोकधातून् स गच्छति ।
पूजार्थमप्रमेयाणां बुद्धानां श्रवणाय च ।। १७ ।।
अप्रमेयानुपास्यासौ बुद्धान् कल्पैरमेयगैः ।
कर्मण्यतां परामेति चेतसस्तदुपासनात् ।। १८ ।। इति ।

कर्मण्यतां परां ध्याने इति सम्बन्धनीयम् । कल्पैरमेयगैरिति । **अप्रमेयसंख्यागतैः** । शेषमेषां श्लोकानां गतार्थम् ।। १५-१८ ।।

ततोऽनुशंसान् लभते पञ्च शुद्धेः स पूर्वगान् ।
विशुद्धिभाजनत्वं च ततो याति निरुत्तरम् ।। १९ ।।
कृत्स्नदौष्ठुल्यकायो[4] हि द्रवतेऽस्य प्रतिक्षणम् ।
आपूर्यते च प्रश्रब्ध्या कायचित्तं समन्ततः ।। २० ।।
अपरिच्छिन्नमाभासं धर्माणां वेत्ति सर्वतः ।
अकल्पितानि संशुद्धौ निमित्तानि प्रपश्यति ।। २१ ।।
प्रपूरौ च विशुद्धौ च धर्मकायस्य सर्वथा ।
करोति सततं धीमानेवं हेतुपरिग्रहम् ।। २२ ।।

---

१. रमये०—सि० ।
२. ०भिसंस्कारान्—सि० ।
३. ०स्तान्—सि० ।
४. ०दौस्वल्प०—सि० ।

[SL 93] ततः शुद्धेः पूर्वंगमान् पञ्चानुशंसान् लभते–शुद्ध्याशयभूमेः, तेषां च लाभाद् विशुद्धिभाजनत्वं प्राप्नोति, निरुत्तरं यानानुत्तर्यात्[1], प्रपूरौ च विशुद्धौ च धर्मकायस्येति, दशम्यां भूमौ परिपूरिर्बुद्धभूमौ विशुद्धिः। एतेषां पञ्चानामनुशंसानां त्रयः शमथपक्षाः, द्वौ विपश्यनापक्षौ वेदितव्यौ। अतो यावल्लौकिकः समुदागमः ॥ १९-२२ ॥

अत ऊर्ध्वं निर्वेधभागीयानि—

ततश्चासौ तथाभूतो बोधिसत्त्वः समाहितः।
मनोजल्पाद्विनिर्मुक्तान् सर्वार्थान्न प्रपश्यति ॥ २३ ॥
धर्मालोकस्य[2] वृद्ध्यर्थं वीर्यमारभते दृढम्।
धर्मालोकविवृद्ध्या च चित्तमात्रेऽवतिष्ठते ॥ २४ ॥
सर्वार्थप्रतिभासत्वं ततश्चित्ते प्रपश्यति।
प्रहीणो ग्राह्यविक्षपस्तदा[3] तस्य भवत्यसौ ॥ २५ ॥
ततो ग्राहकविक्षपः केवलोऽस्यावशिष्यते।
आनन्तर्यसमाधिं च स्पृशत्याशु तदा पुनः ॥ २६ ॥

तथाभूतो बोधिसत्त्वः समाहितचित्तो मनोजल्पाद् विनिमुक्तान् सर्वधर्मान्न पश्यति स्वलक्षणसामान्यलक्षणाख्यान्मनोजल्पमात्रमेव ख्याति। सास्योष्मगतावस्था। अयं स आलोको यमधिकृत्योक्तं क्षारनद्याम्—"आलोक इति धर्मनिध्यानक्षान्तेरेतदधिवचनम्" इति। स तस्यैव धर्मालोकस्य विवृद्ध्यर्थमास्थितक्रियया दृढं वीर्यमारभते। साऽस्य मूर्धावस्था।

धर्मालोकविवृद्ध्याः च चित्तमात्रेऽवतिष्ठते। चित्तमेतदिति प्रतिवेधात्। ततश्चित्त एव सर्वार्थप्रतिभासत्वं पश्यति। न चित्तादन्यमर्थम्। तदा चास्य ग्राह्यविक्षेपः प्रहीणो भवति।

ग्राहकविक्षेप केवलोऽवशिष्यते। सास्य क्षान्त्यवस्था। तदा च शिघ्रमानन्तर्यसमाधिं स्पृशति। साऽस्य लौकिकाग्रधर्मावस्था ॥ २३–२६ ॥

केन कारणेन स आनन्तर्य उच्यते ?

यतो ग्राहकविक्षेपो हीयते तदनन्तरम्।
ज्ञेयान्यूष्मगतादीनि एतानि हि यथाक्रमम् ॥ २७ ॥ इति।

एतान्यूष्मगतादीनि निर्वेधभागीयानि ॥ २७ ॥

---

१. यानानन्तर्यात्—सि०।   २. धर्मलोकस्य–सि०।
३. ०निक्षेप०–सि०।

अतः परेण दर्शनमार्गावस्था—

द्वयग्राहविसंयुक्तं लोकोत्तरमनुत्तरम् ।
निर्विकल्पं मलापेतं ज्ञानं स लभते पुनः ॥ २८ ॥

द्वयग्राहविसंयुक्तं ग्राह्यग्राहग्राहकग्राहविसंयोगात् । अनुत्तरं [SL 94] यानानुत्तर्येण[1] । निर्विकल्पं ग्राह्यग्राहकविकल्पविसंयोगात् । मलापेतं दर्शनोहेयक्लेशप्रहाणात्[2] । एतेन विरजो विगतमलमित्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

साऽस्याश्रयपरावृत्तिः प्रथमा भूमिरिष्यते ।
अमेयैश्चास्य सा कल्पैः सुविशुद्धिं निगच्छति ॥ २९ ॥

श्लोको गतार्थः ॥ २९ ॥

धर्मधातोश्च समतां प्रतिविध्य पुनस्तदा ।
सर्वसत्त्वेषु लभते सदात्मसमचित्तताम् ॥ ३० ॥
निरात्मतायां दुःखार्थे कृत्ये निःप्रतिकर्मणि ।
सत्त्वेषु समचित्तोऽसौ यथान्येऽपि जिनात्मजाः ॥ ३१ ॥

धर्मनैरात्म्येन च धर्मसमतां प्रतिविध्य सर्वसत्त्वेषु सदा आत्मसमचित्ततां प्रत्तिलभते पञ्चविधया समतया—१. नैरात्म्यसमतया, २. दुःखसमतया, स्वपरसन्तानेषु नैरात्म्यदुःखसमतयोरविशेषात्, ३. कृत्यसमतया स्वपरदुःखप्रहाणकामतासामान्यात्, ४. निष्प्रतिकारसमतया, आत्मन इव परतः प्रतिकारानभिनन्दनात्, ५. तदन्यबोधिसत्त्वसमतया च, यथा तैरभिसमितं तथाभिसमयात् ॥ ३०-३१ ॥

त्रैधातुकात्मसंस्कारानभूतपरिकल्पतः ।
ज्ञानेन सुविशुद्धेन अद्वयार्थेन पश्यति ॥ ३२ ॥

स त्रैधातुकात्मसंस्कारानभूतपरिकल्पनामात्रान् पश्यति; सुविशुद्धेन ज्ञानेन लोकोत्तरत्वात् । अद्वयार्थेनेति । अग्राह्यग्राहकार्थेन ॥ ३२ ॥

तदभावस्य भावं च विमुक्तं दृष्टिहायिभिः ।
लब्ध्वा दर्शनमार्गो हि तदा तेन निरुच्यते ॥ ३३ ॥

तस्य ग्राह्यग्राहकाभावस्य भावं धर्मधातून् दर्शनप्रहातव्यैः क्लेशैर्विमुक्तं पश्यति ॥ ३३ ॥

अभावशून्यतां ज्ञात्वा तथाभावस्य शून्यताम् ।
प्रकृत्या शून्यतां ज्ञात्वा शून्यज्ञ इति कथ्यते ॥ ३४ ॥

---

१. यानानन्तर्येण–सि० ।

४. ०ज्ञेय०–सि० ।

[SL. 95] स च बोधिसत्त्वः शून्यज्ञ इत्युच्यते; त्रिविधशून्यताज्ञानात्। अभावशून्यता = परिकल्पितः स्वभावः, स्वेन लक्षणेनाभावात्। तथाभावस्य शून्यता = परतन्त्रस्य स हि न तथाभावो यथा कल्प्यते स्वेन लक्षणेन भावः। प्रकृतिशून्यता = परिनिष्पन्नः स्वभावः; शून्यतास्वभावत्वात्॥ ३४॥

अनिमित्तपदं ज्ञेयं विकल्पानां च संक्षयः।
अभूतपरिकल्पश्च तदप्रणिहितस्य हि॥ ३५॥

अनिमित्तपदं ज्ञेयं विकल्पानां च संक्षयः। अभूतपरिकल्पः, तदप्रणिधानस्य पदमालम्बनमित्यर्थः॥ ३५॥

तेन दर्शनमार्गेण सह लाभः सदा मतः।
सर्वेषां बोधिपक्षाणां विचित्राणां जिनात्मजे॥ ३६॥

तेन दर्शनमार्गेण सह बोधिसत्त्वस्य सर्वेषां बोधिपक्षाणां लाभो वेदितव्यः स्मृत्युपस्थानादीनाम्॥ ३६॥

एभिः पञ्चभिः श्लोकैर्दर्शनमार्गलाभिनो बोधिसत्त्वस्य महात्म्योद्भावनम्—

संस्कारमात्रं जगदेत्य बुद्ध्या निरात्मकं दुःखविरूढिमात्रम्।
विहाय यानर्थमयाऽऽत्मदृष्टिः महात्मदृष्टिं श्रयते महार्थाम्॥३७॥
विनात्मदृष्ट्या य इहात्मदृष्टिर्विनापि दुःखेन सुदुःखितश्च।
सर्वार्थकर्ता न च कारकाङ्क्षी यथात्मनः स्वात्महितानि कृत्वा॥३८॥
यो मुक्तचित्तः परया विमुक्त्या बद्धश्च गाढायतबन्धनेन।
दुःखस्य पर्यन्तमपश्यमानः प्रयुज्यते चैव करोति चैव॥३९॥
स्वं दुःखमुद्वोढुमिहासमर्थो लोकः कुतः पिण्डितमन्यदुःखम्।
जन्मैकमालोकगतं[1] त्वचिन्तो विपर्ययात्तस्य तु बोधिसत्त्वः॥४०॥
यत्प्रेम या वत्सलता प्रयोगः सत्त्वेष्वखेदश्च जिनात्मजानाम्।
आश्चर्यमेतत् परमं भवेषु न चैव सत्त्वात्मसमानभावात्॥४१॥

अनर्थमयात्मदृष्टिर्या क्लिष्टा सत्कायदृष्टिः। महात्मदृष्टिरिति। महार्था या सर्वसत्त्वेष्वात्मसमचित्तलाभात्मदृष्टिः। सा हि सर्वसत्त्वार्थक्रियाहेतुत्वात् महार्था॥ ३७॥

विनात्मदृष्ट्या अनर्थमय्यात्मदृष्टिर्महार्था, या विनापि दुःखेन स्वसन्तानजेन सुदुःखिता सर्वसत्त्वसन्तानजेन॥ ३८॥

यो विमुक्तचित्तो दर्शनप्रहातव्येभ्यः परया विमुक्त्या, अनुत्तरेण यानेन। बद्धश्च गाढायतबन्धनेन। सर्वसत्त्वसान्तानिकेन दुःखस्य पर्यन्तं न पश्यति

१. मालोकयते—सि०।

स्वसत्त्वघातोरनन्तत्वादाकाशवत्[1] प्रयुज्यते च दुःखस्यान्तक्रियायै [SL. 96] सत्त्वानां करोति चैव अर्थमप्रमेयाणां[2] सत्त्वानाम् ॥ ३९ ॥

विपर्ययात्तस्य तु बोधिसत्त्वः। स हि सम्पिण्डितसर्वसत्त्वदुःखं यावल्लोकगतमुद्वोढुं समर्थः ॥ ४० ॥

या सत्त्वेषु बोधिसत्त्वस्य प्रियता, या च हितसुखैषिता, यश्च तदर्थ प्रयोगः, यश्च[3] तत्प्रयुक्तस्याखेदः एतत् सर्वमाश्चर्यं परमं लोकेषु। न चैवाश्चर्यं सत्त्वानाम्; आत्मसमानत्वात् ॥ ४१ ॥

ततोऽसौ भावनामार्गे परिशिष्टासु भूमिषु।
ज्ञानस्य द्विविधस्येह भावनायै प्रयुज्यते ॥ ४२ ॥
निर्विकल्पं च तज्ज्ञानं बुद्धधर्मविशोधकम्।
अन्यद्यथाव्यवस्थानं सत्त्वानां परिपाचकम् ॥ ४३ ॥
भावनायाश्च निर्याणं द्वयसंख्येयसमाप्तितः।
पश्चिमां भावनामेत्य बोधिसत्त्वोऽभिषिक्तकः ॥ ४४ ॥
वज्रोपमं समाधानं विकल्पाभेद्यमेत्य च।
निष्ठाश्रयपरावृत्तिं सर्वावरणनिर्मलाम् ॥ ४५ ॥
सर्वाकारज्ञतां चैव लभतेऽनुत्तरं पदम्।
यत्रस्थः सर्वसत्त्वानां हिताय प्रतिपद्यते ॥ ४६ ॥

—एभिर्भावनामार्गः परिदीपितः। द्विविधं ज्ञानम्—१. निर्विकल्पं च, येनात्मनो बुद्धधर्मान् विशोधयति; २. यथाव्यवस्थानं च लोकोत्तरपृष्ठलब्धं लौकिकम्, येन सत्त्वान् परिपाचयति। असंख्येयद्वयस्य समाप्तौ पश्चिमां भावनामागम्यावसानगतामभिषिक्तो वज्रोपमं समाधिं लभते। विकल्पानुशयाभेद्यार्थेन वज्रोपमः। ततो निष्ठागतामाश्रयपरावृत्तिं लभते सर्वक्लेशज्ञेयावरणनिर्मलाम्। सर्वकारज्ञतां चानुत्तरपदं यत्रस्थो यावत्संसारमभिसम्बोधिनिर्वाणसन्दर्शनादिभिः सत्त्वानां हिताय प्रतिपद्यते ॥ ४५-४६ ॥

कथं तथा दुर्लभदर्शने मुनौ भवेन्महार्थं न हि नित्यदर्शनम्।
भृशं समाप्यायितचेतसः सदा प्रसादवेगैरसमश्रवोद्भवैः ॥४७॥
प्रचोद्यमानः[4] सततं च सम्मुखं तथागतैर्धर्ममुखे[5] व्यवस्थितः।
निगृह्य केशेष्विव दोषगह्वरान्निकृष्य बोधौ स बलान्निवेश्यते ॥४८॥

---

१. स्वधातो०—सि०। २. ताम प्रमे०—सि०।
३. यश्चितप्र०—सि०। ४. अचोदयमानः—सि०।
५. धर्ममुखश्रोत०—सि०।

स सर्वलोकं सुविशुद्धदर्शनैरकल्पबोधैरभिभूय सर्वथा।
महान्धकारं विधमय्य भासते जगन्महादित्य इवात्युदारतः ॥४९॥

[SL. 97]—एभिस्त्रिभिः श्लोकैरववादमाहात्म्यं दर्शयति। यो हि धर्ममुखस्त्रोतस्यववादं[1] लभते तस्य नित्यं बुद्धदर्शनं भवति। ततश्चासमं धर्मश्रवणम्। यतोऽस्यात्यर्थं प्रसादः, प्रसादवेगैराप्यायितचेतसस्तन्नित्यदर्शनं बुद्धानां महार्थं भवति। शेषं गतार्थम् ॥ ४७–४९ ॥

चतुर्विधामनुशासनीमेतेन श्लोकेन दर्शयति—

बुद्धाः सम्यक्प्रशंसां विदधति सततं स्वार्थसम्यक्प्रयुक्ते,
निन्दामीर्ष्याप्रयुक्ते स्थितिविचयपरे चान्तरायानुकूलान्।
धर्मान् सर्वप्रकारान् विधिवदिह जिना दर्शयन्त्यग्रसत्वे,
यान् वर्ज्यासेव्ययोगे भवति विपुलता सौगते शासनेऽस्मिन् ॥५०॥

अधिशीलमधिकृत्य सम्यक्स्वार्थप्रयुक्ते बोधिसत्त्वे प्रशंसाविधानतः। अधिचित्तमधिप्रज्ञं चाधिकृत्य स्थितिविचयपरे तदन्तरायाणां तदनुकूलानां च सर्वप्रकाराणां धर्माणां देशनतः। यान् वर्ज्यासेव्येति। अन्तरायाननुकूलांश्च यथाक्रमम्। योगे इति। शमथविपश्यनाभावनायाम् ॥ ५ ॥

निगमनश्लोकः—

इति सततशुभाचयप्रपूर्णः सुविपुलमेत्य स चेतसः समाधिम्।
मुनिसततमहाववादलब्धो भवति गुणार्णवपारगोऽग्रसत्त्वः ॥ ५१ ॥

निगमनश्लोको गतार्थः ॥

उद्दानम्

अधिमुक्तेर्बहुलता धर्मपर्येष्टिदेशने।
प्रतिपत्तिस्तथा सम्यगववादानुशासनम् ॥ १ ॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे अववादानुशासन्यधिकारश्चतुर्दशः ॥

---

१. ०धर्मसुखे–सि०।

१५

पञ्चदश उपायसहितकर्माधिकारः

उपायसहितकर्मविभागे चत्वारः श्लोकाः —

यथा प्रतिष्ठा वनदेहिपर्वत-
प्रवाहिणीनां पृथिवी समन्ततः ।
तथैव दानादिशुभस्य सर्वतो
बुधेषु कर्म त्रिविधं निरुच्यते ।। १ ।।

—अनेन श्लोकेन समुत्थानोपायं दर्शयति । सर्वप्रकारस्य दाना- [SL. 98] दिशुभस्य पारमिताबोधिपक्षादिकस्य कर्मत्रयसमुत्थितत्वात् । बुधेष्विति । बोधिसत्त्वेषु । वनादिग्रहणमुपभोज्यास्थिरस्थिरवस्तुनिदर्शनार्थम् ।। १ ।।

सुदुष्करैः कर्मभिरुद्यतात्मनां
विचित्ररूपैर्बहुकल्पनिर्गतैः ।
न कायवाक्चित्तमयस्य कर्मणो
जिनात्मजानां भवतीह सन्नतिः ।। २ ।।
यथा विषाच्छस्त्रमहाशनाद्[1] रिपो-
र्निवारयेदात्महितः स्वमाश्रयम् ।
निहीनयानाद् विविधाज्जिनात्मजो
निवारयेत् कर्म तथा त्रयात्मकम् ।। ३ ।।

—आभ्यां श्लोकाभ्यां व्युत्थानोपायं दर्शयति । महायानखेदान्ययानपातव्युत्थानाद् यथाक्रमम् । सन्नतिः खेद इत्यर्थः । विषादिसाधर्म्यं हीनयानप्रतिसंयुक्तस्य कर्मणो हीनयानचित्तपरिणामनात् महायाने कुशलमूलसमुच्छेदनात् अनुत्पन्नकुशलमूलानुत्पादाय । उत्पन्नकुशलमूलस्य[2] ध्वंसनात्, बुद्धत्वसम्पत्प्राप्तिविबन्धनाच्च ।। २-३ ।।

न कर्मिणः कर्म न कर्मणः क्रियां
सदाविकल्पः समुदीक्षते त्रिधा ।
ततोऽस्य तत्कर्म विशुद्धिपारगं
भवत्यनन्तं तदुपायसंग्रहात् ।। ४ ।।

—अनेन चतुर्थेन श्लोकेन विशुद्ध्युपायं कर्मणो दर्शयति । मण्डलपरिशुद्धितः कर्तृकर्मक्रियाणामनुपलम्भात् । अनन्तमिति अक्षयम् ।। ४ ।।

।। इति महायानसूत्रालंकार उपायसहितकर्माधिकारः पञ्चदशः ।।

●

---

१. ०महाशने–सि० ।
२. कुशलमूल [स ?] स्य–मि० ।

१६

षोडशः पारमिताधिकारः

पारमिताप्रभेदसंग्रहे उद्दानश्लोकः—

सङ्ख्याथ[1] तल्लक्षणमानुपूर्वी निरुक्तिरभ्यासगुणश्च तासाम् ।
प्रभेदनं संग्रहणं विपक्षो ज्ञेयो गुणोऽन्योन्यविनिश्चयश्च ॥ १ ॥

संख्याविभागे षट् श्लोकाः—

भोगात्मभावसम्पत्परिचारारम्भसम्पदभ्युदयः ।
क्लेशावशगत्वमपि च कृत्येषु सदाविपर्यासः ॥ १ ॥

इति प्रथमः ।

तत्र चतसृभिः पारमिताभिश्चतुर्विधोऽभ्युदयः— दानेन भोग- [SL99] सम्पत्, शीलेनात्मभावसम्पत्, क्षान्त्या परिचारसम्पत् । तथा हि तदासेवनादायत्यां[2] बहुजनसुप्रियो भवति । वीर्येणारम्भसंपत् सर्वकर्मान्तसंपत्तितः । पञ्चम्या क्लेशावशगत्वम्, ध्यानेन क्लेशविष्कम्भनात् । षष्ठ्या कृत्येष्वविपर्यासः, सर्वकार्ययथाभूतपरिज्ञानात् । इत्यभ्युदयः । तत्र चासंक्लेशमविपरीतकृत्यारम्भं चाधिकृत्य षट् पारमिता व्यवस्थिताः ॥ २ ॥

सत्त्वार्थेषु सुयुक्तस्त्यागानुपघातमर्षणैः कुरुते ।
सनिदानस्थितिमुक्त्या आत्मार्थं सर्वथा चरति ॥ ३ ॥

इति द्वितीयः ।

सत्त्वार्थेषु सम्यक्प्रयुक्तो बोधिसत्त्वस्तिसृभिर्दानशीलक्षान्तिपारमिताभिर्यथाक्रमं त्यागेनानुपघातेनोपघातमर्षणेन च सत्त्वार्थं कुरुते । तिसृभिः सनिदानया[3] चित्तस्थित्या विमुक्त्या च सर्वप्रकारमात्मार्थं चरति । वीर्यं निश्रित्य यथाक्रमं ध्यानप्रज्ञाभ्यामसमाहितस्य[4] चित्तस्य समवधानात्, समाहितस्य मोचनात् । इति परार्थमात्मार्थं चारभ्य षट् पारमिताः ॥ २ ॥

अविघातैरविहेठैर्विहेठसम्मर्षणैः क्रियाखेदैः ।
आवर्जनैः सुलपितैः परार्थ आत्मार्थं एतस्मात् ॥ ३ ॥

इति तृतीयः ।

दानादिभिर्बोधिसत्त्वस्य सकलः परार्थो भवति । यथाक्रमं परेषामुप-

---

१. सांख्याथ–मि० ।
२. दायत्याद्–सि० ।
३. सनिदानतया–सि० ।
४. प्रज्ञाभ्याससमा०–सि० ।

करणाविघातैः। अविहेठैः विहेठनामर्षणैः। साहाय्यक्रियास्वखेदैः ऋद्ध्यादिप्रभावावर्जनैः सुभाषितसुलपितैश्च संशयच्छेदनात्। एतस्मात् परार्थात् बोधिसत्त्वस्यात्मार्थो भवति। परकार्यस्वकार्यत्वान्महाबोधिप्राप्तितश्च।
इति सकलपरार्थाधिकारात् षट् पारमिताः ॥ ३ ॥

भोगेषु चानभिरतिस्तीव्रा गुरुता द्वये अखेदश्च।
योगश्च निर्विकल्पः समस्तमिदमुत्तमं यानम् ॥ ४ ॥

इति चतुर्थः।

दानेन बोधिसत्त्वस्य भोगेष्वनभिरतिः[1], निरपेक्षत्वात्। शीलसमादानेन बोधिसत्त्वशिक्षासु तीव्रा गुरुता। क्षान्त्या वीर्येण चाखेदो द्वये यथाक्रमं दुःखे च सत्त्वासत्त्वकृते कुशलप्रयोगे च। ध्यानप्रज्ञाभ्यां[2] निर्वि- [SL 100] कल्पो योगः शमथविपश्यनासंगृहीतः। एतावच्च समस्तमहायानम्।
इति महायानसंग्रहाधिकारात् षट् पारमिताः ॥ ४ ॥

विषयेष्वसक्तिमार्गस्तदाप्तिविक्षेपसंयमेष्वपरः।
सत्त्वाविसृजनवर्धन आवरणविशोधनेष्वपरः ॥ ५ ॥

इति पञ्चमः।

तत्र दानं विषयेष्वसक्तिमार्गः, त्यागाभ्यासेन तत्सक्तिविगमात्। शीलं तदाप्तिविक्षेपसंयमेषु भिक्षुसंवरस्थस्य विषयप्राप्तये सर्वकर्मान्तविक्षेपाणामप्रवृत्तेः। क्षान्तिः सत्त्वानुत्सर्गे सर्वापकारदुःखानुद्वेगात्[3]। वीर्यं कुशलविवर्धन आरब्धवीर्यस्य तद्वृद्धिगमनात्[4]। ध्यानं प्रज्ञा चावरणविशोधनेषु मार्गः, ताभ्यां क्लेशज्ञेयावरणविशोधनात्। मार्ग इत्युपायः।
एवं सर्वाकारमार्गाधिकारात् षट् पारमिताः ॥ ५ ॥

शिक्षात्रयमधिकृत्य च षट् पारमिता जिनैः समाख्याताः।
आद्या तिस्रो द्वेधा अन्त्यद्वयतस्तिसृष्वेका ॥ ६ ॥

इति षष्ठ।

तत्राद्या अधिशीलं शिक्षा तिस्रः, पारमिताः ससम्भारसपरिवारग्रहणात्। दानेन हि भोगनिरपेक्षः शीलं समादत्ते, समात्तं च क्षान्त्या रक्षत्याक्रुष्टाप्रत्याक्रोशनादिभिः। द्विधेति। अधिचित्तमधिप्रज्ञं च शिक्षा। सा अन्तेन द्वयेन संगृहीता यथाक्रमम् ध्यानेन प्रज्ञया च। तिसृष्वपि शिक्षास्वेका वीर्यपारमिता वेदितव्या; सर्वासां वीर्यसहायत्वात् ॥ ६ ॥

---

1. भोगेष्वभि०–सि०।
2. प्रज्ञायां–सि०।
3. सर्वोपकार०–सि०।
4. तद्वुद्धि०–सि।

निर्वचनविभागे श्लोकः—

दारिद्रचस्यापनयाच्छैत्यस्य च लम्भनात् क्षयात् क्रुद्धेः ।
वरयोग-मनोधारण-परमार्थज्ञानतश्चोक्तिः ॥ १ ॥

दारिद्रचमपनयतीति दानम् । शैत्यं लम्भयतीति शीलम्, तद्वतो विषय-निमित्तक्लेशपरिदाहाभावात् । क्षयः क्रुद्धेरिति क्षान्तिः; तया [SL. 102] क्रोधक्षयात् । वरेण योजयतीति वीर्यम्, कुशलधर्मयोजनात् । धारयत्यध्यात्मं मन इति ध्यानम् । परमार्थं जानात्यनयेति प्रज्ञा ॥ १ ॥

भावनाविभागे श्लोकः—

भावनोपधिमाश्रित्य मनस्कारं तथाशयम् ।
उपायं च विभुत्वं च सर्वासामेव कथ्यते ॥ १ ॥

पञ्चविधा पारमिताभावना । १. उपधिसन्निश्रिता । तत्रोपधिसन्निश्रिता चतुराकारा--हेतुसन्निश्रिता यो गोत्रबलेन पारमितासु प्रतिपत्त्यभ्यासः, विपाकसन्निश्रिता य आत्मभावसम्पत्तिबलेन, प्रणिधानसन्निश्रिता यः पूर्वप्रणिधानबलेन । प्रतिसंख्यानसन्निश्रिता यः प्रज्ञाबलेन पारमितासु प्रतिपत्त्यभ्यासः ।

२. मनसिकारसन्निश्रिता पारमिताभावना चतुराकारा—अधिमुक्तिमनस्कारेण सर्वपारमिताप्रतिसंयुक्तं सूत्रान्तमधिमुच्यमानस्य, आस्वादनामनस्कारेण लब्धाः पारमिता आस्वादयतो गुणसन्दर्शयोगेन, अनुमोदनामनस्कारेण सर्वलोकधातुषु सर्वसत्त्वानां दानादिकमनुमोदमानस्य, अभिनन्दनामनस्कारेणात्मनः सत्त्वानां चानागतं पारमिताविशेषमभिनन्दमानस्य ।

३. आशयसन्निश्रिता पारमिताभावना षडाकारा–अतृप्ताशयेन, विपुलाशयेन, मुदिताशयेन, उपकाराशयेन, निर्लेपाशयेन, कल्याणाशयेन च । तत्र (क) बोधिसत्त्वस्य दानेऽतृप्ताशयो यद् बोधिसत्त्व एकसत्त्वस्यैकक्षणे गंगानदीबालुकासमान् लोकधातून् सप्तरत्नपरिपूर्णान् कृत्वा प्रतिपादयेत्, गंगानदीबालुकासमाँश्चात्मभावान् । एवं च प्रतिक्षणं गंगानदीबालुकासमान् कल्पान् प्रतिपादयेत् । यथा चैकस्य सत्त्वस्यैवं यावान् सत्त्वधातुरनुत्तरायां सम्यक्सम्बोधौ परिपाचयितव्यः, तमनेन पर्यायेण प्रतिपादयेत् । अतृप्त एव बोधिसत्त्वस्य दानाशय इति । य एवंरूप आशयोऽयं बोधिसत्त्वस्य दानेऽतृप्ताशयः । न च बोधिसत्त्व एवंरूपां दानपरम्परां क्षणमात्रमपि हापयति, न विच्छिनत्त्याबोधिमण्डनिषदनादिति ।

(ख) य एवंरूप आशयोऽयं बोधिसत्त्वस्य दाने विपुलाशय इति । मुदित-

तरश्च बोधिसत्त्वो भवति तान् सत्त्वान् दानेन तथानुगृह्णन् । न त्वेव ते सत्त्वास्तेन दानेनानुगृह्यमाणा इति ।

(ग य एवंरूप आशयोऽयं बोधिसत्त्वस्य दाने मुदिताशयः । उपकारकतरांश्च स बोधिसत्त्वस्तान् सत्त्वानात्मनः समनुपश्यति । येषां तथा दानेनोपकरोति नात्मानम् । तेषामनुत्तरसम्यक्सम्बोध्युपस्तम्भतामुपादाय इति ।

(घ) य एवंरूप आशयोऽयं बोधिसत्त्वस्य दाने उपकाराशयः । न च बोधिसत्त्वः सत्त्वेषु तथा विपुलमपि दानमयं पुण्यमभिसंस्कृत्य प्रतिकारेण वा अर्थी[1] भवति विपाकेन वा इति ।

(ङ) य एवंरूप आशयोऽयं बोधिसत्त्वस्य दानपारमिताभावनायां निर्लेपाशयः । यद्बोधिसत्त्वस्तथा विपुलस्यापि दानस्कन्धस्य विपाकं सत्त्वेष्वभिनन्दति, [SL 103] नात्मनः । सर्वसत्त्वसाधारणं च कृत्वानुत्तरायां सम्यक्सम्बोधौ परिणामयति इति ।

(च) य एवंरूप आशयोऽयं बोधिसत्त्वस्य दानपारमिताभावनायां कल्याणाशयः ।

तत्र बोधिसत्त्वस्य शीलपारमिताभावनायां यावत्प्रज्ञापारमिताभावनायामतृप्ताशयः । यद्बोधिसत्त्वो गंगानदीबालिकासमेष्वात्मभावेषु गंगानदीबालिकासमकल्पायुष्प्रमाणेषु सर्वोपकरणनिरन्तरविघाती त्रिसाहस्रमहासाहस्रलोकधातावग्निप्रतिपूर्णे चतुर्विधमीर्यापथं कल्पयन्नेकं शीलपारमिताक्षणं यावत्प्रज्ञापारमिताक्षणं भावयेत्, एतेन पर्यायेण यावाँश्छीलस्कन्धो यावाँश्च प्रज्ञास्कन्धो येनानुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्बुध्यते शीलस्कन्धं यावत् प्रज्ञास्कन्धं भावयेदतृप्त एव बोधिसत्त्वस्य शीलपारमिताभावनायामाशयो यावत्प्रज्ञापारमिताभावनायामाशय इति । य एवंरूप आशयोऽयं बोधिसत्त्वस्य शीलपारमिताभावनायामतृप्ताशयो यावत् प्रज्ञापारमिताभावनायामतृप्ताशयः ।

यद्बोधिसत्त्वस्तां शीलपारमिताभावनापरम्परां यावत्प्रज्ञापारमिताभावनापरम्परामा बोधिमण्डनिषदनान्न स्रंसयति न विच्छिनत्ति इति । य एवंरूप आशयोऽयं बोधिसत्त्वस्य शीलपारमिताभावनायां यावत्प्रज्ञापारमिताभावनां विपुलाशयः ।

मुदिततरश्च बोधिसत्त्वो भवति तया शीलपारमिताभावनया यावत्प्रज्ञा-

---

१. अर्थो–सि० ।

पारमिताभावनया सत्त्वाननुगृह्णन्। न त्वेवं[1] ते सत्त्वा अनुगृह्यमाणा इति। य एवंरूप आशयोऽयं बोधिसत्त्वस्य शीलपारमिताभावनायां यावत्प्रज्ञापारमिताभावनायां मुदिताशयः।

उपकारकतरांश्च बोधिसत्त्वस्तान् सत्त्वानात्मनः समनुपश्यति। येषां तया शीलपारमिताभावनया यावत्प्रज्ञापारमिताभावनया उपकरोति नात्मानम्। तेषामनुत्तरसम्यक्सम्बोध्युपस्तम्भतामुपादाय इति य एवंरूप आशयोऽयं बोधिसत्त्वस्य शीलपारमिताभावनायां यावत् प्रज्ञापारमिताभावनायामुपकाराशयः। न च बोधिसत्त्वस्तथा विपुलमपि शीलपारमिताभावनामयं यावत्प्रज्ञापारमिताभावनामयं पुण्यमभिसंस्कृत्य प्रतिकारेण वाऽर्थी भवति विपाकेन वा इति य एवरूप आशयोऽयं बोधिसत्त्वस्य शीलपारमिताभावनायां यावत्प्रज्ञापारमिताभावनायां निर्लेपाशयः।

तत्र यद्बोधिसत्त्व एवं शीलपारमिताभावनामयस्य यावत्प्रज्ञापारमिताभावनामयपुण्यस्कन्धस्य विपाकं सत्त्वेष्वेवाभिनन्दति, नात्मनः। सर्वसत्त्वसाधारणं च कृत्वानुत्तरायां सम्यक्सम्बोधौ परिणामयतीति य एवंरूप आशयोऽयं बोधिसत्त्वस्य शीलपारमिताभावनायां यावत्प्रज्ञापारमिताभावनायां कल्याणाशयः।

४. उपायसन्निश्रिता भावना त्र्याकारा–निर्विकल्पेन ज्ञानेन त्रिमण्डलपरिशुद्धिप्रत्यवेक्षणतामुपादाय। तथा हि स उपायः सर्वमनसिकाराणामभिनिष्पत्तये।

५. विभुत्वसन्निश्रिता पारमिताभावना त्र्याकारा–कायवि-[SL 104] भुत्वतः, चर्याविभुत्वतः, देशनाविभुत्वतश्च। तत्र १. कायविभुत्वं तथागते द्वौ कायौ द्रष्टव्यौ—स्वाभाविकः, साम्भोगिकश्च। २. तत्र चर्याविभुत्वं नैर्माणकः कायो द्रष्टव्यः। येन सर्वाकारां सर्वसत्त्वानां सहधार्मिकचर्यां दर्शयति। ३. देशनाविभुत्वं षट्पारमितासर्वाकारदेशनायामव्याघातः॥ १॥

प्रभेदसंग्रहे द्वादशश्लोकाः। दानादीनां प्रत्येकं षडर्थप्रभेदतः। षडर्थाः स्वभाव-हेतु-फल-कर्म-योग-वृत्त्यर्थाः।

तत्र दानप्रभेदे द्वौ श्लोकौ—

प्रतिपादनमर्थस्य चेतना मूलनिश्रिता।
भोगात्मभावसम्पत्तौ द्वयानग्रहपूरकम्॥ १॥
अमात्सर्ययुतं तच्च दृष्टधर्मामिषाभये।
दानमेवं[2] परिज्ञाय पण्डितः समुदानयेत्॥ २॥

---

१. न त्वेव–सि०   २. दानमेव—सि०।

अर्थप्रतिपादनं प्रतिग्राहकेषु दानस्य स्वभावः। अलोभादिसहजा चेतना हेतुः। भोगसम्पत्तिरात्मभावसम्पत्तिश्चायुरादिसंगृहीता फलं पञ्चस्थान-सूत्रवत्। स्वपरानुग्रहो महाबोधिसम्भारपरिपूरिश्च कर्म। अमात्सर्ययोगो अमत्सरिषु वर्तते। दृष्टधर्मामिषाभयप्रदानप्रभेदेन चेति वृत्तिः ॥ १-२ ॥

शीलप्रभेदे द्वौ श्लोकौ—

षडङ्गशमभावान्तं सुगतिस्थितिदायकम्।
प्रतिष्ठाशान्तनिर्भीतं पुण्यसम्भारसंयुतम् ॥ १ ॥
संकेतधर्मतालब्धं संवरस्थेषु विद्यते।
शीलमेवं परिज्ञाय पण्डितः समुदानयेत् ॥ २ ॥

षडङ्गमिति स्वभावः। षडङ्गीति शीलवान् विहरति यावत्समादाय शिक्षते शिक्षापदेष्विति। शमभावान्तमिति हेतुः। निर्वाणाभिप्रायेण समा-दानात्। सुगतिस्थितिदायकमिति फलम्। शीलेन सुगतिगमनात्, अविप्रति-सारदिक्रमेण चित्तस्थितिलाभाच्च। प्रतिष्ठाशान्तनिर्भीतमिति कर्म। शीलं [SL 105] हि सर्वगुणानां प्रतिष्ठा भवति। क्लेशपरिदाहशान्त्या च शान्तम्। प्राणातिपातादिप्रत्ययानां च भयावद्यवैराणामप्रसवान्निर्भीतम्। पुण्यसम्भार-संयुतमिति योगः। सर्वकालं कायवाङ्मनस्कर्मसमाचरणात्[1]। संकेतधर्मतालब्धम् संवरस्थेषु विद्यत इति वृत्तिः। तत्र संकेतलब्धं प्रातिमोक्षसंवरसंगृहीतम्। धर्मताप्रतिलब्धं ध्यानानास्रवसंवरसंगृहीतम, एषाऽस्य प्रभेदवृत्तिः; त्रिविधेन प्रभेदेन वर्तनात् संवरस्थेषु विद्यत इत्याधारवृत्तिः ॥ १-२ ॥

क्षान्तिप्रभेदे द्वौ श्लोकौ—

मर्षाधिवासनज्ञानं कारुण्याद् धर्मसंश्रयात्।
पञ्चानुशंसमाख्यातं द्वयोरर्थकरं च तत् ॥ १ ॥
तपःप्राबल्यसंयुक्तं तेषु तत्त्रिविधं मतम्।
क्षान्तिमेवं परिज्ञाय पण्डितः समुदानयेत् ॥ २ ॥

मर्षाधिवासनज्ञानमिति। त्रिविधायाः क्षान्तेः स्वभावः, अपकारमर्षण-, क्षान्तेः, मर्षणं मर्ष इति कृत्वा। दुःखाधिवासक्षान्तेर्धर्मनिध्यानक्षान्तेश्च यथाक्रमम्। कारुण्याद्धर्मसंश्रयादिति हेतुः। धर्मसंश्रयः पुनः—शीलसमादानम् श्रुतपर्यवाप्तिश्च। पञ्चानुशंसमाख्यातमिति फलम्। यथोक्तं सूत्रे—"पञ्चानुशंसाः क्षान्तौ—न वैरबहुलो भवति, न भेदबहुलो भवति, सुखसौमनस्यबहुलो

---

१. समावरणात्—सि०।

भवति, अविप्रतिसारी कालं करोति, कायस्य च भेदात् सुगतौ स्वर्गलोके देवेषूपपद्यते" इति। द्वयोरर्थकरं च तदिति। मर्षाधिवासनमित्यधिकृतम् इदं कर्म। यथोक्तम्—

"द्वयोरर्थं स कुरुते आत्मनश्च परस्य च।
यः परं कुपितं ज्ञात्वा स्वयं तत्रोपशाम्यति"॥ इति।

तपः प्राबल्यसंयुक्तमिति योगः। यथोक्तम्—"क्षान्तिः परमं तपः" इति। तेषु तदित्याधारवृत्तिः; क्षमिषु तद्वृत्तेः। त्रिविधं मतमिति। प्रभेदवृत्तिस्त्रिविध-क्षान्तिप्रभेदेन। यथोक्तं प्राक्॥ १–२॥

वीर्यप्रभेदे द्वौ श्लोकौ—

उत्साहः कुशले सम्यक् श्रद्धाच्छन्दप्रतिष्ठितः।
स्मृत्यादिगुणवृद्धौ च संक्लेशप्रातिपक्षिकः॥ १॥
अलोभादिगुणोपेतस्तेषु सप्तविधश्च सः।
वीर्यमेवं परिज्ञाय पण्डितः समुदानयेत्॥ २॥

उत्साहः कुशले सम्यगिति स्वभावः। कुशल इति तदन्यकृत्योत्साह-व्युदासार्थम्, सम्यगित्यन्यतीर्थिकमोक्षार्थोत्साहव्युदासार्थम्। श्रद्धाच्छन्दप्रतिष्ठित इति हेतुः। श्रद्दधानो ह्यर्थिको[1] वीर्यमारभति। स्मृत्यादिगुणवृद्धा- [SL 106] विति फलम्। आरब्धवीर्यस्य स्मृतिसमाध्यादिगुणोद्भवात्। संक्लेशप्रातिपक्षिक इति कर्म। यथोक्तम्—"आरब्धवीर्यस्तु सुखं विहरत्यव्यवकीर्णः पापकैर-कुशलैर्धर्मैः" इति॥ १॥

अलोभादिगुणोपेत इति योगः। तेष्वित्यारब्धवीर्येषु इयमाधारवृत्तिः। सप्तविध इति प्रभेदवृत्तिः। स पुनरधिशीलादिशिक्षात्रये कायिकं चेतसिकं च सातत्येन सत्कृत्य च यद्वीर्यम्॥ २॥

ध्यानप्रभेदे द्वौ श्लोकौ—

स्थितिश्चेतस अध्यात्मं स्मृतिवीर्यप्रतिष्ठितम्।
सुखोपपत्तयेऽभिज्ञाविहारवशवर्तकम्॥ १॥
धर्माणां प्रमुखं तेषु विद्यते त्रिविधश्च सः।
ध्यानमेवं परिज्ञाय पण्डितः समुदानयेत्॥ २॥

स्थितिश्चेतस अध्यात्ममिति स्वभावः। स्मृतिवीर्यप्रतिष्ठितमिति हेतुः। आलम्बनासम्प्रमोषे सति वीर्यं निश्रित्य समापत्त्यभिनिर्हारात्। सुखोपपत्तये

---

१. ह्यतीव–सि०।

इति फलम्, ध्यानस्याव्याबाधोपपत्तिफलत्वात् । अभिज्ञाविहारवशवर्तकमिति कर्म, ध्यानेनाभिज्ञावशवर्तनात् । आर्यदिव्यब्राह्मविहारवशवर्तनाच्च ॥ १ ॥

धर्माणां प्रमुखमिति । प्रामुख्येन योगः । यथोक्तम्—"समाधिप्रमुखाः सर्वधर्माः" इति । तेषु विद्यत इति । ध्यायिष्वियमाधारवृत्तिः । त्रिविधश्च स इति । सवितर्कः सविचारः, अवितर्को विचारमात्रः, अवितर्को अविचारः । पुनः प्रीतिसहगतः, सातसहगतः, उपेक्षासहगतश्च । इयं प्रभेदवृत्तिः ॥ २ ॥

प्रज्ञाप्रभेदे द्वौ श्लोकौ—

सम्यक्प्रविचयो ज्ञेयः समाधानप्रतिष्ठितः ।
सुविमोक्षाय संक्लेशात् प्रज्ञाजीवसुदेशनः ॥ १ ॥
धर्माणामुत्तरस्तेषु विद्यते त्रिविधश्च सः ।
प्रज्ञामेवं परिज्ञाय पण्डितः समुदानयेत् ॥ २ ॥

सम्यक् प्रविचयो ज्ञेय इति । स्वभावः । सम्यगिति, न मिथ्या ज्ञेय इति लौकिककृत्यसम्यक्प्रविचयव्युदासार्थम् । समाधानप्रतिष्ठित इति हेतुः । समाहितचित्तो यथाभूतं प्रजानाति । यस्मात् सुविमोक्षाय संक्लेशादिति फलम् । तेन हि संक्लेशात् सुविमोक्षो भवति । लौकिकहीनलोकोत्तरमहालोकोत्तरेण प्रविचयेन । प्रज्ञाजीवसुदेशन इति । प्रज्ञाजीवः, सुदेशना चास्य कर्म । तेन ह्यनुत्तरः प्रज्ञाजीवकानां जीवति । सम्यग् धर्मं देशयतीति ॥ १ ॥

धर्माणामुत्तर इत्युत्तरत्वेन योगः । यथोक्तम्—"प्रज्ञोत्तराः सर्वधर्मा" इति । तेषु विद्यते त्रिविधश्च स इति वृत्तिः । प्राज्ञेषु वर्तनात् । त्रिविधेन च [SL 107] प्रभेदेन—लौकिकः, हीनलोकोत्तरः, महालोकोत्तरश्च ॥ २ ॥

॥ उक्तः प्रत्येकं दानादीनां षडर्थप्रभेदेन प्रभेदः ॥

संग्रहविभागे श्लोकः—

सर्वे शुक्ला धर्माः विक्षिप्तसमाहितोभया ज्ञेयाः ।
द्वाभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यां पारमिताभ्यां परिगृहीताः ॥ १ ॥

सर्वे शुक्ला धर्मा दानादिधर्माः । तत्र विक्षिप्ता द्वाभ्यां पारमिताभ्यां संगृहीताः, प्रथमाभ्यां दानसमादानशीलयोरसमाहितत्वात् । समाहिताः, द्वाभ्यां पश्चिमाभ्याम्, ध्यानयथाभूतप्रज्ञयोः समाहितत्वात् । उभये द्वाभ्यां क्षान्तिवीर्याभ्याम् । तयोः समाहितासमाहितत्वात् ॥ १ ॥

विपक्षविभागे श्लोकाः षट्—

न च सक्तं न च सक्तं न च सक्तं सक्तमेव न च दानम् ।
न च सक्तं न च सक्तं न च सक्तं बोधिसत्त्वानाम् ॥ १ ॥

सप्तविधा सक्तिर्दानस्य विपक्षः—भोगसक्तिः, विलम्बनसक्तिः, तन्मात्रसन्तुष्टिसक्तिः, प्रतिकारसक्तिः, विपाकसक्तिः; विपक्षसक्तिस्तु तद्विपक्षलाभानुशयासमुद्घातात्; विक्षेपसक्तिश्च । स विपक्षसक्तिश्च । स पुनर्विक्षेपो द्विविधः १. मनसिकारविक्षेपश्च हीनयानस्पृहणात्; २. विकल्पविक्षेपश्च दायकप्रतिग्राहकदानविकल्पनात् । अतः सप्तविधसक्तिमुक्तत्वात् सप्तकृत्वो दानस्याससक्तत्वमुक्तम् ॥ १ ॥

न च सक्तं न च सक्तं न च सक्तं सक्तमेव न च शीलम् ।
न च सक्तं न च सक्तं न च सक्तं बोधिसत्त्वानाम् ॥ २ ॥
न च सक्ता न च सक्ता न च सक्ता सक्तिका न क्षान्तिः ।
न च सक्ता न च सक्ता न च सक्ता बोधिसत्त्वानाम् ॥ ३ ॥
न च सक्तं न च सक्तं न च सक्तं सक्तमेव न च वीर्यम् ।
न च सक्तं न च सक्तं न च सक्तं बोधिसत्त्वानाम् ॥ ४ ॥
न च सक्तं न च सक्तं न च सक्तं सक्तमेव न च ध्यानम् ।
न च सक्तं न च सक्तं न च सक्तं बोधिसत्त्वानाम् ॥ ५ ॥
न च सक्ता न च सक्ता न च सक्ता सक्तिका न च प्रज्ञा ।
न च सक्ता न च सक्ता न च सक्ता बोधिसत्त्वानाम् ॥ ६ ॥

यथा दानासक्तिरुक्ता, एवं शीले यावत्प्रज्ञायां वेदितव्या । अत्र तु विशेषः-भोगसक्तिपरिवर्तेन दौःशील्याद्यासक्तिर्वेदितव्या; विपक्ष-[SL 108] सक्तिस्तद्विपक्षानुशयासमुद्घातनात् । विकल्पविक्षेपश्च यथायोगं त्रिमण्डलपरिकल्पनात् ॥ २–६ ॥

गुणविभागे चतुस्त्रिंशत्[1] श्लोकाः—

त्यक्तं बुद्धसुतैः स्वजीवितमपि प्राप्यार्थिनं सर्वदा,
कारुण्यात् परतो न च प्रतिकृतिर्नेष्टं फलं प्रार्थितम् ।
दानेनैव च तेन सर्वजनता बोधित्रये रोपिता,
दानं ज्ञानपरिग्रहेण च पुनर्लोकेऽक्षयं स्थापितम् ॥ १ ॥

इति सुबोधः पदार्थः ॥ १ ॥

आत्तं बुद्धसुतैर्यमोद्यममयं शीलत्रयं सर्वदा,
स्वर्गो नाभिमतः समेत्य च पुनः सक्तिर्न तत्राहिता ।
शीलनैव च तेन सर्वजनता बोधित्रये रोपिता,
शीलं ज्ञानपरिग्रहेण च पुनर्लोकेऽक्षयं स्थापितम् ॥ २ ॥

---

१. त्रयोविंशतिः–सि०, मि० ।

त्रिविधं शीलम्—संवरशीलम्, कुशलधर्मसंग्राहकशीलम्, सत्त्वार्थक्रिया-शीलं च। एषामेकं[1] यमस्वभावम्, द्वे उद्यमस्वभावे ॥ २ ॥

क्षान्तं बुद्धसुतैः सुदुष्करमथो सर्वापकारं नृणाम्,
न स्वर्गार्थमशक्तितो न च भयान्नैवोपकारेक्षणात्।
क्षान्त्यानुत्तरया च सर्वजनता बोधित्रये रोपिता,
क्षान्तिर्ज्ञानपरिग्रहेण च पुनर्लोकेऽक्षया स्थापिता॥ ३ ॥ इति।

क्षान्त्यानुत्तरया चेति। दुःखाधिवासनक्षान्त्या च परापकारमर्षणक्षान्त्या च यथाक्रमम् ॥ ३ ॥

वीर्यं बुद्धसुतैः कृतं निरुपमं सन्नाहयोगात्मकं
हन्तुं क्लेशगणं स्वतोऽपि परतः प्राप्तं च बोधिं पराम्।
वीर्येणैव च तेन सर्वजनता बोधित्रये रोपिता,
वीर्यं ज्ञानपरिग्रहेण च पुनर्लोकेऽक्षयं स्थापितम् ॥४॥ इति।

[SL. 109] वीर्यमिति। सन्नाहवीर्यम्, प्रयोगवीर्यं च ॥ ४ ॥

ध्यानं बुद्धसुतैः समाधिबहुलं सम्पादितं सर्वथा,
श्रेष्ठैर्ध्यानसुखैर्विहृत्य कृपया हीनोपपत्तिः श्रिता।
ध्यानेनैव च तेन सर्वजनता बोधित्रये रोपिता,
ध्यानं ज्ञानपरिग्रहेण च पुनर्लोकेऽक्षयं स्थापितम् ॥ ५ ॥ इति।

समाधिबहुलमिति। अनन्तबोधिसत्त्वसमाधिसंगृहीतम् ॥ ५ ॥

ज्ञातं बुद्धसुतैः सतत्त्वमखिलं ज्ञेयं च यत् सर्वथा,
सक्तिर्नैव न निर्वृत्तौ प्रजनिता बुद्धैः कुतः सम्वृत्तौ।
ज्ञानेनैव न तेन सर्वजनता बोधित्रये रोपिता,
ज्ञानं सत्त्वपरिग्रहेण च पुनर्लोकेऽक्षयं स्थापितम् ॥६॥ इति।

सतत्त्वं परमार्थसंगृहीतं सामान्यलक्षणं पुद्गलधर्मनैरात्म्यम्। ज्ञेयं च यत्सर्वथेति। अनन्तरस्वसंकेतादिलक्षणभेदभिन्नं यदपरं[2] ज्ञेयम्[2]। दानादीनां निर्विकल्पज्ञानपरिग्रहेणाक्षयत्वं निरुपधिशेषनिर्वाणेऽपि तदक्षयात्। ज्ञानस्य पुनः सत्त्वपरिग्रहेण करुणया सत्त्वानामपरित्यागात् ॥ ६ ॥

एषां पुनः षण्णां श्लोकानां पिण्डार्थः सप्तमेन श्लोकेन निर्दिष्टः—

औदार्यानामिषत्वं च महार्थाक्षयतापि च।
दानादीनां समस्तं हि ज्ञेयं गुणचतुष्टयम् ॥ ७ ॥ इति।

---

१. एकात्मकं–सि०। २–२. यदज्ञेयं–सि०।

तत्र दानादीनां प्रथमेन पादेनोदारता परिदीपिता। द्वितीयेन निरामिषता। तृतीयेन महार्थता; महतः सत्त्वार्थस्य सम्पादनात्। चतुर्थेनाक्षयता। इत्येषां गुणचतुष्टयमेभिः श्लोकैर्वेदितव्यम् ॥ ७ ॥

दर्शनपूरणतुष्टिं याचनकेऽतुष्टिमपि समाशास्तिम्।
अभिभवति स तां दाता कृपालुराधिक्ययोगेन ॥ ८ ॥

याचनके हि जने दायकदर्शनात् ततश्च यथेप्सितं लब्ध्वा मनोरथपरिपूरणाद्या तुष्टिरुत्पद्यते। अतुष्टिश्चादर्शनादपरिपूरणाच्च। आशास्तिश्च या तद्दर्शने मनोरथपरिपूरणे च। सा बोधिसत्त्वस्याधिकोत्पद्यते, [SL.110] सर्वकालं याचनकदर्शनात्तन्मनोरथपरिपूरणाच्च। अदर्शनादपरिपूरणाच्चातुष्टिः। अतो दाता कृपालुस्तां सर्वामभिभवत्याधिक्ययोगात् ॥ ८ ॥

प्राणान् भोगान् दारान् सत्त्वेषु सदात्यजनकृपालुत्वात्[1]।
आमोदते निकामं तद्विरतिं पालयेन्न कथम् ॥ ९ ॥

तेभ्यो विरतिं तद्विरतिम्, परकीयेभ्यः प्राणभोगदारेभ्यः। एतेन त्रिविधात् कायदुश्चरिताद्विरतिशीलगुणं दर्शयति ॥ ९ ॥

निरपेक्षः समचित्तो निर्भीः सर्वप्रदः कृपाहेतोः।
मिथ्यावादं ब्रूयात् परोपघाताय कथमार्यः ॥ १० ॥

एतेन मृषावादाद्विरतिगुणं दर्शयति –आत्महेतोर्मृषावाद उच्येत कायजीवितापेक्षया, परहेतोर्वा प्रियजनप्रेम्णा, भयेन वा राजादिभयात्। आमिषकिञ्चित्कहेतोर्वा लाभार्थम्। बोधिसत्त्वश्च स्वकायजीवितनिरपेक्षः। समचित्तश्च सर्वसत्त्वेष्वात्मसमचित्ततया। निर्भयश्च पञ्चभयसमतिक्रान्तत्वात्। सर्वप्रदश्चार्थिभ्यः सर्वस्वपरित्यागात्। स केन हेतुना मृषावादं ब्रूयात्! ॥ १० ॥

समहितकामः सकृपः परदुःखोत्पादनेऽतिभीरुश्च।
सत्त्वविनये सुयुक्तः सुविदूरे त्रिविधवाग्दोषात् ॥ ११ ॥

बोधिसत्त्वः सर्वसत्त्वेषु समं हितकामः, स कथं परेषां मित्रभेदार्थं पैशुन्यं करिष्यतीति! सकृपश्च परदुःखापनयाभिप्रायात्। परदुःखोत्पादने चात्यर्थं भीरुः, स कथं परेषां दुःखोत्पादनार्थं परुषं वक्ष्यति! सत्त्वानां विनये सम्यक् प्रयुक्तः स कथं सम्भिन्नप्रलापं करिष्यति! तस्मादसौ सुविदूरे त्रिविधवाग्दोषात् –पैशुन्यात्, पारुष्यात्, सम्भिन्नप्रलापाच्च ॥ ११ ॥

---

१. सदात्म०—सि०।

सर्वप्रदः कृपालुः प्रतीत्यधर्मोदये सुकुशलश्च ।
अधिवासयेत् कथमसौ सर्वाकारं मनःक्लेशम् ॥ १२ ॥

अभिध्या, व्यापादः, मिथ्यादृष्टिर्वा यथाक्रमम् । एष दौःशील्यप्रतिपक्षधर्मविशेषयोगाच्छीलविशुद्धिगुणो बोधिसत्त्वानां वेदितव्यः ॥ १२ ॥

उपकरसंज्ञामोदं ह्यपकारिणि परहिते 'सदा' दुःखे ।
लभते यदा कृपालुः क्षमितव्यं किं[2] कुतस्तस्य[2] ॥ १३ ॥

[SL 111] अपकारिणि हि क्षमितव्यं भवति । तत्र च बोधिसत्त्व अपकारिसज्ञां लभते, क्षान्तिसम्भारनिमित्तत्वात् । दुःखश्च क्षमितव्यं भवति । तत्र च परहितहेतुभृते दुःखे बोधिसत्त्वः सदा मोदं लभते, तस्य कुतः किं क्षमितव्यम् ! यस्य नापकारिसंज्ञा प्रवर्तते न दुःखसंज्ञा ॥ १३ ॥

परपरसंज्ञापगमात् स्वतोऽधिकारात् सदा परस्नेहात् ।
दुष्करचरणात् सकृपे ह्यदुष्करं वीर्यम् ॥ १४ ॥

सकृपो बोधिसत्त्वः । तत्र सकृपे यत्परार्थं दुष्करचरणाद्वीर्यं तददुष्करं च सुदुष्करं च । कथमदुष्करम् ? परत्र परसंज्ञापगमात् । स्वतोऽधिकतराच्च सर्वदा परेषु स्नेहात् । कथं सुदुष्करम् ? यदेवं परसंज्ञापगतं च स्वतोधिकतरस्नेहं च तद्वीर्यम् ॥ १४ ॥

अल्पसुखं ह्यात्मसुखं लीनं परिहाणिकं क्षयि समोहम् ।
ध्यानं मतं त्रयाणां विपर्ययाद् बोधिसत्त्वानाम् ॥ १५ ॥

अल्पसुखं ध्यानं लौकिकानाम् । आत्मसुखं श्रावकप्रत्येकबुद्धानाम् । लीनं लौकिकानां सत्काये श्रावकप्रत्येकबुद्धानां च निर्वाणे । परिहाणिकं लौकिकानाम् क्षयि सश्रावकप्रत्येकबुद्धानां निरुपधिशेषनिर्वाणे तत्क्षयात् । समोह सर्वेषां यथायोगक्लिष्टाक्लिष्टेन मोहेन । बोधिसत्त्वानां पुनर्ध्यानं बहुसुखमात्मपरसुखम्, अलीनम्, परिहाणिकम्, अक्षय्यसमोहं च ॥ १५ ॥

आमोषैस्तमसि यथा दीपैश्छन्ने[3] तथा त्रयज्ञानम् ।
दिनकरकिरणैरिव तु ज्ञानमतुल्यं कृपालूनाम् ॥ १६ ॥

यथा हस्तामोषैस्तमसि ज्ञानं परीत्तविषयप्रत्यक्षमव्यक्तं च, तथा पृथग्जनानाम् । यथा गह्वरके दीपैर्ज्ञानं प्रादेशिकं प्रत्यक्षं नातिनिर्मलम्, तथा श्रावकाणां प्रत्येकबुद्धानां च । यथा दिनकरकिरणैर्ज्ञानं समन्तात् प्रत्यक्षं सुनिर्मलं च, तथा बोधिसत्त्वानाम् । अत एव तदतुल्यम् ॥ १६ ॥

१-१. परहितसंज्ञा–सि० । २-२. सि० पुस्तके नास्ति ।
३. दीपैर्नुत्रं ।

आश्रयाद् वस्तुतो दानं निमित्तात् परिणामनात् ।
हेतुतो ज्ञानतः क्षेत्रान्निश्रयाच्च परं मतम् ।। १७ ।।

तत्राश्रयो बोधिसत्त्वः । वस्तु आमिषदानस्याध्यात्मिकं [SL. 112] वस्तु परमम् । अभयदानस्यापायसंसारभीतेभ्यस्तु तदभयम् । धर्मदानस्य महायानम् । निमित्तं करुणा । परिणामना तेन महाबोधिफलप्रार्थना । हेतुः पूर्वदानपारमिताभ्यासवासना । ज्ञानं निर्विकल्पम्, येन त्रिमण्डलपरिशुद्धं दानं ददाति, दातृदेयप्रतिग्राहकाविकल्पनात् । क्षेत्रं पञ्चविधम्—अर्थी, दुखितः, निःप्रतिसरणः, दुश्चरितचारी, गुणवाँश्च । चतुर्णामुत्तरं क्षेत्रं परम् । तदभावे पञ्चमम् । निश्रयस्त्रिविधो यं निश्रित्य ददाति—अधिमुक्तिः, मनसिकारः, समाधिश्च । अधिमुक्तिर्यथा भावनाविभागेऽधिमुक्तिमनस्कार उक्तः । मनस्कारो यथा तत्रैवास्वादनाऽऽमोदनाभिमनस्कार[1] उक्तः । समाधिर्गगनगञ्जादिर्यथा तत्रैव विभुत्वमुक्तम् । एवमाश्रयादिपरसमयो दानं परमम् । सोऽयं चापदेशो[2] वेदितव्यः । यश्च ददाति यश्च येन च यस्मै च यतश्च यस्य च परिग्रहेण यत्र च, यावत्प्रकारं तद्दानम् ।। १७ ।।

आश्रयाद्वस्तुतः शीलं निमित्तात् परिणामनात् ।
हेतुतो ज्ञानतः क्षेत्रान्निश्रयाच्च परं मतम् ।। १८ ।।
आश्रयाद्वस्तुतः क्षान्तिर्निमित्तात् परिणामनात् ।
हेतुतो ज्ञानतः क्षेत्रान्निश्रयाच्च परा मता ।। १९ ।।
आश्रयाद्वस्तुतो वीर्यं निमित्तात् परिणामनात् ।
हेतुतो ज्ञानतः क्षेत्रान्निश्रयाच्च परं मतम् ।। २० ।।
आश्रयाद्वस्तुतो ध्यानं निमित्तात् परिणामनात् ।
हेतुतो ज्ञानतः क्षेत्रान्निश्रयाच्च परं मतम् ।। २१ ।।
आश्रयाद्वस्तुतः प्रज्ञा निमित्तात् परिणामनात् ।
हेतुतो ज्ञानतः क्षेत्रान्निश्रयाच्च परा मता ।। २२ ।।

शीलस्य परमं वस्तु बोधिसत्त्वसंवरः । क्षान्तेः प्राणापहारिणौ हीनदुर्बलौ । वीर्यस्य पारमिताभावना तद्विपक्षप्रहाणं च । ध्यानस्य बोधिसत्त्वसमाधयः । प्रज्ञायास्तथता । सर्वेषां शीलादीनां क्षेत्रं महायानम् । शेषं पूर्ववद्वेदितव्यम् ।।

एकसत्त्वसुखं दानं बहुकल्पविघातकृत् ।
प्रियं स्याद् बोधिसत्त्वानां प्रागेव तद्विपर्ययात् ।। २६ ।।

---

१. ०स्वादनाभिनन्दन०—सि० ।

२. यायदेश—इति क्वचित् पाठः ।

यदि बोधिसत्त्वानां दानमेकस्यैव सत्वस्य सुखदं स्यादात्मनश्च बहुकल्पविघातकृत्, तथापि तत्तेषां प्रियं स्यात, करुणाविशेषात्, किं पुनर्यदनेकसत्त्वसुखं च भवत्यात्मनश्च बहुकल्पानुग्रहकृत् ॥ २३ ॥

यदर्थमिच्छन्ति धनानि देहिनस्तदेव धीरा विसृजन्ति देहिषु ।
शरीरहेतोर्धनमिष्यते जनैस्तदेव धीरैः शतशो विसृज्यते ॥ २४ ॥

[SL. 113] अत्र पूर्वार्धमुत्तरार्धे व्याख्यातम् ॥ २४ ॥

शरीरमेवोत्सृजतो न दुःख्यते यदा मनः का द्रविणेऽवरे कथा ।
तदस्य लोकोत्तरमेति यन्मुदं स तेन तत्तस्य तदुत्तरं पुनः ॥ २५ ॥

अत्र शरीरमेवोत्सृजतो यदा मनो न दुःख्यते तदस्य लोकोत्तरमिति सन्दर्शितम् । एति यन्मुदं स तेन दुःखेन तत्तस्य तदुत्तरमिति । तस्माल्लोकोत्तरादुत्तरम् ॥ २५ ॥

प्रतिग्रहैरिष्टनिकामलब्धैर्न तुष्टिमायाति तथार्थिकोऽपि ।
सर्वास्तिदानेन यथेह धीमान् तुष्टिं व्रजत्यर्थिजनस्य तुष्टचा ॥ २६ ॥

इष्टनिकामलब्धैरिति । अभिप्रेतपर्याप्तलब्धैः । सर्वास्तिदानेनेति । यावत्स्वजीवितदानेन ॥ २६ ॥

सम्पूर्णभोगो न तथास्तिमन्तमात्मानमन्वीक्षति याचकोऽपि ।
सर्वास्तिदानादधनोऽपि धीमानात्मानमन्वेति यथास्तिमन्तम् ॥ २७ ॥

सुविपुलमपि वित्तं प्राप्य नैवोपकारम्,
विगणयति तथार्थी दायकाल्लाभहेतोः ।
विधिवदिह सुदानैरर्थिनस्तर्पयित्वा,
महदुपकरसंज्ञां तेषु धीमान् यथैति ॥ २८ ॥

करुणाविशेषाद् । गतार्थौ श्लोकौ ॥ २८ ॥

स्वयमपगतशोका देहिनः स्वस्थरूपाः,
विपुलमपि गृहीत्वा भुञ्जते यस्य वित्तम् ।
पथि परमफलाढ्याद् भोगवृक्षाद् यथैव,
प्रविसृतिरतिभोगी बोधिसत्त्वान्न सोऽन्यः ॥ २९ ॥

प्रविसृतिरतिर्भोगश्चास्येति प्रविसृतिरतिभोगी । स च नान्यो बोधिसत्त्वाद् वेदितव्यः । शेषं गतार्थम् ॥ २९ ॥

प्राधान्यतत्कारणकर्मभेदात् प्रकारभेदाश्रयभेदतश्च ।
चतुर्विबन्धप्रतिपक्षभेदाद् वीर्यं परिज्ञेयमिति प्रदिष्टम् ॥३०॥

षड्विधेन प्रभेदेन वीर्यं परिज्ञेयम्—प्राधान्यभेदेन, तत्कारण- [SL. 114] भेदेन, कर्मभेदेन[1], प्रकारभेदेन, आश्रयभेदेन, चतुर्विबन्धप्रतिपक्षभेदेन च ॥ ३० ॥

अस्योद्देशस्योत्तरैः श्लोकैर्निर्देशः—

वीर्यं परं शुक्लगणस्य मध्ये तन्निश्रितस्तस्य यतोऽनुलाभः ।
वीर्येण सद्यः सुसुखो विहारो लोकोत्तरा लोकगता च सिद्धिः ॥३१॥

वीर्यं परं शुक्लगणस्य मध्ये इति । सर्वशुक्लधर्मप्राधान्यं वीर्यस्य निर्दिष्टम् । तन्निश्रितस्तस्य यतोऽनुलाभ इति । प्राधान्यकारणं निर्दिष्टम् । यस्माद् वीर्याश्रितः सर्वकुशलधर्मलाभः । वीर्येण सद्यः सुसुखो विहारो लोकोत्तरा लोकगता च सिद्धिरिति । कर्म निर्दिष्टम् । वीर्येण हि दृष्टधर्मे परमः सुखविहारः । सर्वा च लोकोत्तरा सिद्धिर्लौकिकी च क्रियते ॥ ३१ ॥

वीर्यादवाप्त भवभोगमिष्टं वीर्येण शुद्धिं प्रबलामुपेताः ।
वीर्येण सत्कायमतीत्य मुक्ता वीर्येण बोधिं परमां विबुद्धाः ॥३२॥

इति । पर्यायान्तरेण[2] वीर्यस्य कर्म निर्दिष्टम्; लौकिकलोकोत्तरसिद्धिभेदात् । तत्र प्रबला लौकिकी सिद्धिः, अनात्यन्तिकत्वात् ॥ ३२ ॥

पुनर्मतं हानिविवृद्धिवीर्यं मोक्षाधिपं पक्षविपक्षमन्यत् ।
तत्त्वे प्रविष्टं परिवर्तकं च वीर्यं महार्थं च निरुक्तमन्यत् ॥३३॥
सन्नाहवीर्यं प्रथमं ततश्च प्रयोगवीर्यं विधिवत् प्रगीतम् ।
अलीनमक्षोभ्यमतुष्टिवीर्यं सर्वप्रकारं प्रवदन्ति बुद्धाः ॥३४॥

इत्येष प्रकारभेदः ।

तत्र हानिविवृद्धिवीर्यं सम्यक्प्रहाणेषु द्वयोरकुशलधर्महानये[3], अपि[3] च द्वयोः कुशलधर्माभिवृद्धये । मोक्षाधिपं वीर्यमिन्द्रियेषु । मोक्षाधिपत्त्यार्थेन यस्मादिन्द्रियाणि । पक्षविपक्षं बलेषु विपक्षानवमृद्यार्थेन यस्माद् बलानि । तत्त्वे प्रविष्टं बोध्यङ्गेषु दर्शनमार्गे तद्व्यवस्थापनात् । परिवर्त्तकं मार्गाङ्गेषु भावनामार्गे तस्याश्रयपरिवृत्तिहेतुत्वात्[4] । महार्थं वीर्यं पारमितास्वभावं स्वपरार्थाधिकारात् । सन्नाहवीर्यं प्रयोगाय सन्नह्यतः । प्रयोगवीर्यं तथा प्रयोगतः । अलीनवीर्यमुदारेऽप्यधिगन्तव्ये लयाभावतः । अक्षोभ्यवीर्यं शीतोष्णादिभिर्दुःखैरविकोपनतः । असन्तुष्टिवीर्यमल्पेनाधिगमेनासन्तुष्टितः । एभिरेव

१. सि० पुस्तके नास्ति । २. पर्यायद्वारेण—सि० ।
३-३. सि० पुस्तके नास्ति । ४. अन्तस्याप्र०—सि० ।

[SL. 115] सन्नाहवीर्यादिभिः सूत्रे—"स्थानवान् वीर्यवानुत्साही दृढपराक्रमोऽनिक्षिप्तधुरः कुशलेषु धर्मेषु" इत्युच्यते यथाक्रमम् ॥ ३३–३४ ॥

निकृष्टमध्योत्तमवीर्यमन्यत् यानत्रये युक्तजनाश्रयेण।
लीनात्युदाराशयबुद्धियोगाद् वीर्यं तदल्पार्थमहार्थमिष्टम् ॥ १ ॥

अत्राश्रयप्रभेदेन वीर्यभेदो निर्दिष्टः। यानत्रये प्रयुक्तो यो जनस्तदाश्रयेण यथाक्रमं निकृष्टमध्योत्तमं वीर्यं वेदितव्यम्। किं कारणम्? लीनात्युदाराशयबुद्धियोगात्। लीनो हि बुद्ध्याशयो यानद्वये प्रयुक्तानां केवलात्मार्थाधिकारात्। अत्युदारो महायाने प्रयुक्तानां परार्थाधिकारात्। अत एव यथाक्रमं वीर्यं तदल्पार्थं महार्थम्; इष्टस्वार्थाधिकाराच्च[1] स्वपरार्थाधिकरणत्वाच्च[2]।

न वीर्यवान् भोगपराजितोऽस्ति, न वीर्यवान् क्लेशपराजितोऽस्ति।
न वीर्यवान् खेदपराजितोऽस्ति, न वीर्यवान् प्राप्तिपराजितोऽस्ति॥ २ ॥

इत्ययं चतुर्विबन्धप्रतिपक्षभेदः। चतुर्विधो दानादीनां विबन्धो येन दानादिषु न प्रवर्तते। भोगसक्तिस्तदाग्रहतः। क्लेशसक्तिस्तत्परिभोगाध्यवसानतः। खेदो दानादिषु प्रयोगाभियोगपरिखेदतः। प्राप्तिरल्पमात्रदानादिसन्तुष्टितः। तत्प्रतिपक्षभेदे नैतच्चतुर्विधं वीर्यमुक्तम् ॥ २ ॥

अन्योन्यविनिश्चयविभागे श्लोकः—

अन्योन्यं संग्रहतः प्रभेदतो धर्मतो निमित्ताच्च।
षण्णां पारमितानां विनिश्चयः सर्वथा ज्ञेयः ॥ १ ॥

अन्योन्यसंग्रहतो विनिश्चयः। अभयप्रदानेन शीलक्षान्तिसंग्रहो यस्मात्ताभ्यामभयं ददाति। धर्मदानेन ध्यानप्रज्ञयोर्यस्मात्ताभ्यां धर्मं ददाति। उभाभ्यां वीर्यस्य यस्मात्तेनोभयं ददाति। कुशलधर्मसंग्राहकेण शीलेन सर्वेषां दानादीनां संग्रहः। एवं क्षान्त्यादिभिरन्योन्यसंग्रहो यथायोगं योज्यः। प्रभेदतो विनिश्चयः। दानं षड्विधम्–दानदानम्, शीलदानम्, यावत्प्रज्ञादानम्, परसन्तानेषु शीलादिनिवेशनात्। धर्मतो विनिश्चयः। ये सूत्रादयो येषु दानादिष्वर्थेषु सन्दृश्यन्ते, ये च दानादयो येषु सूत्रादिषु धर्मेषु सन्दृश्यन्ते, तेषां परस्परं संग्रहो वेदितव्यः। निमित्ततो विनिश्चयः। दानं शीलादीनां निमित्तं भवति। भोगनिरपेक्षस्य शीलादिषु प्रवृत्तेः। शीलमपि दानादीनाम्। भिक्षुसम्वरसमादानं सर्वस्वपरिग्रहत्यागाच्छीलप्रतिष्ठितस्य च क्षान्त्यादि-

---

१. महार्थामिष्ट०–सि०। २. सि० पुस्तके नास्ति।

योगात्। कुशलधर्मसंग्राहकशीलसमादानं च सर्वेषां दानादीनां निमित्तम्। एवं क्षान्त्यादीनामन्योन्यनिमित्तभावो यथायोगं योज्यः ॥ १ ॥ [SL 116]

संग्रहवस्तुविभागे सप्त श्लोकाः। चत्वारि संग्रहवस्तूनि—दानम्, प्रियवादिता, अर्थचर्या, समानार्थता च। तत्र—

दानं समं प्रियाख्यानमर्थचर्या समार्थता।
तद्देशना समादाय स्वानुवृत्तिभिरिष्यते ॥ १ ॥

दानं सममिष्यते यथा पारमितासु। प्रियाख्यानं तद्देशना। अर्थचर्या तत्समादापना। तच्छब्देन पारमितानां ग्रहणात् पारमितादेशना पारमितासमादापनेत्यर्थः। समानार्थता यत्र परं समादापयति तत्र स्वयमनुवृत्तिः ॥ १ ॥

किमर्थं पुनरेतानि चत्वारि संग्रहवस्तूनीष्यन्ते ? एष हि परेषाम्—

उपायोऽनुग्रहकरो ग्राहकोऽथ प्रवर्तकः।
तथानुवर्तको ज्ञेयश्चतुःसंग्रहवस्तुतः ॥ २ ॥

दानम् = अनुग्राहक उपायः, आमिषदानेन कायिकानुग्रहोत्पादनात्। प्रियवादिता ग्राहकः, अव्युत्पन्नसन्दिग्धार्थग्राहणात्। अर्थचर्या प्रवर्तकः, कुशले प्रवर्तनात्। समानार्थताऽनुवर्तकः। यथावादितथाकारिणं हि समादापकं विदित्वा यत्र कुशले तेन प्रवर्तिताः परे भवन्ति, तदनुवर्तन्ते ॥ २ ॥

आद्येन भाजनीभावो द्वितीयेनाधिमुच्यना।
प्रतिपत्तिस्तृतीयेन चतुर्थेन विशोधना ॥ ३ ॥

आमिषदानेन भाजनीभवति, धर्मस्य विधेयतापत्तेः। प्रियवादितया तं धर्ममधिमुच्यते, तदर्थव्युत्पादनसंशयच्छेदनतः। अर्थचर्यया प्रतिपद्यते यथाधर्मम्। समानार्थतया तां प्रतिपत्तिं विशोधयति; दीर्घकालानुष्ठानाद्। इदं संग्रहवस्तूनां कर्म ॥ ३ ॥

चतुःसंग्रहवस्तुत्वं संग्रहद्वयतो मतम्।
आमिषेणापि धर्मेण धर्मेणालम्बनादिना[1] ॥ ४ ॥

यदप्यन्यत् संग्रहवस्तुद्वयमुक्तं भगवता—आमिषसंग्रहः, [SL 117] धर्मसंग्रहश्च; ताभ्यामेतान्येव चत्वारि संग्रहवस्तूनि संगृहीतानि। आमिषसंग्रहेण प्रथमे, धर्मसंग्रहेणावशिष्टानि। तानि पुनस्त्रिविधेन धर्मेण—आलम्बनधर्मेण, प्रतिपत्तिधर्मेण, तद्विशुद्धिधर्मेण च यथाक्रमम् ॥ ४ ॥

हीनमध्योत्तमः प्रायो वन्ध्योऽवन्ध्यश्च संग्रहः।
अवन्ध्यः सर्वथा चैव ज्ञेयो ह्याकारभेदतः ॥ ५ ॥

---

१. लम्बनादपि–सि०।

एष संग्रहस्य प्रकारभेदः। तत्र हीनमध्योत्तमः संग्रहो बोधिसत्त्वानां यानत्रयप्रयुक्तेषु वेदितव्यो यथाक्रमम्। प्रायेण वन्ध्योऽधिमुक्तिचर्याभूमौ। प्रायेणावन्ध्यो भूमिप्रविष्टानाम्। अवन्ध्यः सर्वथा अष्टम्यादिषु भूमिषु, सत्त्वार्थस्यावश्यं सम्पादनात्॥ ५॥

पर्षत्कर्षणप्रयुक्तैर्विधिरेष[1] समाश्रितः।
सर्वार्थसिद्धौ सर्वेषां सुखोपायश्च शस्यते॥ ६॥

ये केचित् पर्षत्कर्षणे प्रयुक्ताः सर्वैस्तैरयमेवोपायः समाश्रितो यदुत चत्वारि संग्रहवस्तूनि। तथा हि सर्वार्थसिद्धये सर्वेषां सुखश्चैष उपायः प्रशस्यते बुद्धैः॥ ६॥

संगृहीता ग्रहीष्यन्ते संगृह्यन्ते च येऽधुना।
सर्वे त एवं तस्माच्च वर्त्म तत्सत्त्वपाचने॥ ७॥

एतेन लोकत्रयेऽपि सर्वसत्त्वानां परिपाचने चतुर्णां संग्रहवस्तूनामेकायनमार्गत्वं दर्शयति, अन्यमार्गाभावात्॥ ७॥

निगमनश्लोकः—

इति सततमसक्तभोगबुद्धिः शम-यमनोद्यमपारगः स्थितात्मा।
भवविषयनिमित्तनिर्विकल्पो भवति स सत्त्वगणस्य संगृहीता॥ १॥

एतेन यथोक्तासु षट्सु पारमितासु स्थितस्य बोधिसत्त्वस्य संग्रहवस्तुप्रयोगं दर्शयति स्वपरार्थसम्पादनात् पारमिताभिः संग्रहवस्तुभिश्च यथाक्रमम्॥ १॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे पारमिताधिकारः षोडशः[2]॥

●

---

१. पर्षत्कर्षणसंयुक्तैर्विधिरेष—इत्युचितः पाठः छन्दसोऽभङ्गत्वात्।

२. सि० पुस्तके नास्ति।

१७

सप्तदशः पूजासेवाऽप्रमाणाधिकारः

बुद्धपूजाविभागे श्लोकाः— [SL. 118]

सम्मुखं विमुखं पूजा बुद्धानां चीवरादिभिः।
गाढप्रसन्नचित्तस्य सम्भारद्वयपूरये ॥ १ ॥
अवन्ध्यबुद्धजन्मत्वे प्रणिधानवतः सतः।
त्रयस्यानुपलम्भस्तु निष्पन्ना बुद्धपूजना ॥ २ ॥
सत्त्वानामप्रमेयाणां परिपाकाय चापरा।
उपधेश्चित्ततश्चान्या अधिमुक्तेर्निधानतः ॥ ३ ॥
अनुकम्पा-क्षमाभ्यां च समुदाचारतोऽपरा।
वस्त्वाभोगावबोधाच्च विमुक्तेश्च तथात्वतः ॥ ४ ॥

इत्येभिश्चतुर्भिः श्लोकैः—

आश्रयाद् वस्तुतः पूजा निमित्तात् परिणामनात्।
हेतुतो ज्ञानतः क्षेत्रान्निश्रयाच्च प्रदर्शिता ॥ ५ ॥

वेदितव्या। तत्र—आश्रयः समक्षपरोक्षा बुद्धाः। वस्तु चीवरादयः। निमित्तं प्रगाढप्रसादसहगत चित्तम्। परिणामना पुण्यज्ञानसम्भारपरिपूरये। हेतुः अवन्ध्यो मे बुद्धोत्पादः स्यादिति पूर्वप्रणिधानम्। ज्ञानं निर्विकल्पं पूजकपूज्यपूजानुपलम्भतः। क्षेत्रमप्रमेयाः सत्त्वाः। तत्परिपाचनाय तैस्तत्प्रयोजनात्[१] तेषु तद्रोपणतः। निश्रय उपधिश्चित्तं च।

तत्रोपधिं निश्रित्य पूजाचीवरादिभिश्चितं निश्रित्यास्वादनानुमोदनाभिनन्दनमनस्कारैः, यथोक्तैश्चाधिमुक्तिचादिभिर्यदुत[२] महायानधर्माधिमुक्तितः बोधिचित्तोत्पादतः। प्रणिधानमेव हि निधानमत्रोक्तम्, श्लोकबन्धानुरोधात्[३]। सत्त्वानुकम्पनतः। दुष्करचर्या दुःखक्षमणतः पारमितासमुदाचारतः। योनिशो धर्ममनसिकारतः। स ह्यविपर्ययस्तत्त्वाद् वस्त्वाभोगः। सम्यग्दृष्टितो दर्शनमार्गे। स हि यथाभूतावबोधाद् वस्त्ववबोधः। विमुक्तितः क्लेशविमोक्षाच्छ्रावकाणाम्। तथात्वतो महाबोधिप्राप्तेरिति ॥ १–५ ॥

अयं पूजायाः प्रकारभेदः॥

---

१. प्रयोजतात्–सि०। २. तथोक्तै०–सि०।
३. श्लोकवत्त्वानु०–सि०।

हेतुतः फलतश्चैव आत्मना च परैरपि ।
लाभसत्कारतश्चैव प्रतिपत्तेर्द्विधा च सा ।। ६ ।।
[SL. 119] परीत्ता महती पूजा समानाऽमानिका च सा ।
प्रयोगाद् गतितश्चैव प्रणिधानाच्च सा मता ।। ७ ।।

इत्ययमध्वादिभेदेनापरः[1] प्रकारभेदः । तत्रातीता हेतुः प्रत्युपन्ना फलम्, प्रत्युत्पन्ना हेतुरनागता फलमित्येवं हेतुफलतोऽतीतानागतप्रत्युपन्ना वेदितव्या । आत्मनेत्याध्यात्मिकी, परैरिति बाह्या । लाभसत्कारतो औदारिकी । प्रतिपत्तितः सूक्ष्मा ।। ६ ।।

परीत्ता हीना, महती प्रणीता । पुनः समाना हीना, निर्माना प्रणीता; त्रिमण्डलाविकल्पनात् । कालान्तरप्रयोज्या दूरे, तत्कालप्रयोज्याऽन्तिके । पुनर्विच्छिन्नायां गतौ दूरे, समनन्तरायामन्तिके । पुनर्यां पूजामायत्यां प्रयोजयितुं प्रणिदधाति सा दूरे, यां प्रणिहितः कर्तुं साऽन्तिके ।। ७ ।।

कतमा पुनर्बुद्धपूजा परमा वेदितव्या ? इत्याह—

बुद्धेषु पूजा परमा स्वचित्तात् धर्माधिमुक्त्याशयतो विभुत्वात् ।
अकल्पनोपायपरिग्रहेण सर्वैककार्यत्वनिवेशतश्च ।। १ ।।

—इत्येभिः पञ्चभिराकारैः स्वचित्तपूजा बुद्धेषु परमा वेदितव्या । यदुत पूजोपसंहितमहायानधर्माधिमुक्ततः । आशयतो नवभिराशयैः । आस्वादनानुमोदनाभिनन्दनाशयैः । अतृप्तविपुलमुदितोपकरनिर्लेपकल्याणाशयैश्च ये पारमिताभावनायां निर्दिष्टाः । विभुत्वतो गगनगञ्जादिसमाधिभिः । निर्विकल्पज्ञानोपायपरिग्रहतः । सर्वमहाबोधिसत्त्वैककार्यत्वप्रवेशतश्च, मिश्रोपमिश्रकार्यत्वात् ।। १ ।।

कल्याणमित्रसेवाविभागे सप्त श्लोकाः । तत्रार्धपञ्चमैः—

आश्रयाद् वस्तुतः सेवा निमित्तात् परिणामनात् ।
हेतुतो ज्ञानतः क्षेत्रान्निश्रयाच्च प्रदर्शिता ।। १ ।।

मित्रं श्रयेद्दान्तशमोपशान्तं गुणाधिकं सोद्यममागमाढ्यम् ।
प्रबुद्धतत्त्वं वचसाभ्युपेतं कृपात्मकं खेदविवर्जितं च ।। २ ।।

इत्येवं गुणमित्रं सेवाया आश्रयः । दान्तं शीलयोगादिन्द्रियदमेन । शान्तं समाधियोगादध्यात्मं चेतःशमथेन । उपशान्तं प्रज्ञायोगाद्[2] उपस्थितक्लेशोपशमनतः । गुणैरधिकं न समं वा न्यूनं वा । सोद्यमं नोदासीनं परार्थे ।

१. ०यमर्थादि०—सि० ।   २. प्रयोगाद्—सि०, प्रज्ञात्वाद्—मि० ।

आगमाढ्यं नाल्पश्रुतम् । प्रबुद्धतत्त्वं तत्त्वाधिगमनात् । वचसाभ्युपेतं वाक्करणेनोपेतम् । कृपात्मकं निरामिषचित्तत्वात् । खेदविवर्जितम् [SL 120] सातत्यसत्कृत्यधर्मदेशनात् ॥ १-२ ॥

सत्कारलाभैः परिचर्यया च सेवेत मित्रं प्रतिपत्तितश्च ।

इति सेवावस्तु[1] ।

धर्मे तथाज्ञाशय एव धीमान् मित्रं प्रगच्छेत् समये नतश्च ॥ ३ ॥

इति त्रिविधं निमित्तम्—आज्ञातुकामता, कालता, निर्मानिता च ॥ ३ ॥

सत्कारलाभेषु गतस्पृहोऽसौ प्रपत्तये तं परिणामयेच्च ।

इति परिणामना । प्रतिपत्त्यर्थसेवनान्न लभसत्कारार्थम् ।

यथानुशिष्टप्रतिपत्तितश्च संराधयेच्चित्तमतोऽस्य धीरः ॥ ४ ॥

इति यथानुशिष्टप्रतिपत्तिः सेवाहेतुः ; तया तच्चित्ताराधनात् ॥ ४ ॥

यानत्रये कौशलमेत्य बुद्धया स्वस्यैव यानस्य यतेत सिद्धौ ।

इति यानत्रकौशलात् ज्ञानम् ।

सत्त्वानमेयान् परिपाचनाय क्षेत्रस्य शुद्धस्य च साधनाय ॥ ५ ॥

इति द्विविधं क्षेत्रं तत्सेवायाः । अप्रमेयाश्च सत्त्वाः परिशुद्धं च बुद्धक्षेत्रम् । धर्मं श्रुत्वा येषु प्रतिष्ठापनात्, यत्र च स्थितेन ॥ ५ ॥

धर्मेषु दायादगुणेन युक्तो नैवामिषेण प्रवसेत् स मित्रम् ।

इति निश्रयः सेवायाः । धर्मदायादतां निश्रित्य कल्याणमित्रं सेवेत । नामिषदायादताम् ।

अत ऊर्ध्वमध्यर्धेन श्लोकेन प्रकारभेदः सेवाया वेदितव्यः—

हेतोः फलाद्धर्ममुखानुयानात् सेवेत मित्रं बहितश्च धीमान् ॥ ६ ॥

श्रुतश्रवाच्चेतसि योगतश्च समाननिर्मानिमनोऽनुयोगात् । [SL 121]

हेतोः फलादिति । अतीतादिभेदतः पूर्ववत् । धर्ममुखानुयानात्सेवेत मित्रं बहितश्च धीमानिति । आध्यात्मिकबाह्यभेदः । धर्ममुखस्रोतो हि धर्ममुखानुयानम् । बहिर्धा बहितः । श्रुतश्रवाच्चेतसि योगतश्चेति । औदारिकसूक्ष्मभेदः । श्रवणं ह्यौदारिकं चिन्तनभावनं सूक्ष्मम् । तदेव चेतसि योगः । समाननिर्मानिमनोऽनुयोगादिति । हीनप्रणीतभेदः ।

गतिप्रयोगप्रणिधानतश्च कल्याणमित्रं हि भजेत श्रीमान् ॥ ७ ॥

इति दूरान्तिकभेदः पूर्ववद् योजयितव्यः ॥ ७ ॥

---

[1] सेवायास्तु—सि० ।

कतमा पुनः परमा सा ? इति सप्तमः श्लोकः—

सन्मित्रसेवा परमा स्वचित्ताद्धर्माधिमुक्त्याशयतो विभुत्वैः।
अकल्पनोपायपरिग्रहेण सर्वैककार्यत्वनिवेशतश्च ॥ ८ ॥

इति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

अप्रमाणविभागे द्वादश श्लोकाः—

ब्राह्म्या विपक्षहीना ज्ञानेन गताश्च निर्विकल्पेन।
त्रिविधालम्बनवृत्ताः सत्त्वानां पाचका धीरे ॥ १ ॥

ब्राह्म्या विहाराश्चत्वार्यप्रमाणानि—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा च। ते पुनर्बोधिसत्त्वे चतुर्लक्षणा वेदितव्याः—१. विपक्षहानितः, २. प्रतिपक्षविशेषयोगतः, ३. वृत्तिविशेषतः, त्रिविधालम्बनवृत्तित्वात्। तथा हि ते सत्त्वालम्बना धर्मालम्बना[१] अनालम्बनाश्च। ४. कर्मविशेषतश्च। सत्त्वपरिपाचकत्वात्, सत्त्वधर्मालम्बनात् ॥ १ ॥

पुनः कतमस्मिन् सत्त्वनिकाये धर्मे वा प्रवर्तन्ते ? अनाल्म्बनाश्च कतमस्मिन्नालम्बने ?

सौख्यार्थिनि दुःखार्ते सुखिते क्लिष्टे च ते प्रवर्तन्ते।
तद्देशिते च धर्मे तत्तथतायां च धीराणाम् ॥ २ ॥

सत्त्वालम्बनाः सुखार्थिनि यावत् क्लिष्टे प्रवर्तन्ते। तथा हि मैत्री सत्त्वेषु सुखसंयोगाकारा, करुणा दुःखवियोगाकारा, मुदिता सुखवियोगाकारा। उपेक्षासु वेदनासु तेषां सत्त्वानां निःक्लेशतोपसंहाराकारा। धर्मालम्बनास्तद्देशिते धर्मे। यत्र ते विहारा देशिताः। अनालम्बनास्तत्तथतायाम्। ते ह्यविकल्पत्वादनालम्बना इवेत्यनालम्बनाः ॥ २ ॥

अपि खलु—

तस्याश्च तथतार्थत्वात् क्षान्तिलाभाद्विशुद्धितः।
कर्मद्वयादनालम्बा मैत्री क्लेशक्षयादपि ॥ ३ ॥

[SL. 122] एभिश्चतुर्भिः कारणैरनालम्बना मैत्री वेदितव्या—१. तथतालम्बनत्वात्, २. अनुत्पत्तिकधर्मक्षान्तिलाभेनाष्टम्यां भूमौ, ३ धातुपुष्ट्या तद्विशुद्धितः, ४. कर्मद्वयतश्च। या मैत्री निष्पन्देन कायवाक्कर्मणा[२] च संगृहीता। क्लेशक्षयतश्च। तथा हि क्लेश आलम्बनमुक्तम्। "मनोमयानां ग्रन्थानां प्रहाणादुच्छिद्यते आलम्बनम्" इति वचनात् ॥ ३ ॥

ते निश्चलाश्च चलाश्च कृपणैरास्वादिता न च ज्ञेयाः।

१. धर्मालम्बनाश्च—सि०। २. कायकर्मणा—सि०।

ते च ब्राह्मया विहाराश्चतुर्विधा वेदितव्याः। अत्र चला हानभागीयाः; परिहाणीयत्वात्। अचलाः स्थितिविशेषभागीयाः, अपरिहाणीयत्वात्। आस्वादिताः क्लिष्टाः। अनास्वादिता अक्लिष्टाः। कृपणैरिति। सुखलोलैरनुदारचित्तैः। एष ब्राह्मयविहाराणां हानभागीयादिप्रकाभेदः। तेषु पुनः—

अचलेषु बोधिसत्त्वाः प्रतिष्ठिताः सक्तिविगतेषु ॥ ४ ॥

न चलेषु, नाप्यास्वादितेषु ॥ ४ ॥

असमाहितस्वभावा मृदुमध्या हीनभूमिका येऽपि ।
हीनाशयाः समाना हीनास्ते ह्यन्यथा त्वधिकाः ॥ ५ ॥

एष मृद्वधिमात्रताभेदः। तत्र षड्विधा मृदुका असमाहितस्वभावाः। सर्वे समाहिता अपि, ये मृदुमध्याः। हीनभूमिका येऽपि उत्तरां बोधिसत्त्वभूमिमपेक्ष्य हीनाशया अपि। श्रावकादीनां समाना अपि, येऽनुत्पत्तिकधर्मक्षान्तिरहिता हीनास्ते मृदुका इत्यर्थः। अन्यथा त्वधिका इति। यथोक्तविपर्ययेणाधिमात्रता वेदितव्या ॥ ५ ॥

ब्राह्मचैर्विहृतविहारः कामिषु सञ्जायते यदा धीमान् ।
सम्भारान् पूरयते सत्त्वांश्च विपाचयति तेन ॥ ६ ॥
सर्वत्र चाविरहितो ब्राह्मचै रहितश्च तद्विपक्षेण ।
तत्प्रत्ययैरपि भृशैर्न याति विकृतिं प्रमत्तोऽपि ॥ ७ ॥

हेतु-फल-लिङ्गभेदः। तत्र ब्राह्मचैर्विहृतो विहारैरिति हेतुः। कामिषु सत्त्वेषु सञ्जायत इति विपाकफलम्। सम्भारान् पूरयत्यधिपतिफलम् [SL123] सत्त्वान् परिपाचयतीति पुरुषकारफलम्। सर्वत्र चाविरहितो ब्राह्मचैर्विहारैर्जायत इति निष्यन्दफलम्। रहितश्च तद्विपक्षेणेति विसयोगफलम्। भृशैरपि तत्प्रत्ययैरविकृतिगमनं लिङ्गम्। प्रमत्तोऽपि इति। असम्मुखीभूतेऽपि प्रतिपक्षे।

अन्यैश्चतुर्भिः श्लोकैर्गुणदोषभेदः—

व्यापादविहिंसाभ्यामरतिव्यापादकामरागैश्च ।
युक्तो हि बोधिसत्त्वो बहुविधमादीनवं स्पृशति ॥ ८ ॥

इति दोषः। ब्राह्मचविहाराभावे तद्विपक्षयोगाद्। तत्र व्यापादादयो मैत्र्यादीनां यथाक्रमं विपक्षाः। व्यापादकामरागावुपेक्षायाः ॥ ८ ॥

कथं बहुविधादीनवं स्पृशति ? इत्याह—

क्लेशैर्हन्त्यात्मानं सत्त्वानुपहन्ति शीलमुपहन्ति ।
सविलेखलाभहीनो रक्षाहीनस्तथा शास्ता[1] ॥ ९ ॥

---

१. शास्त्रा–सि०।

साधिकरणोऽयशस्वी परत्र सञ्जायतेऽक्षणेषु स च।
प्राप्ताप्राप्तविहीनो मनसि महद् दुःखमाप्नोति ॥ १० ॥

तत्र प्रथमैस्त्रिभिः पदैरात्मव्याबाधाय चेतयते परव्याबाधायोभयव्याबाधायेत्येतमादीनवं दर्शयति। सविलेखादिभिः षड्भिः पदैर्दृष्टधार्मिकमवद्यं प्रसवतीति दर्शयति। कथं च प्रसवति? आत्मास्यापवदते। परेऽपि देवता अपि। शास्ताप्यन्येऽपि विज्ञाः सब्रह्मचारिणो धर्मतया विगर्हन्ते। दिग्विदिक्षु चास्य पापकोऽवर्णशब्दश्लोको निश्चरतीत्येवं सविलेखो यावद यशस्वीत्यनेन यथाक्रमं दर्शयति। शेषैस्त्रिभिः पदैर्यथाक्रमं साम्परायिकं दृष्टधर्मसाम्परायिकमवद्यं प्रसवति। तज्जं चैतसिकं दुःखं दौर्मनस्यं[1] प्रतिसंवेदयत इत्येतमादीनवं दर्शयति ॥ ९-१० ॥

एते सर्वे दोषा मैत्र्यादिषु सुस्थितस्य न भवन्ति।
अक्लिष्टः संसारं सत्त्वार्थं नो च सन्त्यजति ॥ ११ ॥ इति।

ब्राह्मविहारयोगे द्विविधं[2] गुणं दर्शयति—यथोक्तदोषाभावम्, अक्लिष्टस्य सत्त्वहेतोः संसारापरित्यागम् ॥ ११ ॥

न तथैकपुत्रकेष्वपि गुणवत्स्वपि भवति सर्वसत्त्वानाम्।
मैत्र्यादिचेतनेयं सत्त्वेषु यथा जिनसुतानाम् ॥ १२ ॥

[SL 124] इत्येतेन[3] च बोधिसत्त्वमैत्र्यादीनां तीव्रतां दर्शयति ॥ १२ ॥

करुणाविभागे तदालम्बनप्रभेदमारभ्य द्वौ श्लोकौ—

प्रदीप्तान् शत्रुवशगान् दुःखाक्रान्तांस्तमोवृतान्।
दुर्गमार्गसमारूढान् महाबन्धनसंयुतान् ॥ १ ॥
महाशनविषाक्रान्तलोलान् मार्गप्रणष्टकान्।
उत्पथप्रस्थितान् सत्त्वान् दुबलान् करुणायते ॥ २ ॥

तत्र १ प्रदीप्ताः कामरागेण कामसुखभक्ताः; २. शत्रुवशगाः, मारकृतान्तरायाः कुशलेऽप्रयुक्ताः; ३. दुःखाक्रान्ताः, दुःखाभिभूता[4] नरकादिषु; ४. तमोवृताः, औरभ्रिकादयो दुश्चरितैकान्तिकाः, कर्मविपाकसम्मूढत्वात्; ५ दुर्गमार्गसमारूढा अपरिनिर्वाणधर्माणः, संसारवर्त्मात्यन्तानुपच्छेदात्। ६. महाबन्धनसंयुता अन्यतीर्थ्यमोक्षसम्प्रस्थिता[5] नानाकुदृष्टिगाढबन्धनबद्धत्वात् ॥ १ ॥

---

१. दुःखदौर्मनस्यं–सि०। २. त्रिविधं–सि०।
३. इत्येते–सि०। ४. दुःखाभूता–सि०।
५. ०तीर्थ्याः–सि०।

७. महाशनविषाक्रान्तलोलाः, समापत्तिसुखसक्ताः । तेषां हि तत् विलष्टं समापत्तिसुखम् । यथा मृष्टमशनं विषाक्रान्तम्; ततः प्रच्यावनात् । ८. मार्गप्रणष्टकाः, आभिमानिका मोक्षमार्गभ्रान्तत्वात् । ९. उत्पथप्रस्थिता हीनयानप्रयुक्ता अनियताः । १० दुर्बला अपरिपूर्णसम्भारा बोधिसत्त्वाः । इत्येते दशविधाः सत्त्वा बोधिसत्त्वकरुणाया आलम्बनम् ।। २ ।।

पञ्चफलं दर्शते करुणायाः श्लोकः—

हेठापहं ह्युत्तमबोधिबीजं सुखावहं तापकमिष्टहेतुम्[1] ।
स्वभावदं धर्ममुपाश्रितस्य बोधिर्न दूरेऽस्ति जिनात्मजस्य ।। १ ।।

ततः हेठापहत्वेन तद्विपक्षविहिंसाप्रहाणाद्विसंयोगफलं दर्शयति । उत्तमबोधिबीजत्वेनाधिपतिफलम् । परात्मनोर्यथाक्रमं सुखावहतापकत्वेन[2] पुरुषकारफलम् । इष्टहेतुत्वेन विपाकफलम् । स्वभावदत्वेन निष्यन्दफलमायत्यां विशिष्टकरुणाफलदानात् । एवं पञ्चविधां करुणामाश्रित्य बुद्धत्वमदूरे वेदितव्यम् ।। १ ।।

अप्रतिष्ठितसंसारनिर्वाणत्वे श्लोकः—

विज्ञाय संसारगतं समग्रं दुःखात्मकं चैव निरात्मकं च ।
नोद्वेगमायाति न चापि दोषैः प्रबाध्यते कारुणिकोऽग्रबुद्धिः ।। १ ।।

सर्वं संसार यथाभूतं परिज्ञाय बोधिसत्त्वो नोद्वेगमायाति; [SL. 125] कारुणिकत्वात् । न दोषैर्बाध्यते; अग्रबुद्धित्वात् । एवं निर्वाणे प्रतिष्ठितो भवति, न संसारे यथाक्रमम् ।। १ ।।

संसारपरिज्ञाने श्लोकः—

दुःखात्मकं लोकमवेक्षमाणो दुःखायते वेत्ति च तद्यथावत् ।
तस्याभ्युपायं परिवर्जने च न खेदमायात्यपि वा कृपालुः ।।३३।।

दुःखायत इति । करुणायते । वेत्ति च तद्यथावदिति । दुःखं यथाभूतं तस्य च दुःखस्य परिवर्जनेऽभ्युपाय वेत्ति, येनास्य दुःखं निरुध्यते । एतेन जानन्नपि संसारदुःखं यथाभूतं तत्परित्यागोपायं च न खेदमापद्यते बोधिसत्त्वः; करुणाविशेषादिति प्रदर्शयति ।। १ ।।

करुणाप्रभेदे द्वौ श्लोकौ—

कृपा प्रकृत्या प्रतिसंख्यया च पूर्वं तदभ्यासविधानयोगात् ।
विपक्षहीना च विशुद्धिलाभात् चतुर्विधेयं करुणात्मकानाम् ।। १ ।।

सेयं यथाक्रमं गोत्रविशेषतः, गुणदोषपरीक्षणतः, जन्मान्तरपरिभावनतः,

---

१. तायक०–सि० ।
२. ०तायकत्वेन–सि० ।

वैराग्यलाभतश्च वेदितव्या। तद्विपक्षविहिंसाप्रहाणे सति विशुद्धिलाभत इति वैराग्यलाभतः ॥ १ ॥

न सा कृपा या न समा सदा वा नाध्याशयाद्वा प्रतिपत्तितो वा।
वैराग्यतो नानुपलम्भतो वा न बोधिसत्त्वो ह्यकृपस्तथा यः ॥ २ ॥

तत्र समा सुखितादिषु यत्किञ्चिद्वेदितमिदमत्र दुःखस्येति विदित्वा, सदा निरुपधिशेषनिर्वाणे तदक्षयात्। अध्याशयाद् भूमिप्रविष्टानामात्मपरसमताशयलाभात्। प्रतिपत्तितः, दुःखपरित्राणक्रियया। वैराग्यतः, तद्विपक्षविहिंसाप्रहाणात्। अनुपलम्भतः, अनुत्पत्तिधर्मक्षान्तिलाभात् ॥ २ ॥

करुणावृक्षप्रतिबिम्बके पञ्च श्लोकाः—

करुणा क्षान्तिश्चिन्ता प्रणिधानं जन्मसत्त्वपरिपाकः।
करुणातरुरेष महान् मूलादिः पश्चिमाग्रफलः[1] ॥ १ ॥

इत्येष मूलस्कन्धशाखापत्रपुष्पफलावस्थः करुणावृक्षो वेदितव्यः। एतस्य करुणा मूलम्। क्षान्तिः स्कन्धः। सत्त्वार्थचिन्ता शाखा। प्रणिधानं शोभनेषु जन्मसु पत्राणि। शोभन जन्म पुष्पम्। सत्त्वपरिपाकः फलम् ॥ १ ॥

मूलं करुणा न भवेद् दुष्करचर्यासहिष्णुता न भवेत्।
दुःखाक्षमश्च धीमान् सत्त्वार्थं चिन्तयेन्नैव ॥ २ ॥
[SL 126] चिन्ताविहीनबुद्धिः प्रणिधान शुक्लजन्मसु न कुर्यात्।
शुभजन्माननुगच्छन् सत्त्वान् परिपाचयेन्नैव ॥ ३ ॥

आभ्यां श्लोकाभ्यां पूर्वोत्तरप्रसवसाधर्म्यात् करुणादीनां मूलादिभावं साधयति ॥ २-३ ॥

करुणासेको मैत्री तद्दुःखे सौख्यतो विपुलपुष्टिः।
शाखावृद्धिविशदा योनिमनस्कारतो ज्ञेया ॥ ४ ॥
पर्णत्यागादानं प्रणिधीनां सन्ततेरनुच्छेदात्।
द्विविधप्रत्ययसिद्धेः पुष्पमबन्ध्यं फलं चास्मात् ॥ ५ ॥

एताभ्यां श्लोकाभ्यां वृक्षमूलसेकादिसाधर्म्यं करुणावृक्षस्य दर्शयति। मैत्रचित्तो करुणा हि मूलयुक्ता[2], तस्याः सेको मैत्री तया तदाप्यायनात्। मैत्रचित्तो हि परदुःखेन दुःखायते। ततश्च करुणाता[3] यद्[3] दुःखमुत्पद्यते बोधिसत्त्वस्य सत्त्वार्थप्रयुक्तस्य[4] तत्र सौख्योत्पादाद् विपुलपुष्टिः क्षान्तिपुष्टिरित्यर्थः। सा हि स्कन्ध इत्युक्ता। स्कन्धश्च विपुलः। योनिशोमनस्काराद् बहुविधा महायाने

---

१. पुष्पपत्रफलः–सि०। पश्चिमान्तफलः–इत्यपि पाठः। २. मूलवृक्षा–सि०।
३-३. करुणोद्भव–सि०। ४. स्वार्थ० सि०।

शाखावृद्धिः । चिन्ता हि शाखेत्युक्ता । पूर्वापरनिरोधोत्पादक्रमेण प्रणिधान-सन्तानस्यानुच्छेदात् । पर्णत्यागादानसाधर्म्यं प्रणिधानानां वेदितव्यम् । आध्यात्मिकप्रत्ययसिद्धितः स्वसन्तानपरिपाकात् पुष्पमिव जन्माबन्ध्यं वेदितव्यम् । बाह्यप्रत्ययसिद्धितः परसन्तानपरिपाकात् फलभूतः सत्त्वपरिपाकोऽबन्ध्यो वेदितव्यः ॥ ४–५ ॥

करुणानुशंसे श्लोकः—

क: कुर्वीत न करुणां सत्त्वेषु महाकृपागुणकरेषु ।
दुःखेऽपि सौख्यमतुलं भवति यदेषां कृपाजनितम् ॥ १ ॥

अत्र महाकरुणागुण उत्तरार्धेन सन्दर्शितः । शेषो गतार्थः ॥१॥

करुणानिःसङ्गतायां श्लोकः—

आविष्टानां कृपया न तिष्ठति मनः शमे कृपालूनाम् ।
कुत एव लोकसौख्ये स्वजीविते वा भवेत् स्नेहः ॥ १ ॥

सर्वस्य हि लोकस्य लौकिके सौख्ये स्वजीविते च स्नेहः । तत्रापि च निःस्नेहानां श्रावकप्रत्येकबुद्धानां सर्वदुःखोपशमे निर्वाणे प्रतिष्ठितं मनः । बोधिसत्त्वानां तु करुणाविष्टत्वान्निर्वाणेऽपि मनो न प्रतिष्ठितम्, [SL 127] कुत एव तयोः स्नेहो भविष्यति ! ॥ १ ॥

करुणास्नेहवैशेष्ये त्रयः श्लोकाः—

स्नेहो न विद्यतेऽसौ यो निरवद्यो न लौकिको यश्च ।
धीमत्सु कृपास्नेहो निरवद्यो लोकसमतीतः ॥ १ ॥

मातापितृप्रभृतीनां हि तृष्णामयः स्नेहः सावद्यः । लौकिककरुणाविहारिणां निरवद्योऽपि लौकिकः । बोधिसत्त्वानां तु करुणामयः । स्नेहो निरवद्यश्च लौकिकातिक्रान्तश्च ॥ १ ॥

कथं च पुनर्निरवद्यः ? इत्याह—

दुःखाज्ञानमहौघे महान्धकारे च निश्रितं लोकम् ।
उद्धर्तुं य उपायः कथमिव न स्यात् स निरवद्यः ॥ २ ॥

दुःखमहौघ अज्ञानमहान्धकारे चेति योज्यम् । शेषं गतार्थम् ॥ २ ॥

कथं लोकातिक्रान्तः ? इत्याह—

स्नेहो न सोऽस्त्यरिहतां[१] लोके प्रत्येकबोधिबुद्धानाम् ।
प्रागेव तदन्येषां कथमिव लोकोत्तरो न स्यात् ॥ ३ ॥

प्रत्येकां बोधिं बुद्धाः । शेषं गतार्थम् ॥ ३ ॥

---

१. अरिहताम्=अर्हताम् ।

त्रासाभिनन्दननिमित्तत्वे श्लोकः—

दुःखाभावे दुःखं यत्कृपया भवति बोधिसत्त्वानाम्।
सन्त्रासयति तदादौ स्पृष्टं त्वभिनन्दयति गाढम् ॥ १ ॥

दुःखाभावे इति। दुःखाभावो निमित्तम्। सत्त्वेषु करुणया बोधिसत्त्वानां यद् दुखमुत्पद्यते सन्त्रासयति अधिमुक्तिचर्याभूमौ। आत्मपरसमतया दुखस्य यथाभूतम्; अस्पृष्टत्वात्। स्पृष्टं तु शुद्धाध्याशयभूमावभिनन्दयत्येवेत्यर्थः ॥ १ ॥

करुणादुःखेन सुखाभिभवे श्लोकः—

किमतः परमाश्चर्यं यद् दुःखं सौख्यमभिभवति सर्वम्।
कृपया जनितं सौख्यं येन विमुक्तो अपि कृतार्थः ॥ १ ॥

[SL. 128] नास्त्यत आश्चर्यतरं यद् दुःखमेव करुणाजनितं बोधिसत्त्वानां तथा सुखं भवति। यत्सर्वं लौकिकं सुखमभिभवति। येन सुखेन विमुक्ता अर्हन्तोऽपि कृतार्थाः, प्रागेवान्ये ॥ १ ॥

कृपाकृतदानानुशंसे श्लोकः—

कृपया सहितं दानं यद् दानसुखं करोति धीराणाम्।
त्रैधातुकमुपभोगैर्न तत् सुखं तत्कलां स्पृशति ॥ १ ॥

यच्च त्रैधातुकं सुखमुपभोगैः कृतं न तत्सुखं तस्य सुखस्य कलां स्पृशतीत्ययमुत्तरार्धस्यार्थः। शेषं गतार्थम् ॥ १ ॥

कृपया दुःखाभ्युपगमे श्लोकः—

दुःखमयं संसारं न त्यजति सत्त्वार्थम्।
परहितहेतोर्दुःखं किं कारुणिकैर्न समुपेतम् ॥ १ ॥

सर्वं हि दुःखं संसारदुःखेऽन्तर्भूतम्। तस्याभ्युपगमात् सर्वं दुःखमभ्युपगतं भवति ॥ १ ॥

तत्र तत्फलवृद्धौ श्लोकः—

करुणा दानं भोगाः सदा कृपालोर्विवृद्धिमुपयान्ति।
स्नेहानुग्रहजनितं तच्छवितक्कृतं सुखं चास्मात् ॥ १ ॥

त्रयं बोधिसत्त्वानां सर्वजन्मसु वर्धते करुणायोगात्— करुणा तदभ्यासात्, दानं करुणावशात्, भोगाश्च दानवशात्। तस्माच्च त्रयात् फलं त्रिविधं सुखं भवति—स्नेहजनितं करुणातः, सत्त्वानुग्रहजनितं दानात्, तदनुग्रहक्रियाशक्तिकृत भोगेभ्यः ॥ १ ॥

दानप्रोत्साहनायां श्लोकः—

वर्धे च वर्धयामि च दाने परिपाचयामि सुखयामि।
आकर्षामि नयामि च करुणा सन्नान् प्रवदतीव ॥ १ ॥

दाने सन्नानिति सम्बन्धनीयम्। षड्भिर्गुणैर्दानेऽवसन्नान् बोधिसत्त्वान् करुणा प्रोत्सहयतीव—स्वभाववृद्धया, भोगैस्तद्वर्धनया, दानेन सत्त्वपरिपाचनया; दातुश्च सुखोत्पादनात्, महाबोधिसम्भारस्यान्यस्याकर्षणात्, महाबोधिसमीपनयनाच्च ॥ १ ॥

परसौख्येन सुखानुभवे श्लोकः—

दुःखे दुःखी कृपया सुखान्यनाधाय केन सुखितः स्यात्!
सुखयत्यात्मानमतः कृपालुराधाय परसौख्यम् ॥ १ ॥

करुणया बोधिसत्त्वः परदुःखैर्दुःखितः सत्वेष्वनाधाय [SL 129] सुखं कथं सुखितः स्यात्! तस्मात् परेषु सुखमाधाय बोधिसत्त्व आत्मानमेव सुखयतीति वेदितव्यम् ॥ १ ॥

कृपया दानसमनुशास्तौ षट् श्लोकाः—

स्वं दानं कारुणिकः शास्तीव सदैव निःस्वसुखकामः।
भोगैः सुखय परं वा मामप्ययुतसौख्यम् ॥ १ ॥

न हि कारुणिकस्य विना परसुखेनास्ति सुखम्। तस्यायुतसौख्यत्वाद् बोधिसत्त्वस्तेन विनाऽऽत्मनो दानस्य फलं सुखं नेच्छति ॥ १ ॥

सफलं दानं दत्तं तन्मे सत्त्वेषु तत्सुखसुखेन।
फल तेष्वेव निकामं यदि मे कर्तव्यता तेऽस्ति ॥ २ ॥

दानं ददता दानं च दानफलं च तन्मया सत्त्वेषु दत्तम्। तत्सुखमेव मे सुखं यस्मात्। अतस्तेष्वेव यावत्फलितव्यं तावत्फलेति लोट् ॥ २ ॥

बोधिसत्त्वः करुणया दानमनुशास्ति—

भोगद्वेष्टुर्दातुर्भोगा बहुशुभतरोपसर्पन्ति।
न हि तत्सुखं मतं मे दाने पारम्परोऽस्मि यतः ॥ ३ ॥

भोगविमुखस्य दातुर्भोगा बहुतराश्चोपतिष्ठन्ते, शोभनतराश्च। धर्मतैवेयं चित्तस्योदारतरत्वात्। न हि तत्सुखं मतं मे यद् भोगास्तथोपतिष्ठन्ते। यस्मादहं दाने पारम्परस्तत्प्रबन्धकामत्वान्न सुखे ॥ ३ ॥

सर्वास्तिपरित्यागे यत्कृपया मां निरीक्षसे सततम्।
ननु ते तेन ज्ञेयं न मत्फलेनार्थिताऽस्येति ॥ ४ ॥

योऽहं दानफलं सर्वमेव करुणया नित्यं परित्यजामि नन्वत एव वेदितव्यं नास्ति मे दानफलेनार्थित्वमिति बोधिसत्त्वो दानं समनुशास्ति ॥४॥

दानाभिरतो न स्यां प्राप्तं चेत् तत्फलं न विसृजेयम्।

तथा हि—

क्षणमपि दानेन विना दानाभिरतो भवति नैव ॥ ५ ॥ इति।

गतार्थः श्लोकः ॥ ५ ॥

अकृतं न फलति यस्मात् प्रतिकारापेक्षया न मे तुल्यम् ।

[SL. 130] यत्त्वं[1] करोषि तस्य त्वं फलसि । तस्मात्त्वं प्रतिकारापेक्षया न मत्तुल्यम् ।

तथा ह्यहम्—

प्रतिकारनिर्व्यपेक्षः परत्र फलदोऽस्य कामं ते ॥ ६ ॥ इति ॥

गतार्थमेतत् ॥ ६ ॥

कृपादाने द्वौ श्लोकौ—

निरवद्यं शुद्धपदं हितावहं चैव सानुरक्षं च ।
निर्मृग्यं निर्लेपं जिनात्मजानां कृपादानम् ॥ १ ॥

तत्र निरवद्यम् परमनुपहत्य दानात् । शुद्धपदं कल्पिकवस्तुदानात्[2] । विषशस्त्रमद्यादिविवर्जनतः हितावहं दानेन संगृह्य कुशले नियोजनात् । सानुरक्षं परिजनस्याविघातं कृत्वा अन्यस्मै दानात् । निर्मृग्यमयाचमानेऽप्यर्थित्वं विघातं वाऽवगम्य स्वयमेव दानात्, दक्षिणीयापरिमार्गणाच्च । निर्लेपं प्रतिकारविपाकनिःस्पृहत्वात् ॥ १ ॥

अपरः प्रकारः—

सकलं विपुलं श्रेष्ठं सततं मुदितं निरामिषं शुद्धम् ।
बोधिनतं कुशलनतं जिनात्मजानां कृपादानम् ॥ २ ॥

तत्र सकलमाध्यात्मिकबाह्यवस्तुदानात् । विपुलं प्रभूतवस्तुदानात् । श्रेष्ठं प्रणीतवस्तुदानात् । सततमभीक्ष्णदानात् । मुदितमप्रतिसंख्याय प्रहृष्टदानात् । निरामिषं यथा निर्लेपम् । शुद्धं यथा शुद्धपदम् । बोधिनतं महाबोधिपरिणामनात् । कुशलनतं यथा हितावहम् ॥ २ ॥

उपभोगविशेषे श्लोकः—

न तथोपभोगतुष्टिं लभते भोगी यथा परित्यागात् ।
तुष्टिमुपैति कृपालुः सुखत्रयाप्यायितमनस्कः ॥ १ ॥

तत्र सुखत्रयम्–दानप्रीतिः, परानुग्रहप्रीतिः, बोधिसम्भारसम्भरणप्रीतिश्च । शेषं गतार्थम् ॥ १ ॥

पारमिताभिनिर्हारकरुणायां श्लोकः—

कृपणकृपा रौद्रकृपा संक्षुब्धकृपा कृपा प्रमत्तेषु ।
विषयपरतन्त्रकरुणा मिथ्याभिनिविष्टकरुणा च ॥ १ ॥

---

१. यस्त्वा करोति–मि० । २. ०वसुदानात्–सि० ।

तत्र कृपणा मत्सरिणः। रौद्रा दुःशीलाः परोपतापिनः। [SL 131] संक्षुब्धाः क्रोधनाः। प्रमत्ताः कुशीदाः। विषयपरतन्त्राः कामेषु विक्षिप्तचित्ताः। मिथ्याभिनिविष्टाः दुःप्रज्ञाः तीर्थिकादयः। एषु पारमिताविपक्षधर्मात्रस्थितेषु या करुणा सा कृपणादिकरुणा। सा च तद्विपक्षविदूषणात् पारमिताभिनिर्हाराय सम्पद्यते। तस्मात् पारमिताभिनिर्हारिकरुणेत्युच्यते ॥१॥

करुणाप्रत्ययसन्दर्शने श्लोकः—

करुणा बोधिसत्त्वानां सुखाद् दुःखात् तदन्वयात्।
करुणा बोधिसत्त्वानां हेतोर्मित्रात् स्वभावतः ॥ १ ॥

तत्र पूर्वार्धेनालम्बनप्रत्ययं करुणायाः सन्दर्शयति। त्रिविधां वेदनामालम्ब्य तिसृभिर्दुःखताभिः करुणायनात्। अदुःखासुखा हि वेदना सुखदुःखयोरन्वयः; पुनस्तदावाहनात्। उत्तरार्धेन यथाक्रमं हेतुमित्रस्वभावैः करुणाया हेत्वधिपतिसमनन्तरप्रत्ययान् सन्दर्शयति ॥ १ ॥

महाकरुणत्वे श्लोकाः—

करुणा बोधिसत्त्वानां समा ज्ञेया तदाशयात्।
प्रतिपत्तेर्विरागाच्च नोपलम्भाद् विशुद्धितः ॥ १ ॥

तत्र समा त्रिविधवेदनावस्थेषु यत्किञ्चिद्वेदितमिदमत्र दुःखस्येति विदित्वा। सा पुनराशयतोऽपि चित्तेन करुणायनात्। प्रतिपत्तितोऽपि तत्परित्राणात्। विरागतोऽपि तद्विपक्षविहिंसाप्रहाणात्। अनुपलम्भतोऽपि आत्मपरकरुणानुपलम्भात्। विशुद्धितोऽप्यष्टम्यां भूमावनुत्पत्तिकधर्मक्षान्तिलाभात् ॥ १ ॥

मैत्रादिभावनाग्रा स्वचित्ततो धर्मतोऽधिमोक्षाच्च।
आशयतोऽपि विभुत्वादविकल्पादैक्यतश्चापि ॥ २ ॥ इति।

पूर्वनिर्देशानुसारेणार्थोऽनुगन्तव्यः ॥ २ ॥

इति भगवति जातसुप्रसादो महदुपधिध्रुवसत्क्रियाभिपूजी।
बहुगुणहितमित्रनित्यसेवो जगदनुकम्पक एति सर्वसिद्धिम् ॥ ३ ॥

एतेन यथोक्तानां पूजासेवाऽप्रमाणानामनुक्रमं गुणं च समासेन सन्दर्शयति। महोपधिभिर्ध्रुवं सत्क्रियया[1] चात्यर्थं पूजनान्महदुपधिध्रुवसत्क्रियाभिपूजी वेदितव्यः। सत्क्रिया पुनः सम्यक्प्रतिपत्तिर्वेदितव्या। एवं लाभसत्कारप्रतिपत्तिपूजी भवति। बहुगुणं मित्रं तदन्यैर्गुणैः। हित- [SL 132] मनुकम्पकत्वेन वेदितव्यम्। एति सर्वसिद्धिमिति। स्वपरार्थसिद्धिं प्राप्नोति ॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे सप्तदशः पूजासेवाऽप्रमाणाधिकारः ॥

१. सत्क्रिया- सि०।

१८

अष्टादशो बोधिपक्षाधिकारः

लज्जाविभागे षोडश श्लोकाः—

लज्जा विपक्षहीना ज्ञानेन गता च निर्विकल्पेन।
हीनानवद्यविषया सत्त्वानां पाचिका धीरे ॥ १ ॥

एतेन स्वभावसहायालम्बनकर्मसम्पदा चतुर्विधं लक्षणं बोधिसत्त्वलज्जायाः सन्दर्शितम्। हीनानवद्यविषया। श्रावकप्रत्येकबुद्धानाम् यानम्[1] तद्धि[2] हीनं[2] च महायानादनवद्यम् च। तेन च बोधिसत्त्वो लज्जते। कथम् ? सत्त्वानां पाचिका; तस्यामेव लज्जायां[3] परप्रस्थापनात् ॥ १ ॥

षण्णाम् पारमितानाम् विपक्षे वृद्ध्या बोधिसत्त्वानाम्।
प्रतिपक्षे हानितश्चाप्यतीव सम्भवते लज्जा ॥ २ ॥

इयं बोधिसत्त्वानाम् वृद्ध्या परिहानितश्च लज्जा पारमिताविपक्षवृद्ध्या तत्प्रतिपक्षपरिहाण्या चात्यर्थं लज्जोत्पादनात् ॥२॥

षण्णां पारमितानां निषेवणाऽऽलस्यतो भवति लज्जा।
क्लेशानुकूलधर्मप्रयोगतश्चैव धीराणाम् ॥ ३ ॥

इयमप्रयोगलज्जा पारमिताभावनायामप्रयोगेण। क्लेशानुकूलेषु धर्मेष्विन्द्रियागुप्तद्वारत्वादिषु च प्रयोगेण लज्जोत्पादनात् ॥ ३ ॥

असमाहितस्वभावा मृदुमध्या हीनभूमिका लज्जा।
हीनाशया समाना हीना हि तदन्यथा त्वधिका ॥ ४ ॥

इयम् मृद्वधिमात्रा लज्जा। पूर्वनिर्देशानुसारेणास्य श्लोकस्यार्थोऽनुगन्तव्यः ॥ ४ ॥

अतः परम्, चतुर्भिस्त्रिभिश्च श्लोकैर्यथाक्रमं लज्जाविपक्षे लज्जायाम् च दोषगुणभेदं दर्शयति—

लज्जारहितो धीमान् क्लेशानधिवासयत्ययोनिशतः।
प्रतिघोपेक्षामानः सत्त्वानुपहन्ति शीलं च ॥ ५ ॥ इति ॥

[SL 133] अत्र आत्मव्याबाधाय चेतयते, परव्याबाधायोभयव्याबाधाय चेति सन्दर्शितम्। अयोनिशत इति। अयोनिशो मनस्कारेण। कथमुपेक्षया सत्त्वानुपहन्ति ? सत्त्वार्थप्रमादतः।

---

१. सि० पुस्तके नास्ति। २. तद्विहीनं–सि०। ३. लज्जा–सि०।

कौकृत्यात् सविलेखो भवति स सम्मानहानिमाप्नोति ।
श्राद्धान्मानुषसङ्घाच्छास्त्रा[1] चोपेक्ष्यते तस्मात् ॥ ६ ॥
सहधार्मिकैर्जिनसुतैर्विनिन्द्यते, लोकतोऽयशो लभते ।
दृष्टे धर्मे,

इत्यनेन दृष्टधार्मिकमवद्यं प्रसवतीति दर्शितम्; यथाक्रममात्मपरदेवताशास्तृभिरपवदनात्, विज्ञैः सब्रह्मचारिभिर्धर्मतया विगर्हणात्, दिग्विदिक्षु च पापकावरणनिश्चरणात् ।

ऽन्यत्र क्षणरहितो जायते भूयः ॥ ७ ॥

इत्यनेन साम्परायिकमवद्यं प्रसवतीति संदर्शितम्; अक्षणेषूपपत्तेः ॥ ७ ॥

प्राप्ताप्राप्तविहानि शुक्लैर्धर्मैः समाप्नुते तेन ।

इत्यनेन दृष्टधर्मसाम्परायिकमवद्यं प्रसवतीति सन्दर्शितम्; प्राप्तकुशलधर्मपरिहाणितः, अप्राप्तपरिहाणितश्च यथाक्रमम् ।

दुःखं विहरति तस्मान्मनसोऽप्यस्वस्थतामेति ॥ ८ ॥

इत्यनेन तज्जं चैतसिकं दुःखं दौर्मनस्यं प्रतिसंवेदयत इति सन्दर्शितम् ॥ ८ ॥

एते सर्वे दोषा ह्रीमत्सु भवन्ति नो जिनसुतेषु ।

इत्यत उपादाय लज्जागुणो वेदितव्यः । यदेते च दोषा न भवन्ति,

देवेषु च मनुजेषु च नित्यं सञ्जायते च बुधः ॥ ९ ॥

इत्येतदस्य विपाकफलं भवति ॥ ९ ॥

सम्भारांश्च स बोधेः क्षिप्रं पूरयति लज्जया धीमान् ।

इत्येतदधिपतिफलम् ।

सत्त्वानां पाचनया न खिद्यते चैव जिनपुत्रः ॥ १० ॥

इत्येतत् पुरुषकारफलम् ॥ १० ॥ [SL 134]

स विपक्षप्रतिपक्षै रहितोऽरहितश्च जायते सततम् ।

इत्येते विसंयोगनिष्पन्दफले । यदुत विपक्षरहितत्वं प्रतिपक्षारहितत्वं च ।

इत्येतमानुशंसं ह्रीमानाप्नोति जिनपुत्रः ॥ ११ ॥

इति यथोक्तदोषाभाव गुणयोगं च प्राप्नोतीति सन्दर्शितम् ॥ ११ ॥

दोषमलिनो हि बालो ह्रीविरहात् सुवसनैः सुगुप्तोऽपि ।
निर्वसनोऽपि जिनसुतो ह्रीवसनो मुक्तदोषमलः ॥ १२ ॥

एतेन वस्त्रविशेषणं ह्रियः; तदन्यवस्त्रप्रावृतस्यापि ह्रीरहितस्य दोषमलिनत्वात् । नग्नस्यापि च ह्रीमतो निर्मलत्वात् ॥ १२ ॥

१. श्राद्धात्मानु० — सि० ।

आकाशमिव न लिप्तो ह्रीयुक्तो जिनसुतो भवति धर्मैः ।

धर्मैरिति लोकधर्मैः ।

ह्रीभूषितश्च शोभति सम्पर्कगतो जिनसुतानाम् ।। १३ ।।

एतेन श्लोकेन ह्रिय आकाशभूषणसमतां दर्शयति ।। १३ ।।

मातुरिव वत्सलत्वं ह्रियो विनेयेषु बोधिसत्त्वानाम् ।

त्रातव्यसत्त्वोपेक्षाया लज्जनात् ।

आरक्षा चापि ह्रीः संसरतां सर्वदोषेभ्यः ।। १४ ।।

हस्त्यश्वकायादिभूतत्वात् । एभिर्वस्त्रादिदृष्टान्तैर्विहारे क्लेशप्रतिपक्षताम्, चारे लोकधर्मप्रतिपक्षताम्, सहधार्मिकसंवासानुकूलताम्, सत्त्वपरिपाकानुकूलताम्, अक्लिष्टसंसारानुकूलतां च ह्रियो दर्शयति ।। १४ ।।

सर्वेषु नाधिवासा सर्वेष्वधिवासनाप्रवृत्तिश्च ।

सर्वेषु च प्रवृत्तिर्ह्रीविहितं ह्रीमतो लिङ्गम् ।। १५ ।।

[SL. 135] एतेन चतुर्विधं ह्रीकृतं लिङ्गं ह्रीमतो दर्शयति । यदुत—सर्वदोषेष्वनधिवासना चाप्रवृत्तिश्च, सर्वगुणेष्वधिवासना च, प्रवृत्तिश्च ।। १५ ।।

ह्रीभावना प्रधाना स्वचित्ततो धर्मतोऽधिमोक्षाच्च ।

आशयतोऽपि विभुत्वादकल्पनादैक्यतश्चापि ।। १६ ।।

इत्यस्य निर्देशो यथापूर्वम् ।। १६ ।।

धृतिविभागे सप्त श्लोकाः—

धृतिश्च बोधिसत्त्वानां लक्षणेन प्रभेदतः ।

दृढत्वेन च सर्वेभ्यस्तदन्येभ्यो विशिष्यते ।। १ ।।

वीर्यं समाधिः प्रज्ञा च सत्त्वं धैर्यं धृतिर्मता ।

निर्भीतो बोधिसत्त्वो हि त्रयादस्मात् प्रवर्तते ।। २ ।।

एतेन धृतिलक्षणं सपर्यायं ससाधनं चोक्तम् । वीर्यादिकं लक्षणं सत्त्वादिकं पर्यायः । शेषं साधनम् ।। १-२ ।।

कतमस्मात् त्रयान्निर्भीतः प्रवर्तते ? इत्याह—

लीनत्वाच्च चलत्वाच्च मोहाच्चोत्पद्यते भयम् ।

कृत्येषु तस्माद्विज्ञेया धृतिसंज्ञा निजे त्रये ।। ३ ।।

सर्वकार्येषु हि लीनचित्ततया वा भयमुत्पद्यते, तदनुत्साहतः । चलचित्ततया वा, चित्तानवस्थानतः । संमोहतो वा, तदुपायाज्ञानतः । तत्प्रतिपक्षाश्च यथाक्रमं वीर्यादयः । तस्मान्निजवीर्यादित्रये धृतिसंज्ञा वेदितव्या । निज इति । अप्रतिसंख्यानकरणीये ।। ३ ।।

प्रकृत्या प्रणिधाने च निरपेक्षत्व एव च ।

सत्त्वविप्रतिपत्तौ च गाम्भीर्यौदार्यसंश्रवे ।। ४ ।।

विनेयदुर्विनयत्वे कायाचिन्त्ये जिनस्य च।
दुष्करेषु विचित्रेषु संसारात्याग एव च॥ ५॥
निःसंक्लेशे च तत्रैव धृतिर्धीरस्य जायते।
असमा च तदन्येभ्यः सोऽग्रे धृतिमतां मतः[१]॥ ६॥

एभिस्त्रिभिः श्लोकैर्धृतिप्रभेदं दर्शयति यथाक्रमम्— गोत्रतः चित्तोत्पादतः, स्वार्थतः, सत्त्वार्थतः, परार्थतः[२], तत्त्वार्थतः[२], प्रभावतः, सत्त्वपरिपाचनतः, परमबोधितश्च। तत्र निरपेक्षत्वं स्वार्थप्रयुक्तस्य कायजीवितनिरपेक्षत्वाद् वेदितव्यम्; पुनर्दुष्करचर्यात। सञ्चिन्त्यभवोपत्तितः तदसंक्लेशतोऽपि प्रभेदः॥ ५-६॥ [SL 136]

कुमित्रदुःखगम्भीरश्रवाद् वीरो न कम्पते।
शलभैः पक्षवातैश्च समुद्रैश्च सुमेरुवत्॥ ७॥

एतेन बोधिसत्त्वधृतेर्दृढत्वं दर्शयति। उपमात्रयं त्रयेणाकम्पने यथाक्रमं वेदितव्यम्॥ ७॥

अखेदविभागे द्वौ श्लोकौ—

अखेदो बोधिसत्त्वानामसमस्त्रिषु वस्तुषु।
श्रुतातृप्तिमहावीर्यदुःखे ह्रीधृतिनिश्रितः॥ १॥
तीव्रच्छन्दो महाबोधावखेदो धीमतां मतः।
अनिष्पन्नश्च निष्पन्नः सुनिष्पन्नश्च भूमिषु॥ २॥

आभ्यां वस्तुतो निश्रयतः स्वभावतः प्रभेदतश्चाखेदो निर्दिष्टः। त्रिषु वस्तुषु—श्रुतातृप्तौ, दीर्घकालवीर्यारम्भे, संसारदुःखे च। ह्रियं धृतिं च निश्रित्य। ताभ्यां हि खेदोत्पत्तितो लज्जयते, न चोत्पादयति। तीव्रच्छन्दो महाबोधाविति स्वभावः। छन्दे हि व्यावृत्ते खिन्नो भवति। अनिष्पन्नोऽधिमुक्तिचर्याभूमौ। निष्पन्नः सप्तभूमिषु। सुनिष्पन्नः परेण। इत्येष प्रभेदः॥१-२॥

शास्त्रज्ञतायां द्वौ श्लोकौ—

वस्तुना चाधिकारेण कर्मणा च विशिष्यते।
लक्षणेनाक्षयत्वेन फलस्योदागमेन च॥ १॥
शास्त्रज्ञता हि धीराणां समाधिमुखधारणी।
गृहीता सत्त्वपाकाय सद्धर्मस्य च धारणे॥ २॥

तत्र शास्त्रज्ञतायाः पञ्च विद्यास्थानानि। वस्तु अध्यात्मविद्या, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्साविद्या, शिल्पकर्मस्थानविद्या च। स्वपरार्थक्रिया

१ यतः—सि०। २-२ सि० पुस्तके नास्ति।

अधिकारः। कर्म प्रथमवस्तुनि स्वयं प्रतिपत्तिः, परेभ्यश्च तत्समाख्यातम्। द्वितीये तद्दोषपरिज्ञानं परवादिनिग्रहश्च। तृतीये स्वयं सुनिरुक्त्वाऽभिधानं परसम्प्रत्ययश्च। चतुर्थे परेषां व्याधिशमनम्। पञ्चमे परेभ्यस्तत्संविभागः। लक्षणं शास्त्रज्ञताया एतान्येव पञ्च वस्तूनि श्रुतानि भवन्ति, धृतानि, वचसा परिजितानि, मनसा अन्वीक्षितानि, दृष्टया सुप्रतिविद्धानि। श्रुत्वा यथाक्रमं तदुद्ग्रहणतः, स्वाध्यायतः, प्रसन्नेन मनसार्थचिन्तनतो यथायोगं तद्दोष-[SL 137] गुणावगमात्, स्वाख्यातदुराख्यातावधारणतश्च। अक्षयत्वं निरुपधिशेषनिर्वाणेऽप्यक्षयात्। फलसमुदागमः सर्वधर्मसर्वाकारज्ञता।

सा पुनरेषा शास्त्रज्ञता बोधिसत्त्वानां समाधिमुखैर्धारणीमुखैश्च संगृहीता। सत्त्वपरिपाकाय च भवति; समाधिमुखैस्तत्कृत्यानुष्ठानात्। सद्धर्मपारणाय च धारणीभिस्तद्धारणात्॥ १–२॥

लोकज्ञतायां चत्वारः श्लोकाः—

कायेन वचसा चैव सत्यज्ञानेन चासमा।
लोकज्ञता हि धीराणां तदन्येभ्यो विशिष्यते॥ १॥

कथं कायेन? इत्याह—

कृतस्मितमुखा नित्यम्,

कथं वाचा? इत्याह—

धीराः पूर्वाभिभाषिणः॥

सा पुनः किमर्थम्? इत्याह—

सत्त्वानां भाजनत्वाय

कस्मिन्नर्थे भाजनत्वाय?

सद्धर्मप्रतिपत्तये॥ २॥

कथं सत्यज्ञानेन? इत्याह—

सत्यद्वयाद् यतश्चेष्टो लोकानामुदयोऽसकृत्।
द्वयादस्तङ्गमस्तस्मात् तज्ज्ञो लोकज्ञ उच्यते॥ ३॥

द्वाभ्यां सत्याभ्यां लोकस्योदयः पुनः पुनः संसारो यश्चोदयो येन चेति कृत्वा। द्वाभ्यामस्तङ्गमो निरोधमार्गसत्याभ्याम्। यश्चास्तङ्गमो येन चेति कृत्वा। तस्मात्तज्ज्ञो लोकज्ञ उच्यते। लोकस्योदयास्तङ्गामिन्या प्रज्ञया समन्वागतत्वात्॥ ३॥

शमाय प्राप्तये तेषां धीमान् सत्येषु युज्यते।
सत्यज्ञानाद्यतो धीमान् लोकज्ञो हि निरुच्यते॥ ४॥

अनेन लोकज्ञतायाः कर्म निर्दिष्टम् । तत्र शमाय दुःखसमुदय- [SL 138] सत्ययोः प्राप्तये निरोधमार्गसत्ययोः ॥ ४ ॥

प्रतिसरणविभागे त्रयः श्लोकाः—

आर्षश्च देशनाधर्मो अर्थोऽभिप्रायिकोऽस्य च ।
प्रामाणिकश्च नीतार्थो निर्जल्पा प्राप्तिरस्य च ॥ १ ॥

इदं प्रतिसरणानां लक्षणम् । तत्र प्रामाणिकोऽर्थो यः प्रमाणभूतेन नीतो विभक्तः शास्त्रा वा तत्प्रमाणीकृतेन वा । निर्जल्पा प्राप्तिरधिगमज्ञानं लोकोत्तरम्, तस्यानभिलाप्यत्वात् । शेषं गतार्थम् । १ ॥

प्रतिक्षेप्तुर्यथोक्तस्य मिथ्यासन्तीरितस्य च ।
साभिलापस्य[1] च प्राप्तेः प्रतिषेधोऽत्र देशितः ॥ २ ॥

प्रथमे प्रतिसरणे आर्षधर्मप्रतिक्षेप्तुः पुद्गलस्य प्रतिषेधो देशितः । द्वितीये यथारुतार्थस्य व्यञ्जनस्य नाभिप्रायिकार्थेन । तृतीये मिथ्या चिन्तितार्थस्य विपरीतं नीयमानस्य । चतुर्थे साभिलापस्य ज्ञानस्य प्रत्यात्मवेदनीयस्य ॥२॥

अधिमुक्तेर्विचाराच्च यथावत् परतः श्रवात् ।
निर्जल्पादपि च ज्ञानादप्रणाशो हि धीमताम् ॥ ३ ॥

अयं प्रतिसरणानुशंसः। प्रथमेन प्रतिसरणेनार्षधर्माधिमुक्तितो न प्रणश्यति, द्वितीयेन स्वयमाभिप्रायिकार्थविचारणात्, तृतीयेन परतस्तदविपरीतार्थनय-श्रवात्, चतुर्थेन लोकोत्तरज्ञानात् ॥ ३ ॥

प्रतिसंविद्विभागे चत्वारः श्लोकाः—

असमा बोधिसत्त्वानां चतस्रः प्रतिसंविदः ।
पर्याये लक्षणे वाक्ये ज्ञाने ज्ञानाच्च ता मताः ॥ १ ॥

प्रथमा पर्याये ज्ञानमेकैकस्यार्थस्य यावन्तो नामपर्यायाः, [SL 139] द्वितीया लक्षणे यस्यार्थस्य तन्नाम, तृतीया वाक्ये प्रत्येकं जनपदेषु या भाषाः, चतुर्था ज्ञाने स्वयं यत्प्रतिभानम् । इदं प्रतिसंविदालक्षणम् ॥ १ ॥

देशनायां प्रयुक्तस्य यस्य येन च देशना ।
धर्मार्थयोर्द्वयोर्वाचा ज्ञानेनैव च देशना ॥ २ ॥
धर्मस्योद्देशनिर्देशात् सर्वथा प्रापणाद् द्वयोः ।
परिहाराच्च[2] चोद्यानां प्रतिसंविच्चतुष्टयम् ॥ ३ ॥

---

१. साभिलाषस्य—सि० । एवं टीकायामपि ।

२. परिज्ञानाच्च—सि० ।

इति चतुष्ट्वे कारणम् । देशनायां हि प्रयुक्तस्य यस्य च देशना येन च । तत्र ज्ञानेन प्रयोजनम् । कस्य पुनर्देशना ? धर्मस्य, अर्थस्य च । केन देशना ? वचनेन, ज्ञानेन च । तत्र धर्मार्थयोर्देशना, धर्मस्योद्देशनिर्देशात् । वाक्येन देशना, तयोरेव द्वयोः सर्वथा प्रापणात् । ज्ञानेन देशना, चोद्यानां परिहरणात् । अतो यच्च येन च देश्यते तज्ज्ञानात् चतस्रः प्रतिसंविदो व्यवस्थापिताः ॥ २-३ ॥

प्रत्यात्मं समतामेत्य योत्तरत्र प्रवेदना ।
सर्वसंशयनाशाय प्रतिसंविन्निरुच्यते ॥ ४ ॥

एतेन प्रतिसंविदां निर्वचनं कर्म च दर्शितम् । प्रत्यात्मं लोकोत्तरेण ज्ञानेन सर्वधर्मसमतां तथतामवेत्य उत्तरकालं तत्पृष्ठलब्धेन ज्ञानेन प्रवेदना पर्यामादीनां प्रतिसंविदिति निर्वचनम् । सर्वसंशयनाशाय परेषामिति कर्म ॥ ४ ॥

सम्भारविभागे चत्वारः श्लोकाः -

सम्भारो बोधिसत्त्वानां पुण्यज्ञानमयोऽसमः ।
संसारेऽभ्युदयायैकः अन्योऽसंक्लिष्टसंसृतौ ॥ १ ॥

यश्च सम्भारो यदर्थं च तत् सन्दर्शितम् । द्विविधः सम्भारः—तत्र पुण्यसम्भारः संसारेऽभ्युदयाय संवर्तते, ज्ञानसम्भारोऽसंक्लिष्टसंसरणाय ॥ १ ॥

दानं शीलं च पुण्यस्य प्रज्ञा ज्ञानस्य सम्भृतिः ।
त्रयं चान्यद् द्वयस्यापि पञ्चापि ज्ञानसम्भृतिः ॥ २ ॥

[SL 140] एतेन पारमिताभिस्तदुभयसम्भारसंग्रहं दर्शयति । क्षान्तिवीर्यध्यानबलेन ह्युभयं क्रियते । तस्माद् द्वयसम्भारस्त्रयं भवति । पुनः प्रज्ञायां परिणामनात् सर्वाः पञ्च पारमिता ज्ञानसम्भारो वेदितव्यः ॥ २ ॥

सन्तत्या भावनामेत्य भूयो भूयः शुभस्य हि ।
आहारो यः स सम्भारो धीरे[1] सर्वार्थसाधकः ॥ ३ ॥

एतत्सम्भारनिर्वचनं कर्म च । समिति सन्तत्या; भा इति भावनामागम्य, र इति भूयो भूय आहारः । सर्वार्थसाधक इति कर्म; स्वपरार्थयोः साधनात् ॥ ३ ॥

१. वीरे—सि० ।

प्रवेशायानिमित्ताय अनाभोगाय सम्भृतिः ।
अभिषेकाय निष्ठायै धीराणामुपचीयते ।। ४ ।।

अयं सम्भारप्रभेदः। तत्राधिमुक्तिचर्याभूमौ सम्भारो भूमिप्रवेशाय। षट्सु भूमिष्वनिमित्ताय सप्तमीभूमिसंगृहीताय; तस्यां निमित्तासमुदाचारात्[1]। सप्तम्यां भूमावनाभोगाय तदन्यभूमिद्वयसंगृहीताय। तयोः सम्भारोऽभिषेकाय[2] दशमीभूमिसंगृहीताय। तस्यां सम्भारो निष्ठागमनाय बुद्धभूमिसंगृहीताय ।। ४ ।।

स्मृत्युपस्थानविभागे त्रयः श्लोकाः—

चतुर्दशभिराकारैः स्मृत्युपस्थानभावना।
धीमतामसमत्वात् सा तदन्येभ्यो विशिष्यते ।। १ ।।

कतमैश्चतुर्दशभिः ?

निश्रयात् प्रतिपक्षाच्च अवतारात् तथैव च।
आलम्बनमनस्कारप्राप्तिश्च विशिष्यते ।। १ ।।
आनुकूल्यानुवृत्तिभ्यां परिज्ञोत्पत्तितोऽपरा ।
मात्रया परमत्वेन भावनासमुदागमात् ।। ३ ।।

इत्येभिश्चतुर्दशभिराकारैर्बोधिसत्त्वानां स्मृत्युपस्थानभावना विशिष्यते । १. कथमाश्रयतः ? महायाने श्रुतिचिन्ताभावनामयीं प्रज्ञामाश्रित्य। २. कथं प्रतिपक्षतः ? चतुर्विपर्यासप्रतिपक्षाणामप्यशुचिदुःखानित्यानात्मसंज्ञानां प्रतिपक्षत्वात् कायादिधर्मनैरात्म्यप्रवेशतः। ३. कथमवतारतः ? चतुर्भिः स्मृत्युपस्थानैर्यथाक्रमं दुःख-समुदय-निरोध-मार्गसत्यावतारात् स्वयं परेषां चावतारणात्। यथोक्तं मध्यान्तविभागे। ४. कथमालम्बनतः ? सर्वसत्त्वकायाद्यालम्बनात्। ५. कथं मनस्कारतः ? कायाद्यनुपलम्भात्। (SL 141) ६. कथं प्राप्तितः ? कायादीनां न विसंयोगाय, नाविसंयोगाय। ७. कथमानुकूल्यतः ? पारमितानुकूल्येन तद्विपक्षप्रतिपक्षत्वात्। ८. कथमनुवृत्तितः ? लौकिकानां श्रावकप्रत्येकबुद्धानां चानुवृत्त्या तदुपसंहितस्मृत्युपस्थानभावनात्तेभ्यस्तदुपदेशार्थम्। ९. कथं परिज्ञातः ? कायस्य मायोपमत्वपरिज्ञया तथैवाभूतरूपसम्प्रख्यानात्, वेदनायाः स्वप्नोपमत्वपरिज्ञया तथैव मिथ्यानुभवात्। चित्तस्य प्रकृतिप्रभास्वरत्वपरिज्ञया आकाशवत्। धर्माणामागन्तुकत्वपरिज्ञया आकाशागन्तुकरजोधूमाभ्रनीहारोपक्लेशवत्। १०. कथ-

१. निमित्तसमु०–सि०।
२. सम्भाराभिषेकाय–सि०।

मुत्पत्तितः ? सञ्चित्यभवोपपत्तौ चक्रवर्त्यादिभूतस्य विशिष्टकायवेदना-दिसम्पत्तौ तदसंक्लेशतः। ११. कथं मात्रातः ? मृद्वचा अपि स्मृत्युपस्थान-भावनायास्तदन्येभ्योऽधिमात्रत्वात् प्रकृतितीक्ष्णेन्द्रियतया। १२. कथं परमत्वेन ? परिनिष्पन्नानामनाभोगमिश्रोपमिश्रभावनात्। १३. कथं भावनातः ? अत्यन्तं तद्भावनात् निरुपधिशेषनिर्वाणेऽपि तदक्षयात्। १४. कथं समुदागमतः ? दशसु भूमिषु बुद्धत्वे च समुदागमात् ॥ २–३ ॥

सम्यक्प्रहाणविभागे पञ्च श्लोकाः—

सम्यक्प्रहाणं धीराणामसमं सर्वदेहिभिः।
स्मृत्युपस्थानदोषाणां प्रतिपक्षेण भाव्यते ॥ १ ॥

यावत्यः स्मृत्युपस्थानभावना उक्ताः, तद्विपक्षाणां दोषाणां प्रतिपक्षेण सम्यक्प्रहाणभावनेति समस्तं सम्यक्प्रहाणलक्षणम् ॥ १ ॥

प्रभेदेन पुनः—

संसारस्योपभोगे च त्यागे निवरणस्य च।
मनस्कारस्य च त्यागे प्रवेशे चैव भूमिषु ॥ २ ॥
अनिमित्तिविहारे च लब्धौ व्याकरणस्य च।
सत्त्वानां परिपाके च अभिषेके च धीमताम् ॥ ३ ॥
क्षेत्रस्य च विशुद्धचर्थं निष्ठागमन एव च।
भाव्यते बोधिसत्त्वानां विपक्षप्रतिपक्षतः ॥ ४ ॥

अयं सम्यक्प्रहाणभावनाप्रभेदः—संसारस्यासंक्लिष्टपरिभोगे सम्पत्तिषु, पञ्चनिवरणत्यागे, श्रावकप्रत्येकबुद्धमनस्कारत्यागे, भूमिप्रवेशे, अनिमित्तविहारे सप्तम्यां भूमौ, व्याकरणलाभे अष्टम्याम्, सत्त्वानां परि-[SL 142] पाचने नवम्याम्, अभिषेके च दशम्याम्, क्षेत्रविशुद्धचर्यं त्रयेऽपि, निष्ठागमने च बुद्धभूमौ, ये च विपक्षास्तेषां प्रतिपक्षेण सम्यक्प्रहाण-भावना वेदितव्या। अयमस्याः प्रभेदः ॥ ४ ॥

छन्दं निश्रित्य योगस्य भावना सनिमित्तिका।
सर्वसम्यक्प्रहाणेषु प्रतिपक्षो निरुच्यते ॥ ५ ॥

एतेन छन्दं जनयति, व्यायच्छते, वीर्यमारभते, चित्तं प्रगृह्णाति, सम्यक् प्रदधातीति एषां पदानामर्थनिर्देशः। छन्दं हि निश्रित्य शमथविपश्यनाख्यं योगं भावयतीति व्यायच्छते। सा च भावना शमथप्रग्रहोपेक्षानिमित्तैः सह भाव्यते। तस्मात् सा सनिमित्तिका। कथं च पुनर्भाव्यते ? यच्छमथप्रग्रहो-पक्लेशयोर्लयौद्धत्ययोः प्रतिपक्षेण वीर्यमारभते। कथमारभते ? चित्तं

प्रगृह्णाति प्रदधाति च। तत्र प्रगृह्णातीति प्रज्ञया। प्रदधातीति शमथेन[1]। समप्राप्तश्चोपेक्षायां[2] प्रदधाति। एषा योगभावना यथोक्तप्रभेदेषु सर्वसम्यक्-प्रहाणेषु प्रतिपक्ष उच्यते ॥ ५ ॥

ऋद्धिपादविभागे पञ्च श्लोकाः—

ऋद्धिपादाश्च चत्वारो धीराणामग्रलक्षणाः।
सर्वार्थसिद्धौ जायन्ते आत्मनश्च परस्य च ॥ १ ॥

सर्वार्थसिद्धिर्लौकिकी लोकोत्तरा च वेदितव्या। शेषं गतार्थम् ॥ १ ॥

निश्रयाच्च प्रभेदाच्च उपायादभिनिर्हृतेः।
व्यवस्था ऋद्धिपादानां धीमतां सर्वथेष्यते ॥ २ ॥

अस्योद्देशस्य शेषो निर्देशः ॥ २ ॥

ध्यानपारमिमाश्रित्य प्रभेदो हि चतुर्विधः।
उपायश्चाभिनिर्हारः षड्विधश्च विधीयते ॥ ३ ॥

ध्यानपारमितानिश्रयप्रभेदश्चतुर्विधः; छन्दवीर्यचित्तमीमांसासमाधि-भेदात्। उपायश्चतुर्विध एव। अभिनिर्हारः षड्विधः ॥ ३ ॥

चतुर्विध उपायः कतमः ?

व्यावसायिक एकश्च द्वितीयोऽनुग्रहात्मकः।
नैबन्धिकस्तृतीयश्च चतुर्थः प्रातिपक्षिकः ॥ ४ ॥

अष्टानां प्रहाणसंस्काराणां छन्दो व्यायामः श्रद्धा व्याव- [SL 143] सायिकः उपायः; श्रद्दधानस्यार्थिनो व्यायामात्। प्रश्रब्धिरनुग्राहकः स्मृतिः सम्प्रजन्यं चौपनिबन्धकः; एकेन चित्तस्यालम्बनाविसारात्, द्वितीयेन विसार-प्रज्ञानात्। चेतना चोपेक्षा च प्रातिपक्षिक उपायः; लयौद्धत्योपक्लेशयोः क्लेशानां च प्रतिपक्षत्वात् ॥ ४ ॥

षड्विधोऽभिनिर्हारः कतमः ?

दर्शनस्यावववादस्य स्थितिविक्रीडितस्य च।
प्रणिधेर्वशितायाश्च धर्मप्राप्तेश्च निर्हृतिः ॥ ५ ॥

तत्र दर्शनं चक्षुः पञ्चविधम्—मांसचक्षुः, दिव्यं चक्षुः, आर्यं प्रज्ञाचक्षुः, धर्मचक्षुः, बुद्धचक्षुश्च। अववादः षडभिज्ञा यथाक्रमम्। ताभिरुपसंक्रम्य भाषां चित्तं चागतिं च गतिं च विदित्वा निःसरणायाववदनात्। स्थितिविक्रीडितं यस्मात् बोधिसत्त्वानां बहुविधं निर्माणादिभिः समाधिविक्रीडितम्। प्रणिधिर्येन प्रणिधिज्ञानेन प्रणिधानबलिका बोधिसत्त्वाः प्रणिधानवैशेषिकतया विक्री-

---

१. शमथे—सि०। २. समप्राप्ते चो०—सि०।

ङ्न्ति । "येषां न सुकरं संख्या कर्तुं कायस्य वा प्रभाया वा स्वरस्य वा" इति विस्तरेण यथा दशभूमिके सूत्रे। वशिता यथा तत्रैव दश वशिता निर्दिष्टाः । धर्मप्राप्तिर्बलवैशारद्यावेणिकबुद्धधर्माणां प्राप्तिः । इत्येष दर्शनादीनामभिनिर्हारः षड्विधः ॥ ५ ॥

इन्द्रियविभागे श्लोकः—

बोधिश्चर्या श्रुतं चाग्रं शमथोऽथ विपश्यना ।
श्रद्धादीनां पदं ज्ञेयमर्थसिद्ध्यधिकारतः ॥ १ ॥

श्रद्धेन्द्रियस्य बोधिः पदमालम्बनमित्यर्थः । वीर्येन्द्रियस्य बोधिः सत्त्वचर्या । स्मृतीन्द्रियस्य महायानसंगृहीतं श्रुतम् । समाधीन्द्रियस्य शमथः । प्रज्ञेन्द्रियस्य विपश्यना पदम् । तदर्थाधिकारेणैव चैतानि श्रद्धादीनि आधिपत्यार्थेनेन्द्रियाण्युच्यन्ते ॥ १ ॥

बलविभागे श्लोकः—

भूमिप्रवेशसंक्लिष्टाश्चेष्टाः श्रद्धादयः पुनः ।
विपक्षदुर्बलत्वेन त एव बलसंज्ञिताः ॥ १ ॥

[SL 144] गतार्थः श्लोकः ॥ १ ॥

बोध्यङ्गविभागे सप्त श्लोकाः—

भूमिविष्टस्य बोध्यङ्गव्यवस्थानं विधीयते ।
धर्माणां सर्वसत्त्वानां समतावगमात् पुनः ॥ १ ॥

एतेन यस्यामवस्थायां यस्यावबोधात् बोध्यङ्गानि व्यवस्थाप्यन्ते तदुपदिष्टम् । भूमिप्रविष्टावस्थायां सर्वधर्माणां सर्वसत्त्वानां च समतावबोधाद् यथाक्रमं धर्मनैरात्म्येन, आत्मपरसमतया च । १ ॥

अतः परं चक्रादिसप्तरत्नसाधर्म्यं बोध्यङ्गानां दर्शयति—

स्मृतिश्चरति सर्वत्र ज्ञेयाजितविनिर्जये ।

अजितज्ञेयविनिर्जयाय । यथा चक्रवर्तिनश्चक्ररत्नमजितदेशविनिर्जयाय ।

सर्वकल्पनिमित्तानां भङ्गाय विचयोऽस्य च ॥ २ ॥

यथा हस्तिरत्नं प्रत्यर्थिकभङ्गाय ॥ २ ॥

आशु चाशेषबोधाय वीर्यमस्य प्रवर्तते ।

क्षिप्राभिज्ञतोत्पादनात् । यथा अश्वरत्नमाशु समुद्रपर्यन्तमहापृथिवीगमनाय ।

धर्मालोकविवृद्ध्या च प्रीत्या आपूर्यते ध्रुवम् ॥ ३ ॥

आरब्धवीर्यस्य बोधिसत्त्वस्य धर्मालोका विवर्धन्ते । ततः प्रीतिः सर्वं कायं[1] सदा प्रीणयति । यथा मणिरत्नमालोकविशेषेण चक्रवर्तिनं प्रीणयति ।

सर्वावरणनिर्मोक्षात् प्रश्रब्ध्या सुखमेति च ।

सर्वदौष्ठुल्यसमुत्पाटनात्[2] । यथा स्त्रीरत्नेन चक्रवर्ती सुखमनुभवति ।

चिन्तितार्थसमृद्धिश्च समाधेरुपजायते ॥ ४ ॥

यथा चक्रवर्तिनो गृहपतिरत्नात् ॥ ४ ॥

उपेक्षया यथाकामं सर्वत्र विहरत्यसौ ।
पृष्ठलब्धाविकल्पेन[3] विहारेण सदोत्तमः ॥ ५ ॥

उपेक्षोच्यते निर्विकल्पं ज्ञानम्, तया बोधिसत्त्वः सर्वत्र यथा-[SL 145] कामं विहरति । तत्पृष्ठलब्धेन च विहारेणान्यस्योपगमात्, अन्यस्यापगमात् । निर्विकल्पेन विहारेण तत्र निर्व्यापारतया वासकल्पनात् । यथा चक्रवर्तिनः परिणायकरत्नं चतुरङ्गबलकायमुपनेतव्यं चोपगमयति[4], अपनेतव्यं चापनयति, तत्र च गत्वा वासं कल्पयति यत्राखिन्नः चतुरङ्गो बलकायः परैति ॥ ५ ॥

एवंगुणो बोधिसत्त्वश्चक्रवर्तीव वर्तते ।
सप्तरत्नोपमैर्नित्यं बोध्यङ्गैः परिवारितः ॥ ६ ॥

इति सप्तरत्नोपमत्वं बोध्यङ्गानां निगमयति ॥ ६ ॥

निश्रयाङ्गं स्वभावाङ्गं निर्याणाङ्गं तृतीयकम् ।
चतुर्थमनुशसाङ्गमक्लेशाङ्गं त्रयात्मकम् ॥ ७ ॥

एतेन यद् बोध्यङ्गं यथाङ्गं तदभिद्योतितम् । स्मृतिर्निश्रयाङ्गं सर्वेषाम्, तन्निश्रयेण प्रवृत्तेः । धर्मविचयः स्वभावाङ्गम्, बोधेस्तत्स्वभावात् । वीर्यं निर्याणाङ्गम्, तेनाप्राप्य निष्ठायामविच्छेदात्[5] । प्रीतिरनुशंसाङ्गम्, चित्तसुखत्वात् । प्रश्रब्धिसमाध्युपेक्षा असंक्लेशाङ्गम् । येन यन्निश्रित्य योऽसंक्लेश इति त्रिविधमसंक्लेशाङ्गं वेदितव्यम् ॥ ७ ॥

मार्गाङ्गविभागे द्वौ श्लोकौ—

यथाबोधानुवृत्तिश्च तदूर्ध्वमुपजायते ।
यथाबोधव्यवस्थानं प्रवेशश्च व्यवस्थितौ ॥ १ ॥

---

१. कार्यं—सि० ।
२. ०समुत्पादनात्—सि० ।
३. विकल्पेन—सि० ।
४. ०चोपप्रणयति—सि० ।
५. ०मधिष्ठानात्—सि० ।

कर्मत्रयविशुद्धिश्च प्रतिपक्षस्य भावना ।
ज्ञेयावृत्तेश्च मार्गस्य वैशेषिकगुणस्य च ।। २ ।।

बोध्यङ्गकालादूर्ध्वं यथाभूतावबोधानुवृत्तिः सम्यग्दृष्टिः । तस्यैवावबोधस्य व्यवस्थानं परिच्छेदः सम्यक्संकल्पः । तद्व्यवस्थाने च सूत्रादिके भगवता कृते स एव प्रवेशः, तेन तदर्थावबोधात् । कर्मत्रयविशुद्धिः सम्यग्वाक्कर्मान्ताजीवाः, वाक्कायोभयकर्मसंग्रहात् । प्रतिपक्षस्य भावना सम्यग्व्यायामादयो यथाक्रमं ज्ञेयावरणस्य मार्गावरणस्य च वैशेषिकगुणावरणस्य च [SL 146] सम्यग्व्यायामेन दीर्घं हि कालम अखिद्यमानो ज्ञेयावरणस्य प्रतिपक्षं भावयति । सम्यक्स्मृत्या शमथप्रग्रहोपेक्षानिमित्तेषु लयौद्धत्याभावान्मार्गसम्मुखीभावायावरणस्य प्रतिपक्षं भावयति । सम्यक्समाधिना वैशेषिकगुणाभिनिर्हारायावरणस्य प्रतिपक्षं भावयति, एवमष्टौ मार्गाङ्गानि व्यवस्थाप्यन्ते ।। १-२ ।।

शमथविपश्यनाविभागे त्रयः श्लोकाः—

चित्तस्य चित्ते स्थानाच्च धर्मविचयादपि ।
सम्यक्स्थितिमुपाश्रित्य शमथोऽथ विपश्यना ।। १ ।।

सम्यक्समाधिं निश्रित्य चित्ते चित्तस्यावस्थानात् । धर्माणां च प्रविचयाद्यथाक्रमं शमथो विपश्यना च वेदितव्या, न तु विना सम्यक्समाधिना इत्येतच्छमथविपश्यनालक्षणम् ।। १ ।।

सर्वत्रगा च सैकांशा नैकांशोपनिषन्मता ।

सा च शमथविपश्यना सर्वत्रगा; यं यं गुणमाकाङ्क्षति तत्र तत्र तद्भावनात् । यथोक्तं सूत्रे—"आकाङ्क्षेद्भिक्षुरहो बताहं विविक्तं कामैः" इति विस्तरेण यावत् "तेन भिक्षुणा इमावेव द्वौ धर्मौ भावयितव्यौ । यदुत शमथश्च विपश्यनां च" इत्येवमादि । एकांशा शमथविपश्यना यदा शमथं भावयति । विपश्यना वा । उभयांशा यदा युगपदुभयं भावयति । उपनिषत्सम्मता शमथविपश्यना बोधिसत्त्वानामधिमुक्तिचर्याभूमाविति । उपनिषन्मतेत्येवमादिना शमथविपश्यनायाः प्रभेदः कर्म च निर्दिष्टम् ।

प्रतिवेधे च निर्याणे अनिमित्ते ह्यसंस्कृते ।। २ ।।
परिशुद्धौ विशुद्धौ च शमथोऽथ विपश्यना ।
सर्वभूमिगता धीरे स योगः सर्वसाधकः ।। ३ ।।

योग उपायो वेदितव्यः । तत्र प्रतिवेधः प्रथमभूमिप्रवेशः । निर्याणं यावत् षष्ठी भूमिः; ताभिः सनिमित्तप्रयोगनिर्याणात् । अनिमित्तं सप्तमी भूमिः ।

असंस्कृतमन्यद्भूमित्रयमनभिसंस्कारवाहित्वात् । संस्कारो हि संस्कृतम्, तदत्र नास्तीत्यसंस्कृतम् । तदेव च भूमित्रयं निश्रित्य बुद्धक्षेत्रं च परिशोधयितव्यम्, बुद्धत्वं च प्राप्तव्यम् । तदेतद्यथाक्रमं परिशुद्धिर्विशुद्धिश्च ॥ २–३ ॥

उपायकौशल्यविभागे द्वौ श्लोकौ—

पूरये बुद्धधर्माणां सत्त्वानां परिपाचने ।
क्षिप्रप्राप्तौ क्रियाशुद्धौ वर्त्माच्छेदे च कौशलम् ॥ १ ॥
उपाये बोधिसत्त्वानामसमं सर्वभूमिषु । [SL 147]
यत्कौशलं समाश्रित्य सर्वार्थान् साधयन्ति ते ॥ २ ॥

अनेनोपायकौशल्यस्य प्रभेदः कर्म च दर्शितम् । तत्र बुद्धधर्मपरिपूरये निर्विकल्पं ज्ञानमुपायः । सत्त्वपरिपाचने चत्वारि संग्रहवस्तूनि । क्षिप्राभिसंबोधे "सर्वं पापं प्रतिदेशयामि यावद् भवतु मे ज्ञानं संबोधाय" इति प्रतिदेशना, अनुमोदना, अध्येषणा, परिणामना । क्रियाशुद्धौ समाधिधारणीमुखानि; तैः सर्वार्थक्रियासाधनात् । वर्त्मानुपच्छेदे अप्रतिष्ठितनिर्वाणे । अस्मिन् पञ्चविध उपाये सर्वभूमिषु बोधिसत्त्वानामसमं तदन्यैः कौशलमित्ययं प्रभेदः । सर्वस्वपरार्थसाधनं कर्म ॥ १–२ ॥

धारणीविभागे त्रयः श्लोकाः—

विपाकेन श्रुताभ्यासात् धारण्यपि समाधिना ।
परीत्ता महती सा च महती विविधा पुनः ॥ १ ॥
अप्रविष्टप्रविष्टानां धीमतां मृदुमध्यमा ।
अशुद्धभूमिकानां हि महती शुद्धभूमिका ॥ २ ॥
धारणीं तां समाश्रित्य बोधिसत्त्वाः पुनः पुनः ।
प्रकाशयन्ति सद्धर्मं नित्यं सन्धारयन्ति च ॥ ३ ॥

अत्रापि प्रभेदः कर्म च धारण्याः सन्दर्शितम् । तत्र त्रिविधा धारणी—पूर्वकर्मविपाकेन, श्रुताभ्यासेन, दृष्टधर्मबाहुश्रुत्येन; ग्रहणधारणसामर्थ्यविशेषणात् । समाधिसंनिश्रयेण च । सा पुनर्विपाक-श्रुताभ्यासाभ्यां परीत्ता वेदितव्या । समाधिना महती । सापि महती पुनस्त्रिविधा—अभूमिप्रविष्टानां मृद्वी, भूमिप्रविष्टानाम् अशुद्धभूमिकानां मध्या सप्तसु भूमिषु, परिशुद्धभूमिका त्वधिमात्रा शेषासु भूमिषु—इत्ययं प्रभेदो धारण्याः । सद्धर्मस्य प्रकाशनं धारणं च कर्म ॥ १–३ ॥

प्रणिधानविभागे त्रयः श्लोकाः—

चेतना छन्दसहिता ज्ञानेन प्रेरिता च तत् ।
प्रणिधानं हि धीराणामसमं सर्वभूमिषु ॥ १ ॥

हेतुभूतं च विज्ञेयं चित्तात् सद्यः फलं च तत् ।
आयत्यामर्थसिद्ध्यर्थं चित्तमात्रात् समृद्धितः ।। २ ।।
चित्तं महद्विशुद्धं च उत्तरोत्तरभूमिषु ।
आबोधेर्बोधिसत्त्वानां स्वपरार्थप्रसाधकम् ।। ३ ।।

अत्र प्रणिधानं स्वभावतो निदानतो भूमितः प्रभेदतः कर्मतश्च परि- [SL 148] दीपितम् । चेतना छन्दसम्प्रयुक्ता स्वभावः । ज्ञानं निदानम् । सर्वभूमिष्विति भूमिः । तच्च प्रणिधानं हेतुभूतम्; चित्तादेव सद्यः फलत्वात् । आयत्यां चाभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं[1] चित्तात् । पुनः सद्यः फलं चित्तमात्रात् यथाभिप्रेतार्थसमृद्धितो[2] वेदितव्यम् । येन प्रणिधानेन बलिका बोधिसत्त्वा विक्रीडन्ति । यस्य न सुकरा संख्या कर्तुं कायस्य वेति विस्तरः । चित्रमधिमुक्तिचर्याभूमावेवं चैव स्यामिति । महद्भूमिप्रविष्टस्य दश महाप्रणिधानानि । विशुद्धमुत्तरोत्तरासु भूमिषु विशुद्धिविशेषादाबोधेरपि प्रभेदतः । स्वपरार्थप्रसाधनं कर्म ।। १–३ ।।

समाधित्रयविभागे त्रयः श्लोकाः—

नैरात्म्यं द्विविधं ज्ञेयो ह्यात्मग्राहस्य चाश्रयः ।
तस्य चोपशमो नित्यं समाधित्रयगोचरः ।। १ ।।

त्रयाणां समाधीनां त्रिविधो गोचरो ज्ञेयः । पुद्गलधर्मनैरात्म्यं शून्यतासमाधेः । तदुभयात्मग्राहस्याश्रयः पञ्चोपादानस्कन्धा अप्रणिहितसमाधेः । तस्याश्रयस्यात्यन्तोपशम आनिमित्तसमाधेः । स एव—

समाधिस्त्रिविधो ज्ञेयो ग्राह्यग्राहकभावतः ।

त्रिविधस्य ग्राह्यस्य गोचरस्य ग्राहका ये समाधयः, ते शून्यतादिसमाधयः–इति ग्राह्यग्राहकभावेन त्रयः समाधयो ज्ञातव्याः ।

ते पुनर्यथाक्रमम्—

निर्विकल्पोऽपि विमुखो रतियुक्तश्च सर्वदा ।। २ ।।

शून्यतासमाधिर्निर्विकल्पः; पुद्गलधर्मात्मनोरविकल्पनात् । अप्रणिहितो विमुखस्तस्मादात्मग्राहाश्रयात् । आनिमित्तो रतिसम्प्रयुक्तः, सर्वकालं तस्मिंस्तदाश्रयोपशमे ।। २ ।।

परिज्ञायै प्रहाणाय पुनः साक्षात्क्रियाय च ।
शून्यतादिसमाधीनां त्रिधार्थः परिकीर्तितः ।। ३ ।।

पुद्गलधर्मनैरात्म्ययोः परिज्ञार्थं शून्यता । तदात्मग्राहाश्रयस्य प्रहाणार्थमप्रणिहितः । तदुपशमस्य साक्षात्क्रियार्थमानिमित्तः समाधिः ।। ३ ।।

---

१. वाचाभि०–सि० ।
२. ०समृद्धिता–सि० ।

धर्मोद्दानविभागे श्लोकौ—

समाध्युपनिषत्त्वेन धर्मोद्दानचतुष्टयम् ।
देशितं बोधिसत्त्वेभ्यः सत्त्वानां हितकाम्यया ॥ १ ॥

तत्र "सर्वसंस्कारा अनित्याः" "सर्वसंस्काराः दुःखा" [SL 149] इत्यप्रणिहितस्य समाधेरुपनिषद्भावेन देशितम् । "सर्वधर्मा अनात्मानः" इति शून्यतायाः । "शान्तं निर्वाणम्" इति आनिमित्तस्य समाधेः ।

कः पुनरनित्यार्थो यावच्छान्तार्थः ? इत्याह—

असदर्थोऽविकल्पार्थ परिकल्पार्थ एव च ।
विकल्पोपशमार्थश्च धीमतां तच्चतुष्टयम् ॥ २ ॥

बोधिसत्त्वानामसदर्थोऽनित्यार्थः । यन्नित्यं नास्ति तदनित्यं तेषां यत्परिकल्पितलक्षणम् । अभूतविकल्पार्थो दुःखार्थो यत्परतन्त्रलक्षणम् । परिकल्पमात्रार्थोऽनात्मार्थः । एवशब्देनावधारणम्, परिकल्पितः आत्मा नास्ति, परिकल्पमात्रं त्वस्तीति परिकल्पितलक्षणस्याभावार्थोऽनात्मार्थः— इत्युक्तं भवति । विकल्पोपशमार्थः शान्तार्थः परिनिष्पन्नलक्षणं निर्वाणम् ॥२॥

क्षणभङ्गार्थोऽप्यनित्यार्थो वेदितव्यः परतन्त्रलक्षणस्य । अतस्तत्प्रसाधनार्थं क्षणिकत्वविभागे दश श्लोकाः—

अयोगाद्धेतुतोत्पत्तेर्विरोधात् स्वयमस्थिते ।
अभावाल्लक्षणैकान्त्यादनुवृत्तेर्निरोधतः ॥ १ ॥
परिणामोपलब्धेश्च तद्धेतुत्वफलत्वतः ।
उपात्तत्वाधिपत्याच्च[1] शुद्धसत्त्वानुवृत्तितः ॥ २ ॥

तत्र क्षणिकं सर्वं संस्कृतमिति पश्चाद्वचनादियं प्रतिज्ञा वेदितव्या । तत्पुनः कथं सिध्यति ? क्षणिकत्वमन्तरेण संस्काराणां प्रवृत्तेरयोगात् । प्रबन्धेन हि वृत्तिः=प्रवृत्तिः । सा चान्तरेण प्रतिक्षणमुत्पादनिरोधौ न युज्यते । अथ कालान्तरं स्थित्वा पूर्वोत्तरनिरोधोत्पादतः प्रबन्धेनेष्यते वृत्तिः । तदनन्तरं प्रवृत्तिर्न स्यात्; प्रबन्धाभावात् । नैव चोत्पन्नस्य विना प्रबन्धेन कालान्तरं भावो युज्यते ।

किं कारणं हेतुत उत्पत्तिः ? हेतुतो हि सर्वं संस्कृतमुत्पद्यते, भवतीत्यर्थः । तद्यदि भूत्वा पुनरुत्तरकालं भवति तस्यावश्यं हेतुना भवितव्यम्, विना हेतुना आदित एवाभावात्[2] । न च तत्तेनैव हेतुना भवितुमर्हति; तस्योपभुक्तहेतु[3]-

१. ०धिपत्वाच्च–सि० । २, इवाभावात्–सि० । ३. ०पयुक्त०–सि० ।

कत्वात् । न चान्यो हेतुरुपलभ्यते । तस्मात् प्रतिक्षणमवश्यं पूर्वहेतुकमन्यद्भवतीति वेदितव्यम् । एवं विना प्रबन्धेनोत्पन्नस्य कालान्तरं भावो न युज्यते ।

अथाप्येवमिष्येत—नोत्पन्नं पुनरुत्पद्यते यदर्थं हेतुना भवितव्यम्, स्यादुत्पन्नं तु कालान्तरेण पश्चान्निरुध्यते नोत्पन्नमात्रमेवेति । तत्पश्चात् केन निरुध्यते ? यद्युत्पादहेतुनैव तदयुक्तम्; किं कारणम् ? उत्पादनिरोधयोर्विरोधात् । न हि विरोधयोस्तुल्यो हेतुरुपलभ्यते । तद्यथा – छायातपयोः, [SL 150] शीतोष्णयोश्च । कालान्तरनिरोधस्यैव च विरोधात् । केन विरोधात् ? आगमेन च । यदुक्तं भगवता—"मायोपमास्ते भिक्षो संस्कारा आपायिकास्तावत्कालिका इत्वरप्रत्युपस्थायिनः" इति । मनस्कारेण च योगिनाम् । ते हि संस्काराणामुदयव्ययौ मनसिकुर्वन्तः प्रतिक्षणं तेषां निरोधं पश्यन्ति । अन्यथा हि तेषामपि निर्विद्विरागविमुक्तयो न स्युर्यथान्येषां मरणकालादिषु निरोधं पश्यताम् ।

यदि चोत्पन्नः संस्कार कालान्तरं तिष्ठेत् स स्वयमेव स्थातुं समर्थः । स्थितिकारणेन वा केनचित् । स्वयं तावदवस्थानमयुक्तम् । किं कारणम् ? पश्चात्स्वयमस्थितेः ।

केन वा सोऽन्ते पुनः स्थातुं न समर्थः । स्थितिकारणेनापि न युक्तम्, तस्याभावात् । न हि तत्किञ्चिदुपलभ्यते । अथापि स्याद्विनापि स्थितिकारणेन विनाशकारणाभावात् अवतिष्ठते । लब्धे तु विनाशकारणे पश्चाद्विनश्यति अग्निमेव श्यामतेति ? तदयुक्तम्; तस्याभावात् । न हि विनाशकारणं पश्चादपि किञ्चिदस्ति । अग्निनापि श्यामता विनश्यतीति न प्रसिद्धम्[1], अप्रसिद्धम्[1] । विसदृशोत्पत्तौ तु तस्य सामर्थ्यं प्रसिद्धम् । तथा हि तत्सम्बन्धात् श्यामतायाः सन्ततिर्विसदृशी गृह्यते, न तु सर्वथैवाप्रवृत्तिः । अपामपि क्वाथ्यमानानामग्निसम्बन्धादल्पतरतमोत्पत्तितोऽतिमान्द्यादन्ते पुनरनुत्पत्तिर्गृह्यते । न तु सकृदेवाग्निसम्बन्धात्तदभावः ।

नैव चोत्पन्नस्य कस्यचित् स्थानं युज्यते; लक्षणैकान्त्यात् । ऐकान्तिकं ह्येतत्संस्कृतलक्षणमुक्तं भगवता यदुत संस्कृतस्यानित्यता । तद्यदि नोत्पन्नमात्रं विनश्येत् । कश्चित्कालमस्यानित्यता न स्यादिति अनैकान्तिकनित्यतालक्षणं प्रसज्यते[2] ।

१-१. सुप्रसिद्धम्–सि० ।   २. प्रसह्यते–सि० ।

अथापि स्यात्—प्रतिक्षणमपूर्वोत्पत्तौ तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानं न स्यादिति ? तद्भवत्येव, सादृश्यस्य अनुवृत्तेर्मायाकारफलकवत्। सादृश्यात्तद्-बुद्धिर्न तद्भावादिति। कथं गम्यते ? निरोधतः। न हि तथैवावस्थितस्यान्ते निरोधः स्यात्; आदिक्षणनिर्विशिष्टत्वात्। तस्मान्न तत्तदेवेत्यवधार्यते।

अन्ते परिणामोपलब्धेश्च। परिणामो हि नामान्यथात्वम्। तद्यदि नादित एवारब्धं भवेदाध्यात्मिकबाह्यानां भावानामन्ते परिणामो नोपलभ्येत। तस्मादादित एवान्यथात्वमारब्धं यत्क्रमेणाभिवर्धमानमन्ते व्यक्ति-मापद्यते, क्षीरस्येव दध्यवस्थायाम्। यावत्तु तदन्यथात्वं सूक्ष्मत्वान्न परि-च्छिद्यते, तावत् सादृश्यानुवृत्तेस्तदेवेदमिति ज्ञायत इति सिद्धम्। ततश्च प्रतिक्षणमन्यथात्वात्। क्षणिकत्वं प्रसिद्धम्।

कुतश्च प्रसिद्धम् ? तद्धेतुत्वफलत्वतः। क्षणिकहेतुत्वात्। [SL 151] क्षणिकफलत्वाच्चेत्यर्थः।

क्षणिकं हि चित्तं प्रसिद्धम्, तस्य चान्ये संस्काराश्चक्षुरूपादयो हेतुः। तस्मात्तेऽपि क्षणिका इति सिद्धम्। न त्वक्षणिकात् क्षणिकं भवितुमर्हति, यथा नित्यादनित्यमिति। चित्तस्य खल्वपि सर्वे संस्काराः फलम्। कथमिदं गम्यते ? उपात्तत्वादाधिपत्याच्छुद्धसत्त्वानुवृत्तितश्च। चित्तेन हि सर्वे संस्काराश्च-क्षुरादयः साधिष्ठाना उपात्ताः सहसम्मूर्छनाः तदनुग्रहानुवृत्तितः। तस्मात्ते चित्तस्य फलम्। चित्तस्य चाधिपत्यं संस्कारेषु। यथोक्तं भगवता—"चित्ते-नायं लोको नीयते, चित्तेन परिकृष्यते, चित्तस्योत्पन्नस्योत्पन्नस्य वशे वर्तते" इति। तथा विज्ञानप्रत्ययं नामरूपमित्युक्तम्। तस्माच्चित्तस्य फलम्। शुद्ध-चित्तानुवृत्तितश्च। शुद्धं हि योगिनां चित्तं संस्कारा अनुवर्तन्ते। यथोक्तम्—"ध्यायी भिक्षुः ऋद्धिमांश्चित्तवशे प्राप्तमिमं दारुस्कन्धं सचेत् सुवर्णमधि-मुच्यते तदप्यस्य तथैव स्यात्" इति। तस्मादपि चित्तफलं संस्काराः।

सत्त्वानुवृत्तितश्च। तथा हि पापकारिषु सत्त्वेषु बाह्या भावा हीना भवन्ति; पुण्यकारिषु च प्रणीताः। अतस्तच्चित्तानुवर्तनात् चित्तफलत्वं संस्काराणां सिद्धम्। ततश्च तेषां क्षणिकत्वम्। न हि क्षणिकस्याक्षणिकं फलं युज्यते; तदनुविधायित्वात्।

एवं तावदविशेषेण संस्काराणां क्षणिकत्वं द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां साधितम्॥ १–२॥

आध्यात्मिकानां पुनः साधनार्थं पञ्च श्लोका वेदितव्याः—

१. आद्यस्तरतमेनापि चयेनाश्रयभावतः।
विकारपरिपाकाभ्यां तथा हीनविशिष्टतः॥ ३॥

आद्यस्तरतमेनापि यावत् क्षणिकं सर्वसंस्कृतमिति । कथमेषामेभिः क्षणिकत्वं सिध्यति ? आध्यात्मिकानां हि संस्काराणां चतुर्दशविध उत्पादः । आद्य उत्पादो यावत्प्रथमत आत्मभावाभिनिर्वृत्तिः । तरतमेन यः प्रथमजन्म-क्षणादूर्ध्वम् । चयेन य आहारस्वप्नब्रह्मचर्यसमापत्त्युपचयेन । आश्रयभावतः यश्चक्षुर्विज्ञानादीनां चक्षुरादिभिराश्रयैः । विकारेण यो रागादिभिर्वर्णादि-विपरिणामतः । परिपाकेन यो गर्भबालकुमारयुवमध्यमवृद्धावस्थासु । हीनत्वेन [SL 152] विशिष्टत्वेन च यो दुर्गतौ सुगतौ[1] चोत्पद्यमानानां यथा-क्रमम् ।। ३ ।।

२. भास्वराभास्वरत्वेन देशान्तरगमेन च ।
सबीजाबीजभावेन प्रतिबिम्बेन चोदयः ।। ४ ।।

भास्वरत्वेन यो निर्मितकामेषु परनिर्मितकामेषु रूपारूप्येषु चोपप-न्नानां चित्तमात्राधीनत्वात् । अभास्वरत्वेन यस्तदन्यत्रोपपन्नानाम् । देशान्तर-गमनेन योऽन्यदेशोत्पादनिरोधेऽन्यदेशोत्पादः । सबीजत्वेन योऽर्हतश्चरमान् स्कन्धान् वर्जयित्वा । अबीजत्वेन यस्तेषामेवार्हतश्चरमेषाम् । प्रतिबिम्बत्वेन योऽष्टविमोक्षध्यायिनां समाधिवशेन प्रतिबिम्बाख्यानां[2] संस्काराणा-मुत्पादः ।। ४ ।।

३. चतुर्दशविधोत्पत्तौ हेतुमानविशेषतः ।
चयापार्थादियोगाच्च[3] आश्रयत्व असम्भवात् ।। ५ ।।

एतस्यां चतुर्दशविधायामुत्पत्तावाध्यात्मिकानां संस्काराणां क्षणिकत्वं हेतुमानविशेषादिभिः कारणैर्वेदितव्यम् । आद्योत्पादे तावत् हेतुत्वविशेषात् । यदि हि तस्य हेतुत्वेन विशेषो न स्यात् तदुत्तरायाः संस्कारप्रवृत्तेरुत्तरोत्तर-विशेषो नोपलभ्येत; हेत्वविशेषात् । विशेषे च सति तदुत्तरेभ्यस्तस्यान्यत्वात् क्षणिकत्वसिद्धिः, तरतमोत्पादे मानविशेषात् । मानं प्रमाणमित्यर्थः । न हि प्रतिक्षणं विनाऽन्यत्वेन परिमाणविशेषो भवेत्, उपचयोत्पादे चया-पार्थ्यात् । उपस्तम्भो हि चयः, तस्यापार्थ्यं स्यादन्तरेण क्षणिकत्वं तथैवाव-स्थितत्वात् । अयोगाच्चोपचयस्यैव । न हि प्रतिक्षणं विना पुष्टतरोत्पत्त्या युज्येतोपचयः, आश्रयभावेनोत्पत्तावाश्रितत्वासम्भवात् । न हि तिष्टत्याश्रये च तदाश्रितस्यानवस्थानं युज्यते ।। ५ ।।

---

१. सि० पुस्तके नास्ति ।
२. प्रतिबिम्बानां—सि० ।
३. चयायार्था०— सि० ।

४. स्थितस्यासम्भवादन्ते आद्यनाशाविकारतः ।
तथा हीनविशिष्टत्वे भास्वराभास्वरेऽपि च ॥ ६ ॥

याने तिष्ठति तदारूढानवस्थानवदन्यथा ह्याश्रयत्वं न सम्भवेत् । विकारोत्पत्तौ परिपाकोत्पत्तौ च स्थितस्यासम्भवात् । आद्यनाशाविकारतः । न हि तथास्थितस्यैव रागादिभिर्विकारः सम्भवति । न चावस्थान्तरेषु परिपाकः; आदावविनाशे सत्यन्ते विकाराभावात् । तथा हीनविशिष्टोत्पत्तौ क्षणिकत्वं वेदितव्यम्, यथा विकारपरिपाकोत्पत्तौ । न हि तथास्थितेष्वेव संस्कारेषु कर्मवासना वृत्तिं लभते; यतो दुर्गतौ वा स्यादुत्पत्तिः, सुगतौ वा । क्रमेण हि सन्ततिपरिणामविशेषाद् वृत्तिलाभो युज्यते । भास्वराभास्वरेऽपि च । उत्पादे तथैव क्षणिकत्वं युज्यते । भास्वरे तावत् तथास्थितस्यासम्भवात् चित्ताधीनवृत्तितायाः । अभास्वरेऽपि चादौ विनाशमन्तरेणान्ते विकारायोगात् ॥ ६ ॥

५. गत्यभावात्स्थितायोगाच्चरमत्व असम्भवात् ।
अनुवृत्तेश्च चित्तस्य क्षणिकं सर्वसंस्कृतम् ॥ ७ ॥

देशान्तरगमनेनोत्पत्तौ गत्यभावात् । न हि संस्काराणां देशान्तरसंक्रान्तिलक्षणा गतिर्नाम काचित् क्रिया युज्यते । सा ह्युत्पन्ना वा संस्कारं देशान्तरं गमयेद्, अनुत्पन्ना वा । यद्युत्पन्ना ? तेन गतिकाले न कश्चिद् गत इति स्थितस्यैव गमनं नोपपद्यते । अथानुत्पन्ना ? तेनासत्यां गतौ गत इति न युज्यते । सा च क्रिया यदि तद्देशस्थ एव संस्कारे कारित्रं करोति, न युज्यते; स्थितस्यान्यदेशाप्राप्तेः । अथान्यदेशस्थे न युज्यते; विना क्रिययान्यदेशाप्राप्तेः । न च क्रिया तत्र वा अन्यत्र वा देशे स्थिता संस्कारादन्योपलभ्यते । तस्मान्नास्ति संस्काराणां देशान्तरसन्तत्युत्पादादन्या गतिः । तदभावाच्च सिद्धं क्षणिकत्वम् ।

देशान्तरनिरन्तरोत्पत्तिलक्षणा गतिर्विभवद्भिः कारणैर्वेदितव्या । अस्ति चित्तवशेन, यथा—चङ्क्रमणाद्यवस्थासु । अस्ति पूर्वकर्माविधेन, यथा—अन्तराभवः । अस्त्याक्षिप्तवशेन[1], यथा–क्षिप्तस्येषोः । [SL 153] अस्ति सम्बन्धवशेन, यथा—याननदीप्लवारूढानाम् । अस्ति नोदनवशेन, यथा—वायुप्रेरितानां तृणादीनाम् । अस्ति स्वभाववशेन, यथा—वायोस्तिर्यग्गमनमग्नेरूर्ध्वं ज्वलनमपां निम्ने स्यन्दनम् । अस्त्यनुभावेन, यथा—मन्त्रौषधानुभावेन । केषाञ्चिदयस्कान्तानुभावेनायसाम्, ऋद्ध्यनुभावेन ऋद्धि-

---

१. अस्त्यभिधात०–सि० ।

मताम् । सबीजाबीजभावेनोत्पत्तौ क्षणिकत्वं वेदितव्यम्; स्थितायोगाच्च-रमासम्भवाच्च । न हि प्रतिक्षणं हेतुभावमन्तरेण तथास्थितस्यान्यस्मिन्काले पुनर्बीजभावो युज्यते । निर्बीजत्वं वा चरमे क्षणे । न च शक्यं पूर्वं सबीजत्वं चरमे क्षणे निर्बीजत्वमभ्युपगन्तुम्; तदभावे चरमत्वासम्भवात् । तथा हि चरमत्वमेव न सम्भवति । प्रतिबिम्बोत्पत्तौ क्षणिकत्वं चित्तानुवृत्तितो वेदितव्यम्; प्रतिक्षणं चित्तवशेन तदुत्पादात् । एवं तावत् साधितमाध्यात्मिकं सर्वसंस्कृतं क्षणिकमिति ॥ ७ ॥

बाह्यस्येदानीं क्षणिकत्वं त्रिभिः श्लोकैः साधयति—

१. भूतानां षड्विधार्थस्य क्षणिकत्वं विधीयते ।
शोषवृद्धेः प्रकृत्या च चलत्वाद् वृद्धिहानितः ॥ ८ ॥

किं पुनस्तद्बाह्यम् ? चत्वारि महाभूतानि, षड्विधश्चार्थः, वर्णगन्धरसस्पर्शशब्दा धर्मायतनिकं च रूपम् । अतो भूतानां षड्विधार्थस्य च क्षणिकत्वं विधीयते । कथं विधीयते ? अपां तावच्छोषवृद्धेः । उत्ससरस्तटागादिष्वपां क्रमेण वृद्धिः शोषश्चोपलभ्यते । तच्चोभयमन्तरेण प्रतिक्षणं परिणामं न स्यात्; पश्चाद्विशेषकारणाभावात् । वायोः प्रकृत्या चलत्वाद् वृद्धिहानितश्च । न ह्यवस्थितस्य चलत्वं स्यात्, गत्यभावादिति[2] प्रसाधितमेतत् । न च वृद्धिह्रासौ, तथैवावस्थितत्वात् ॥ ८ ॥

२. तत्सम्भवात् पृथिव्याश्च परिणामचतुष्टयात् ।
वर्णगन्धरसस्पर्शतुल्यत्वाच्च तथैव तत् ॥ ९ ॥

पृथिव्यास्तत्सम्भवात् परिणामचतुष्टयाच्च । तच्छब्देनापश्च गृह्यन्ते वायुश्च । अद्भ्यो हि वायुसहिताभ्यः पृथिवी सम्भूता विवर्तकाले । तस्मात् तत्फलत्वात् सापि क्षणिका वेदितव्या । चतुर्विधश्च परिणामः पृथिव्या उपलभ्यते—१. कर्मकृतः सत्त्वानां कर्मविशेषात्, २. उपक्रमकृतः ग्रहादिभिः, ३. भूतकृतोऽग्न्यादिभिः, ४. कालकृतः कालान्तरपरिवासतः । स चान्तरेण प्रतिक्षणमन्योत्पत्तिं न युज्यते; विनाशकारणाभावात् । वर्णगन्धरसस्पर्शानां [SL 154] पृथिव्यादिभिस्तुल्यकारणत्वात् तथैव क्षणिकत्वं वेदितव्यम् ॥ ९ ॥

३. इन्धनाधीनवृत्तित्वात् तारतम्योपलब्धितः ।
चित्तानुवृत्तेः पृच्छातः क्षणिकं बाह्यमप्यतः ॥ १० ॥

तेजसः पुनः क्षणिकत्वमिन्धनाधीनवृत्तित्वात् । न हि तेजस्युत्पन्ने तेजः सहोत्पन्नमिन्धनं तथैवावतिष्ठते । न च दग्धेन्धनं तेजः स्थातुं समर्थम् मा

१ एकान्तात्–सि० ।

२. तत्स्वभावादिति–सि० ।

भूदन्तेऽप्यनिन्धनस्यावस्थानमिति। श्लोकबन्धानुरोधाद्वर्णादीनां पूर्वमभिधानं पश्चात्तेजसः। शब्दः पुनर्योऽपि कालान्तरमुपलभ्यते घण्टादीनाम्, तस्यापि क्षणिकत्वं वेदितव्यम्; तारतम्योपलब्धेः। न ह्यसति क्षणिकत्वे प्रतिक्षणमन्द-तरतमोपलब्धिः स्यात्। धर्मायतनिकस्यापि रूपस्य क्षणिकत्वं प्रसिद्धमेव चित्तानुवृत्तेर्यथा पूर्वमुक्तम्। तस्माद् बाह्यमपि क्षणिकं प्रसिद्धम्।

पृच्छातः[1] खल्वपि सर्वसंस्काराणां क्षणिकत्वं सिध्यति। कथं कृत्वा ? इदं तावदयमक्षणिकवादी प्रष्टव्यः—कस्माद् भवाननित्यत्वं नेच्छति, संस्काराणां क्षणिकत्वं नेच्छतीति ? यद्येवं वदेत्—प्रतिक्षणमनित्यत्वस्या-ग्रहणादिति[2], स इदं स्याद्वचनीयः—प्रसिद्धक्षणिकभावेष्वपि प्रदीपादिषु निश्चलावस्थायां तदग्रहणादक्षणिकत्वं कस्मान्नेष्यते ! यद्येवं वदेत्—पूर्व-वत् पश्चादग्रहणादिति, स इदं स्याद्वचनीयः- संस्काराणामपि कस्मादेवं नेष्यते ? यद्येवं वदेत्—विलक्षणत्वात् प्रदीपादितदन्यसंस्काराणामिति, स इदं स्याद्वचनीयः—द्विविधं हि वैलक्षण्यम्-स्वभाववैलक्षण्यम, वृत्तिवैलक्षण्यं च, तद्यदि तावत् स्वभाववैलक्षण्यमभिप्रेतमत एव दृष्टान्तत्व न युज्यते। न हि तत्स्वभाव एव तस्य दृष्टान्तो भवति, यथा—प्रदीपः प्रदीपस्य, गौर्वा गोरिति। अथ वृत्तिवैलक्षण्यमत एव दृष्टान्तत्वं प्रदीपादीनां प्रसिद्धत्वात्। क्षणिकत्वानुवृत्तेः। पुनः स इदं प्रष्टव्यः—कच्चिदिच्छसि याने तिष्ठति यानारूढो गच्छेदिति ? यदि नो हीति वदेत्, स इदं स्याद्वचनीयः—चक्षु-रादिषु तिष्ठत्सु तदाश्रितं विज्ञानं प्रबन्धेन गच्छतीति न युज्यते ? यद्येवं वदेत्–ननु च दृष्टं वर्तिसन्निश्रिते प्रदीपे प्रबन्धेन गच्छति वर्त्या अवस्थान-मिति, स इदं स्याद्वचनीयः—न दृष्टं तत्प्रबन्धेन वर्त्याः प्रतिक्षणं विकारो-त्पत्तेरिति। यद्येवं वदेत्–सति क्षणिकत्वे संस्काराणां कस्मात् प्रदीपादिव क्षणिकत्वं न सिद्धमिति, स इदं स्याद्वचनीयः—विपर्यासवस्तुत्वात्। सदृश-सन्ततिप्रबन्धवृत्त्या हि क्षणिकत्वमेषां न प्रज्ञायते, यतः सत्यप्यपरापरत्वे तदेवेदमिति विपर्यासो जायते। इतरथा हि अनित्यनित्यविपर्यासो न स्यात्तदभावे संक्लेशो न स्यात्, कुतः पुनर्व्यवदानम् ! इत्येवं पर्यनुयोगतोऽपि क्षणिकत्वं सर्वसंस्कारणां प्रसिद्धम्॥ १०॥

पुद्गलनैरात्म्यप्रसाधनार्थं नैरात्म्यविभागे द्वादश श्लोकाः—

प्रज्ञप्त्यस्तितया वाच्यः पुद्गलो द्रव्यतो न तु।
नोपलम्भाद् विपर्यासात् संक्लेशात् क्लिष्टहेतुतः॥ १॥

१. पृच्छयते–सि०, मि०। २. मन्यत्वस्या०–सि०।

एकत्वान्यत्वतोऽवाच्यस्तस्माद् दोषद्वयादसौ ।
स्कन्धात्मत्वप्रसङ्गाच्च तद्द्रव्यत्वप्रसङ्गतः ॥ २ ॥
द्रव्यसन् यद्यवाच्यश्च वचनीयं प्रयोजनम् ।
एकत्वान्यत्वतोऽवाच्यो न युक्तो निष्प्रयोजनः ॥ ३ ॥
[SL 155] लक्षणाल्लोकदृष्टाच्च शास्त्रतोऽपि न युज्यते ।
इन्धनाग्न्योरवाच्यत्वमुपलब्धेर्द्वयेन हि ॥ ४ ॥
द्वये सति च विज्ञानसम्भवात् प्रत्ययो न सः ।
नैरर्थक्यादतो द्रष्टा यावन्मोक्ता न युज्यते ॥ ५ ॥
स्वामित्वे सति चानित्यमनिष्ट न प्रवर्तयेत् ।
तत्कर्मलक्षणं साध्यं सम्बोधो बाध्यते त्रिधा ॥ ६ ॥
दर्शनादौ च तदयत्नः स्वयम्भूर्न त्रयादपि ।
तद्यत्नप्रत्ययत्वं च निर्यत्नं दर्शनादिकम् ॥ ७ ॥
अकर्तृत्वादनित्यत्वात् सकृन्नित्यप्रवृत्तितः ।
दर्शनादिषु यत्नस्य स्वयम्भूत्वं न युज्यते ॥ ८ ॥
तथा स्थितस्य नष्टस्य प्रागभावादनित्यतः ।
तृतीयपक्षाभावाच्च प्रत्ययत्वं न युज्यते ॥ ९ ॥
सर्वेधर्मा अनात्मानः परमार्थेन शून्यता ।
आत्मोपलम्भे दोषश्च देशितो यत एव च ॥ १० ॥
संक्लेशे व्यवदाने च अवस्थाच्छेदभिन्नके ।
वृत्तिसन्तानभेदो हि पुद्गलेनोपदर्शितः ॥ ११ ॥
आत्मदृष्टिरनुत्पाद्या अभ्यासोऽनादिकालिकः ।
अयत्नमोक्षः सर्वेषां न मोक्षः पुद्गलोऽस्ति वा ॥ १२ ॥

पुद्गलः किमस्तीति वक्तव्यः ? नास्तीति वक्तव्यः ? आह—

प्रज्ञप्त्यस्तितया वाच्यः पुद्गलो द्रव्यते न तु ।

यतश्च प्रज्ञप्तितोऽस्तीति वक्तव्यः, द्रव्यतो नास्तीति वक्तव्यः। एवमनेकांशवादपरिग्रहे नैवास्तित्वे दोषावकाशः, न नास्तित्वे। स पुनर्द्रव्यतो नास्तीति कथं वेदितव्यः ? नोपलम्भात् । न हि स द्रव्यत उपलभ्यते। उपलब्धिर्हि नाम बुद्ध्या प्रतिपत्तिः । न च पुद्गलं बुद्ध्या न प्रतिपद्यन्ते पुद्गलवादिनः। उक्तं च भगवता—"दृष्ट एव धर्मे आत्मानमुपलभते प्रज्ञापयति" इति। कथं नोपलब्धो भवति ? न स एवमुपलभ्यमानो द्रव्यत उपलब्धो भवति। किं कारणम् ? विपर्यासात्। तथा ह्यनात्मन्यात्मेति विपर्यास उक्तो भगवता। तस्माद्य एवं पुद्गलग्राहो विपर्यासः सः। कथमिदं

गम्यते ? संक्लेशात् । सत्कायदृष्टिक्लेशलक्षणो ह्येष संक्लेशो यदुत अहं ममेति । न चाविपर्यासः[1] संक्लेशो भवितुमर्हति । न चैष संक्लेश इति कथं वेदितव्यम् ? क्लिष्टहेतुतः । तथा हि तद्धेतुकाः क्लिष्टा रागादय उत्पद्यन्ते । यत्र पुनर्वस्तुनि रूपादिसंज्ञके प्रज्ञप्तिः पुद्गल इति [SL 156] तस्मात्किमेकत्वेन पुद्गलो वक्तव्यः ? आहोस्विदन्यत्वेन ? आह—

एकत्वान्यत्वतोऽवाच्यस्तस्माद्···असौ ।

किं कारणम् ? दोषद्वयात् । कतमस्माद् दोषद्वयात् ?

स्कन्धात्मत्वप्रसङ्गाच्च तद्द्रव्यत्वप्रसङ्गतः ॥

एकत्वे हि स्कन्धानामात्मत्वं प्रसज्यते, पुद्गलस्य च द्रव्यसत्त्वम् । अथान्यत्वे पुद्गलस्य द्रव्यसत्त्वम् । एवं हि पुद्गलस्य प्रज्ञप्तितोऽस्तित्वादवक्तव्यत्वं युक्तम् । तेनाव्याकृतवस्तुसिद्धिः । ये पुनः शास्तुः शासनमतिक्रम्य पुद्गलस्य द्रव्यतोऽस्तित्वमिच्छन्ति, त इदं स्युर्वचनीयाः—

द्रव्यसन् यद्यवाच्यश्च वचनीयं प्रयोजनम् ।

किं कारणम् ?

एकत्वान्यत्वतोऽवाच्यो न युक्तो निष्प्रयोजनः ॥

अथ दृष्टान्तमात्रात् पुद्गलस्यावक्तव्यत्वमिच्छेयुः, यथाग्निरिन्धनान्नान्यो नानन्यो वक्तव्य इति । त इदं स्युर्वचनीयाः—

लक्षणाल्लोकदृष्टाच्च शास्त्रतोऽपि न युज्यते ।
इन्धनाग्न्योरवाच्यत्वमुपलब्धेर्द्वयेन हि ॥

एकत्वेनान्यत्वेन च अग्निर्हि नाम तेजोधातुरिन्धनं शेषाणि भूतानि । तेषां च भिन्नं लक्षणमित्यन्य एवाग्निरिन्धनात् लोके च विनाप्यग्निना दृष्टमिन्धनं काष्ठादि, विनापि चेन्धनेनाग्निरिति सिद्धमन्यत्वम् । शास्त्रे च भगवता न क्वचिदग्नीन्धनयोरवाच्यत्वमुक्तमित्ययुक्तमेतत् । विना पुनरिन्धनेनाग्निरस्तीति कथमिदं विज्ञायते ? उपलब्धेः । तथा हि वायुना विक्षिप्तं दूरमपि ज्वलत्परैति । अथापि स्याद्वायुस्तन्नेन्धनमिति अत एवग्नीन्धनयोरन्यत्वमिति सिद्धिः । कुतः ? द्वयेन हि उपलब्धेरिति प्रकृतम् । द्वयं हि तत्रोपलभ्यते अर्चिर्वायुश्चेन्धनत्वेन । अस्त्येव पुद्गलो य एष द्रष्टा यावद्विज्ञाता कर्ता भोक्ता ज्ञाता मोक्ता च । न स द्रष्टा युज्यते; [SL 157] नापि यावन्मोक्ता । स हि दर्शनादिसंज्ञकानां विज्ञानानां प्रत्ययभावेन वा कर्ता भवेत्, स्वामित्वेन वा । तत्र तावत्—

१. च विप०—सि० ।

द्वयं प्रतीत्य विज्ञानसम्भवात् प्रत्ययो न सः ।

किं कारणम् ? नैरर्थक्यात् । न हि तस्य तत्र किंचित् सामर्थ्यं द्रष्टम् ।

स्वामित्वे सति वानित्यनिष्टं न प्रवर्तयेत् ॥

स हि विज्ञानप्रवृत्तौ स्वामीभवन्निष्टं[1] विज्ञानमनित्यं न प्रवर्तयेत् । अनिष्टं च । नैव तस्मादुभयथाप्यसम्भवात् । असौ द्रष्टा यावन्मोक्ता न युज्यते । अपि खलु यदि द्रव्यतः पुद्गलोऽस्ति ?

तत्कर्मलक्षणं साध्यम्,

यदि द्रव्यतोऽस्ति, तस्य कर्माप्युपलभ्यते । यथा चक्षुरादीनां दर्शनादिलक्षणं च रूपप्रसादादि । न चैवं पुद्गलस्य । तस्मान्न सोऽस्ति द्रव्यतः ।

तस्मिंश्च द्रव्यत इष्यमाणे बुद्धस्य भगवतः

सम्बोधो बाध्यते त्रिधा ।

गम्भीराभिसम्बोधः, असाधारणाभिसम्बोधः, लोकोत्तराभिसम्बोधश्च । न हि पुद्गलाभिसम्बोधे किंचिद्गम्भीरमभिसम्बुद्धं भवति । न तीर्थ्यासाधारणम्, न लोकानुचितम् । तथा ह्येष ग्राहः सर्वलोकगम्यः । तीर्थ्याभिनिविष्टः, दीर्घसंसारोचितश्च ।

अपि खलु पुद्गलो द्रष्टा भवन् यावद्विज्ञाता दर्शनादिषु सप्रयत्नो वा भवेन्निष्प्रयत्नो वा ? सप्रयत्नस्य वा पुनरसौ प्रयत्नः स्वयंभूर्वा भवेदाकस्मिकः, तत्प्रत्ययो वा ?

दर्शनादौ च तद्यत्नः स्वयंभूर्न त्रयादपि ।

तस्मादेव च दोषत्रयाद् वक्ष्यमाणात्

तद्यत्नप्रत्ययत्वं च,

नेति वर्तते । निष्प्रयत्नस्य वा पुनः सतः सिद्धं भवति ।

[SL 158] निर्यत्नं दर्शनादिकम् ॥

इत्यसति व्यापारे पुद्गलस्य दर्शनादौ कथमसौ द्रष्टा भवति ! यावद्विज्ञाता । दोषत्रयादित्युक्तम्, कतमस्माद्दोषत्रयात् ?

अकर्तृत्वादनित्यत्वात् सकृन्नित्यप्रवृत्तितः ।
दर्शनादिषु यत्नस्य स्वयम्भूत्वं न युज्यते ॥

यदि दर्शनादिषु प्रयत्न आकस्मिको यतो दर्शनादीनि, न तर्हि तेषां पुद्गलः कर्तेति कथमसौ द्रष्टा भवति यावद्विज्ञाता ! सति वाऽऽकस्मिकत्वे

१. ०भवन्ननिष्टं—सि०

निरपेक्षत्वात् न कदाचित् प्रयत्नो न स्यादनित्यो न स्यात्। नित्ये च प्रयत्ने दर्शनादीनां युगपच्च नित्यं च प्रवृत्तिः स्यादिति दोषः। तस्मान्न युज्यते दर्शनादिषु प्रयत्नस्य स्वयम्भूत्वम्।

तथा स्थितस्य नष्टस्य प्रागभावादनित्यतः।
तृतीयपक्षाभावाच्च प्रत्ययत्वं न युज्यते॥

अथ पुद्गलप्रत्ययः प्रयत्नः स्यात्, तस्य तथा स्थितस्य प्रत्ययत्वं न युज्यते, प्रागभावात्। सति हि तत्प्रत्ययत्वे न कदाचित्पुद्गलो नास्तीति। किमर्थं प्राक् प्रयत्नो न स्याद्यदा नोत्पन्नः! विनष्टस्यापि प्रत्ययत्वं न युज्यते; पुद्गलस्यानित्यत्वप्रसङ्गात्। तृतीयश्च कश्चित्पक्षो नास्ति यन्न स्थितो न विनष्टः स्यादिति। तत्प्रत्ययोऽपि प्रयत्नो न युज्यते। एवं तावद्युक्तिमाश्रित्य द्रव्यतः पुद्गलो नोपलभ्यते।

सर्वे धर्मा अनात्मानः परमार्थेन शून्यता।
आत्मोपलम्भे दोषश्च देशितो यत एव च॥

धर्मोद्दानेषु हि भगवता "सर्वे धर्मा अनात्मनः" इति देशितम्। परमार्थशून्यतायाम्–"अस्ति कर्मास्ति विपाकः कारकस्तु नोपलभ्यते य इमाँश्च स्कन्धान् प्रतिसन्दधाति। अन्यत्र धर्मसंकेतात्" इति देशितम्। पञ्चकेषु पञ्चादीनवा आत्मोपलम्भ इति देशिताः। आत्मदृष्टिर्भवति जीवदृष्टिर्विशेषो भवति तीर्थिकैः। उन्मार्गप्रतिपन्नो भवति। शून्यतायामस्य चित्तं न प्रस्कन्दति न प्रसीदति न सन्तिष्ठते नाधिमुच्यते। आर्यधर्मा अस्य न व्यवदायन्ते। एवमागमतोऽपि न युज्यते। पुद्गलोऽपि हि भगवता तत्र तत्र देशितः—परिज्ञातावी भारहारः श्रद्धानुसार्यादिपुद्गलव्यव- [SL 159] स्थानत इति, असति द्रव्यतोऽस्तित्वे कस्माद् देशितः!

संक्लेशे व्यवदाने च अवस्थाच्छेदभिन्नके।
वृत्तिसन्तानभेदो हि पुद्गलेनोपदर्शितः॥

अवस्थाभिन्ने हि संक्लेशव्यवदाने छेदभिन्ने च। पुद्गलप्रज्ञप्तिमन्तरेण तद्वृत्तिभेदः सन्तानभेदश्च देशयितुं न शक्यः। तत्र परिज्ञासूत्रे–"परिज्ञेया धर्माः संक्लेशः परिज्ञा व्यवदानम्।" भारहारसूत्रे—"भारो भारादानं च संक्लेशः। भारनिक्षेपणं व्यवदानम्।" तयोर्वृत्तिभेदः सन्तानभेदश्चान्तरेण परिज्ञाताविभारहारपुद्गलप्रज्ञप्तिं न शक्येत देशयितुम्। बोधिपक्षाश्च धर्मा बहुधावस्थाः प्रयोगदर्शनभावनानिष्ठामार्गविशेषभेदतः। तेषां वृत्तिभेदः सन्तानभेदश्चान्तरेण श्रद्धानुसार्यादिपुद्गलप्रज्ञप्तिं न शक्येत देशयितुम्, येना-

सति द्रव्यतोऽस्तित्वे पुद्गलो देशित इत्ययमत्र नयो वेदितव्यः। इतरथा हि पुद्गलदेशना निष्प्रयोजना प्राप्नोति। न हि तावदसावात्मदृष्ट्युत्पादनार्थं युज्यते; यस्मात्

आत्मदृष्टिरनुत्पाद्या,

पूर्वमेवोत्पन्नत्वात्। नापि तदभ्यासार्थम्; यस्मादात्मदृष्टेर्

अभ्यासोऽनादिकालिकः।

यदि चात्मदर्शनेन मोक्ष इत्यसौ देश्येत। एवं सति स्यात्

अयत्नमोक्षः सर्वेषाम्,

तथा हि सर्वेषां न दृष्टसत्यानामात्मदर्शनं विद्यते। नैव वा मोक्षो- [SL 160] ऽस्तीति प्राप्नोति। न हि पूर्वमात्मानमनात्मतो गृहीत्वा सत्याभिसमयकाले कश्चिदात्मतो गृह्णाति। यथा दुःखं दुःखतः पूर्वमगृहीत्वा पश्चाद् गृह्णातीति यथा पूर्वं तथा पश्चादपि मोक्षो न स्यात्। सति चात्मन्यवश्यमहंकारममकाराभ्यामात्मतृष्णया चान्यैश्च तन्निदानैः क्लेशैर्भवितव्यमिति अतोऽपि मोक्षो न स्यात्। न वा पुद्गलोऽस्तीति अभ्युपगन्तव्यम्। तस्मिन्हि सति नियतमेते दोषाः प्रसज्यन्ते ॥ १-१२ ॥

निगमनम्—

एवमेभिर्गुणैर्नित्यं बोधिसत्त्वाः समन्विताः।
आत्मार्थं च न रिञ्चन्ति परार्थं साधयन्ति च ॥ १ ॥

ह्री-धृतिप्रभृतीनां गुणानां समासेन कर्म निर्दिष्टम् ॥ १ ॥

इति महायानसूत्रालंकारेऽष्टादशो बोधिपक्षाधिकारः ॥

एकोनविंशो गुणाधिकारः

आश्चर्यविभागे त्रयः श्लोकाः—

स्वदेहस्य परित्यागः सम्पत्तेश्चैव संवृतौ।
दुर्बलेषु क्षमा काये जीविते निरपेक्षिणः ॥ १ ॥
वीर्यारम्भो ह्यनास्वादो ध्यानेषु सुख एव च।
निष्कल्पना च प्रज्ञायामाश्चर्यं धीमतां मतम्[1] ॥ २ ॥
तथागतकुले जन्मलाभो व्याकरणस्य च।
अभिषेकस्य च प्राप्तिर्बोधेश्चाश्चर्यमिष्यते ॥ ३ ॥

अत्र द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां प्रतिपत्त्याश्चर्यमुक्तं षट्पारमिता आरभ्य। दानेन हि स्वदेहपरित्याग आश्चर्यं शीलसंवरनिमित्तमुदारसम्पत्तित्यागः। शेषं गतार्थम् ॥ १-२ ॥

तृतीयेन श्लोकेन फलाश्चर्यमुक्तं चत्वारि बोधिसत्त्वफलान्यारभ्य प्रथमायामष्टम्यां दशम्यां त्रीणि शैक्षाणि फलानि। बुद्धभूमौ चतुर्थमशैक्ष-मत्र फलम् ॥ ३ ॥

अनाश्चर्यविभागे श्लोकः—

वैराग्यं करुणां चैत्य भावनां परमामपि।
तथैव समचित्तत्वं नाश्चर्यं तासु युक्तता ॥ १ ॥

तास्विति पारमितासु। वैराग्यमागम्य दाने प्रयोगो [SL 161] नाश्चर्यम्। करुणामागम्य शीले क्षान्तौ च। परमा भावनामागम्याष्टम्यां भूमौ निरभिसंस्कारनिर्विकल्पो वीर्यादिप्रयोगो नाश्चर्यम्। आत्मपरसम-चित्ततामागम्य सर्वास्वेव पारमितासु प्रयोगो नाश्चर्यम्, आत्मार्थ इव परार्थे खेदाभावात् ॥ १ ॥

समचित्ततायां त्रयः श्लोकाः—

न तथात्मनि दारेषु सुतमित्रेषु बन्धुषु।
सत्त्वानां प्रगतः स्नेहो यथा सत्त्वेषु धीमताम् ॥ १ ॥
अर्थिष्वपक्षपातश्च शीलस्याखण्डना ध्रुवम्।
क्षान्तिः सर्वत्र सर्वार्थे[2] वीर्यारम्भो महानपि ॥ २ ॥

---

१. गतं—सि०। २. सत्त्वार्थ—सि०।

ध्यानं च कुशलं नित्यं प्रज्ञा चैवाविकल्पिका ।
विज्ञेया बोधिसत्त्वानां तास्वेव समचित्तता ।। ३ ।।

एकः श्लोकः सत्त्वेषु समचित्ततायाम्, द्वौ पारमितासु । न हि सत्त्वानामात्मादिषु स्नेहः समतया अनुगतो न चात्यन्तम्, तथा ह्यात्मानमपि कदाचिन्मारयन्ति । बोधिसत्त्वानां तु सर्वसत्त्वेषु समतयाऽत्यन्तं च पारमितासु पुनर्दाने समचित्तत्वमर्थिष्वपक्षपातात् । शीलेऽणुमात्रस्यापि नित्यमखण्डना । क्षान्तिः सर्वत्रेति । देशकाले सत्त्वेष्वभेदना । वीर्ये सवार्थ[1] वीर्यारम्भात्स्वपरार्थं समं प्रयोगात्सर्वं कुशलार्थं च । शेषं गतार्थम् ।।१-३।।

उपकारित्वविभागे षोडश श्लोकाः—

स्थापना भाजनत्वे च शीलेष्वेव च रोपणम् ।
मर्षणा चापकारस्य अर्थे व्यापारगामिता ।। १ ।।
आवर्जना शासनेऽस्मिश्छेदना संशयस्य च ।
सत्त्वेषु उपकारित्वं धीमतामेतदिष्यते ।। २ ।।

आभ्यां श्लोकाभ्यां षड्भिः पारमिताभिर्यथोपकारित्वं बोधिसत्त्वानां [SL 162] तत्परिदीपितम् । दानेन हि सत्त्वानां भाजनत्वे स्थापयन्ति कुशलक्रियायाः । ध्यानेनावर्जयन्ति प्रभावविशेषयोगात् । शेषं गतार्थम् ।

शेषैः श्लोकैः मात्रादिसाधर्म्येणोपकारित्वं दर्शितम् ।। १-२ ।।

समाशयेन सत्त्वानां धारयन्ति सदैव ये ।
जनयन्त्यार्यभूमौ च कुशलैर्वर्धयन्ति च ।। ३ ।।
दुष्कृतात् परिरक्षन्ति श्रुतं व्युत्पादयन्ति च ।
पञ्चभिः कर्मभिः सत्त्वमातृकल्पा जिनात्मजाः ।। ४ ।।

सत्त्वानां मातृभूताः सत्त्वमातृकल्पाः । माता हि पुत्रस्य पञ्चविधमुपकारं करोति—गर्भेण धारयति, जनयति, आपाययति पोषयति संवर्धयति, अपायाद्रक्षते, अभिलापं च शिक्षयति । तत्साधर्म्येणैतानि पञ्चबोधिसत्त्वकर्माणि वेदितव्यानि । आर्यभूमिरार्यधर्मा वेदितव्याः ।। ३-४ ।।

श्रद्धायाः सर्वसत्त्वेषु सर्वदा चावरोपणात् ।
अधिशीलादिशिक्षायां विमुक्तौ च नियोजनात् ।। ५ ।।
बुद्धाध्येषणतश्चैषामावृतेश्च विवर्जनात् ।
पञ्चभिः कर्मभिः सत्त्वपितृकल्पा जिनात्मजाः ।। ६ ।।

---

१. सत्वार्थ—सि० ।

पिता हि पुत्राणां पञ्चविधमुपकारं करोति—बीजं तेषामवरोपयति, शिल्पं शिक्षयति, प्रतिरूपैर्दारैर्नियोजयति, सन्मित्रेषूपनिक्षिपति, अनृणं करोति यथा न पैतृकमृणं दाप्यते। तत्साधर्म्येण बोधिसत्त्वानामेतानि पञ्च कर्माणि वेदितव्यानि। श्रद्धा हि सत्त्वानामार्यात्मभावप्रतिलम्भस्य बीजम्। शैक्षाः शिल्पम्। विमुक्तिर्भार्या, विमुक्तिप्रीतिसुखसंवेदना[1], बुद्धाः कल्याणमित्राणि। आवरणमृणस्थानम् ॥ ५–६ ॥

अनर्हदेशनां ये च सत्त्वानां गूहयन्ति हि।
शिक्षाविपत्तिं निन्दन्ति शसन्त्येव च सम्पदम् ॥ ७ ॥
अववादं च यच्छन्ति माराना वेदयन्ति हि।
पञ्चभिः कर्मभिः सत्त्वबन्धुकल्पा जिनात्मजाः ॥ ८ ॥

बन्धवो हि बन्धूनां पञ्चविधमुपकारं कुर्वन्ति—गुह्यं गूहयन्ति, कुचेष्टितं विगर्हन्ति, सुचेष्टितं प्रशसन्ति, करणीयेषु साहाय्यं गच्छन्ति, व्यसनस्थानेभ्यश्च निवारयन्ति। तत्साधर्म्येणैतानि बोधि- [SL 163] सत्त्वानां पञ्च कर्माणि वेदितव्यानि। अनर्हेभ्यो गम्भीरधर्मदेशनाविनिगूहनात् शिक्षाविपत्तिसम्पत्त्योर्यथाक्रमं निन्दनात्, प्रशंसनाच्च, अधिगमायाववादात् मारकर्मवेदनाच्च ॥ ७–८ ॥

संक्लेशे व्यवदाने च स्वयमश्रान्तबुद्धयः।
यच्छन्ति लौकिकीं कृत्स्नां सम्पदं चातिलौकिकीम् ॥ ९ ॥
अखेदित्वादभिन्ना[2] ये सदा सुखहितैषिणः।
पञ्चभिः कर्मभिः सत्त्वमित्रकल्पा जिनात्मजाः ॥ १० ॥

तद्धि मित्रं यन्मित्रस्य हिते च सुखे चाविपर्यस्तम्। सुखं चोपसंहरति, हितं चाभेद्यं च भवति। हितसुखैषि च नित्यम्। तथा बोधिसत्त्वाः सत्त्वानां पञ्चभिः कर्मभिर्मित्रकल्पा वेदितव्याः। लौकिकी हि सम्पत् सुखम्; तया सुखानुभवात्। लोकोत्तरा हितम्, क्लेशव्याधिप्रतिपक्षत्वात् ॥ ९–१० ॥

सर्वदोद्यमवन्तो ये सत्त्वानां परिपाचने।
सम्यग्निर्याणवक्तारः क्षमा विप्रतिपत्तिषु ॥ ११ ॥
द्वयसम्पत्तिदातारस्तदुपाये च कोविदाः।
पञ्चभिः कर्मभिः सत्त्वदासकल्पा जिनात्मजाः ॥ १२ ॥

दासो हि पञ्चभिः कर्मभिः सम्यग् वर्तते। उत्थानसम्पन्नो भवति,

१. संवेदना–सि०। २. सुखे हिते चाभिन्ना–सि०।

कृत्येषु अविसंवादको भवति, क्षमो भवति परिभाषणताडनादीनाम्, निपुणो भवति, सर्वकार्यकरणात् । विचक्षणश्च भवति उपायज्ञः। तत्साधर्म्येणैतानि पञ्च कर्माणि बोधिसत्त्वानां वेदितव्यानि । द्वयसम्पत्तिर्लौकिकी लोकोत्तरा च वेदितव्या ॥ ११-१२ ॥

अनुत्पत्तिकधर्मेषु क्षान्तिं प्राप्ताश्च ये मताः ।
सर्वयानापदेष्टारः सिद्धयोगनियोजकाः ॥ १३ ॥
सुमुखाः प्रतिकारे च विपाके चानपेक्षिणः ।
पञ्चभिः कर्मभिः सत्त्वाचार्यकल्पा जिनात्मजाः ॥ १४ ॥

पञ्चविधेन कर्मणाऽऽचार्यः[१] शिष्याणामुपकारी भवति - स्वयं सुशिक्षितो भवति सर्वं शिक्षयति, क्षिप्रं शिक्षयति, सुमुखो भवति सुरतजातीयः, निरामिषचित्तश्च भवति । तत्साधर्म्येणैतानि बोधिसत्त्वानां पञ्च कर्माणि वेदितव्यानि ॥ १३-१४ ॥

सत्त्वकृत्यार्थमुद्युक्ताः सम्भारान् पूरयन्ति ये ।
सम्भृतान् मोचयन्त्याशु विपक्षं हापयन्ति च ॥ १५ ॥
[SL 164] लोकसम्पत्तिभिश्चित्रैरलोकैर्योजयन्ति च ।
पञ्चभिः कर्मभिः सत्त्वोपाध्यायकल्पा जिनात्मजाः ॥ १६ ॥

उपाध्यायः पञ्चविधेन कर्मणा सार्धं विहारिणामुपकारी भवति— प्रव्राजयति, उपसम्पादयति, अनुशास्ति दोषपरिवर्जने, आमिषेण संगृह्णाति, धर्मेण च । तत्साधर्म्येणैतानि बोधिसत्त्वानां पञ्च कर्माणि वेदितव्यानि ॥ १५-१६ ॥

प्रतिकारविभागे द्वौ श्लोकौ—

असक्त्या चैव भोगेषु शीलस्य च न खण्डनैः ।
कृतज्ञतानुयोगाच्च प्रतिपत्तौ च योगतः ॥ १ ॥
षट्सु पारमितास्वेव वर्तमाना हि देहिनः ।
भवन्ति बोधिसत्त्वानां तथा प्रत्युपकारिणः ॥ २ ॥

तथेति । यथा तेषां बोधिसत्त्वा उपकारिणः । तत्र भोगेष्वनासक्त्या दाने वर्तन्ते । शीलस्याखण्डनेन शीले । कृतज्ञतानुयोगात् क्षान्तौ । उपकारिबोधिसत्त्वस्य कृतज्ञतया ते हि क्षान्तिप्रिया इति । प्रतिपत्तियोगतो वीर्यध्यानप्रज्ञासु येन च प्रतिपद्यन्ते यत्र चेति कृत्वा ॥ १-२ ॥

---

१. सि० पुस्तके नास्ति ।

आशास्तिविभागे श्लोकः—

वृद्धिं हानिं च काङ्क्षन्ति सत्त्वानां च प्रपाचनम् ।
विशेषगमनं भूमौ बोधिं चानुत्तरां सदा ॥ १ ॥

पञ्च स्थानानि बोधिसत्त्वाः सदैवाशंसन्ते—पारमिताबुद्धिम्, तद्विपक्षहानिम्, सत्त्वपरिपाचनम्, भूमिविशेषगमनम्, अनुत्तरां च सम्यक्सम्बोधिम् ॥ १ ॥

अवन्ध्यप्रयोगविभागे श्लोकः—

त्रासहानौ समुत्पादे संशयच्छेदनेऽपि च ।
प्रतिपत्त्यववादे च सदाऽबन्ध्या जिनात्मजाः ॥ १ ॥

चतुर्विधे सत्त्वार्थे बोधिसत्त्वानामबन्ध्यः प्रयोगो वेदितव्यः—गम्भीरोदारधर्मत्रासायोगे[१], बोधिचित्तसमुत्पादे, उत्पादितबोधि- [SL 165] चित्तानां संशयोपच्छेदने, पारमिताप्रतिपत्त्यववादे च ॥ १ ॥

सम्यक्प्रयोगविभागे द्वौ श्लोकौ—

दानं निष्प्रतिकाङ्क्षस्य निःस्पृहस्य पुनर्भवे ।
शीलं क्षान्तिश्च सर्वत्र वीर्यं सर्वशुभोदये ॥ १ ॥
विनाऽऽरूप्यं तथा ध्यानं प्रज्ञा चोपायसंहिता ।
सम्यक्प्रयोगो धीराणां षट्सु पारमितासु हि ॥ २ ॥

यथोक्तं रत्नकूटे—"विपाकोऽप्रतिकांक्षिणो दानेन" इति विस्तरः ॥

परिहाणिविशेषभागीयधर्मविभागे द्वौ श्लोकौ—

भोगसक्तिः सच्छिद्रत्वं मानश्चैव सुखल्लिका ।
आस्वादनं विकल्पश्च धीराणां हानिहेतवः ॥ १ ॥
स्थितानां बोधिसत्त्वानां प्रतिपक्षेषु तेषु च ।
ज्ञेया विशेषभागीया धर्मा एतद्विपर्ययात् ॥ २ ॥

षण्णां पारमितानां विपक्षा हानभागीयाः । तत्प्रतिपक्षा विशेषभागीया वेदितव्याः ॥ १–२ ॥

प्रतिरूपकभूतगुणविभागे द्वौ श्लोकौ, एकः षट्पादः—

प्रतारणापि[२] कुहना सौमुख्यस्य च दर्शना ।
लोभत्वेन तथा वृत्तिः शान्तवाक्कायता तथा ॥
सुवाक्करणसम्पच्च प्रतिपत्तिविवर्जिता ॥ १ ॥

---

१. त्रासयोगे–सि० ।   २. प्रवारणापि–सि० ।

एते हि बोधिसत्त्वानामभूतत्वाय देशिताः ।
विपर्ययात् प्रयुक्तानां तद्भूतत्वाय देशिताः ॥ २ ॥

षण्णां पारमितानां प्रतिरूपकाः षड् बोधिसत्त्वगुणाः प्रतारणादयो[१] वेदितव्याः । शेषं गतार्थम् ।

विनयविभागे श्लोकः—

ते दानाद्युपसंहारैः सत्त्वानां विनयन्ति हि ।
षट्प्रकारं विपक्षं हि धीमन्तः सर्वभूमिषु ॥ १ ॥

षट्प्रकारो विपक्षः षण्णां पारमितानां मात्सर्य-दौःशील्य-क्रोध-[SL 166] कौसीद्य-विक्षेप-दौष्प्रज्ञ्यानि यथाक्रमम् । शेषं गतार्थम् ॥ १ ॥

व्याकरणविभागे त्रयः श्लोकाः—

धीमद्व्याकरणं द्वेधा कालपुद्गलभेदतः ।
बोधौ व्याकरणे चैव महाच्चान्यदुदाहृतम् ॥ १ ॥
नोत्पत्तिक्षान्तिलाभेन मानाभोगविहानितः ।
एकीभावगमत्वाच्च सर्वबुद्धजिनात्मजैः ॥ २ ॥
क्षेत्रेण नाम्ना कालेन कल्पनाम्ना च तत्पुनः ।
परिवारानुवृत्त्या च सद्धर्मस्य तदिष्यते ॥ ३ ॥

तत्र पुद्गलभेदेन व्याकरणं गोत्रस्थोत्पादितचित्तसम्मुखासमक्ष-पुद्गलव्याकरणात् । कालभेदेन परिमितापरिमितकालव्याकरणात् । पुनर्बोधौ व्याकरणं भवति । व्याकरणे च एवंनामा तथागत एवममुष्मिन् काले व्याकरिष्यतीति । अन्यत्पुनर्महाव्याकरणं यदाष्टम्यां भूमावनुत्पत्तिकधर्मक्षान्तिलाभतः । अहं बुद्धो भविष्यामीति मानप्रहाणतः । सर्वनिमित्ताभोगप्रहाणतः । सर्वबुद्धबोधिसत्त्वैश्च सार्धमेकीभावोपगमनतः, तदात्मसन्तानभेदादर्शनात् । पुनः क्षेत्रादिभिर्व्याकरणम्—ईदृशे बुद्धक्षेत्रे एवंनामा इयता कालेन बुद्धो भविष्यति, एवंनामके कल्पे ईदृशश्चास्य परिवारो भविष्यति, एतावदन्तरं कालमस्य सद्धर्मानुवृत्तिर्भविष्यतीति ॥ १–३ ॥

नियतिपातविभागे श्लोकः षट्पादः—

सम्पत्त्युत्पत्तिनैयम्यपातोऽखेदे च धीमताम् ।
भावनायाश्च सातत्ये समाधानाच्युतावपि ।
कृत्यसिद्धावनाभोगे क्षान्तिलाभे च सर्वथा ॥ १ ॥

१. प्रकारणादयो—सि० ।

षट्पारमिताधिकारेण षड्विधो नियतिपात एव निर्दिष्टः–१. सम्पत्तिनियतिपातो नित्यमुदारभोगसम्पत्तिलाभात् । २. उपपत्तिनियतिपातो नित्यं यथेष्टोपपत्तिपरिग्रहात् । ३. अखेदनियतिपातो नित्यं संसारदुःखैरखेदात् । ४. भावनासातत्यनियतिपातो नित्यं भावनासातत्यात् । ५ समाधानाच्युतौ कृत्यसिद्धौ च नियतिपातो नित्यं समाध्यपरिहाणितः सत्त्वकृत्यसाधनतश्च । ६. अनाभोगानुत्पत्तिकधर्मक्षान्तिलाभे नियतिपातश्च [SL 167] नित्यमनाभोगनिर्विकल्पज्ञानविहारात् ।। १ ।।

अवश्यकरणीयविभागे श्लोकः षट्पादः—

पूजा शिक्षासमादानं करुणा च शुभभावना ।
अप्रमादस्तथारण्ये श्रुतार्थातृप्तिरेव च ।
सर्वभूमिषु धीराणामवश्यकरणीयता ।। १ ।।

षट्पारमिता अधिकृत्येयं षड्विधावश्यकरणीयता । गतार्थः श्लोकः ।।

सातत्यकरणीयविभागे द्वौ श्लोकौ —

कामेष्वादीनवज्ञानं स्खलितेषु निरीक्षणा ।
दुखाधिवासना चैव कुशलस्य च भावना ।। १ ।।
अनास्वादः सुखे चैव निमित्तानामकल्पना ।
सातत्यकरणीयं हि धीमतां सर्वभूमिषु ।। २ ।।

षट्पारमितापरिनिष्पादनार्थं षट् सातत्यकरणीयानि । गतार्थौ श्लोकौ ।। १–२ ।।

प्रधानवस्तुविभागे श्लोकः षट्पादः—

धर्मदानं शीलशुद्धिर्नोत्पत्तिक्षान्तिरेव च ।
वीर्यारम्भो महायाने अन्त्या सकरुणा स्थितिः ।
प्रज्ञा पारमितानां च प्रधानं धीमतां मतम् ।। १ ।।

षट्सु पारमितास्वेतत् षड्विधं प्रधानम् । तत्र शीलविशुद्धिरार्यकान्तं शीलम् । अन्त्या सकरुणा स्थितिश्चतुर्थं ध्यानं करुणाऽप्रमाणयुक्तम् । शेषं गतार्थम् ।। १ ।।

प्रज्ञप्तिव्यवस्थानविभागे चत्वारः श्लोकाः—

विद्यास्थानव्यवस्थानं सूत्राद्याकारभेदतः ।
ज्ञेयं धर्मव्यवस्थानं धीमतां सर्वभूमिषु ।। १ ।।
पुनः सत्यव्यवस्थानं सप्तधा तथताश्रयात् ।
चतुर्धा च त्रिधा चैव युक्तियानव्यवस्थितिः ।। २ ।।

योनिशश्च मनस्कारः सम्यग्दृष्टिः फलान्विता ।
प्रमाणैर्विचयोऽचिन्त्यं ज्ञेयं युक्तिचतुष्टयम् ॥ ३ ॥
आशयाद् देशनाच्चैव प्रयोगात् सम्भृतेरपि ।
समुदागमभेदाच्च त्रिविधं यानमिष्यते ॥ ४ ॥

चतुर्विधं प्रज्ञप्तिव्यवस्थानम्; धर्म-सत्य-युक्ति-यानप्रज्ञप्तिव्यवस्थान- [SL 168] भेदात् । तत्र १. पञ्चविद्यास्थानव्यवस्थानं धर्मव्यवस्थानं वेदितव्यं सूत्रगेयादिभिराकारभेदैः । तदन्तर्भूतान्येव हि तदन्यानि विद्यास्थानानि महायाने बोधिसत्त्वेभ्यो देश्यन्ते । २. सत्यव्यवस्थानं तु सप्तविधां तथतामाश्रित्य—प्रवृत्तितथतां लक्षणतथतां विज्ञप्तितथतां सन्निवेशतथतां मिथ्याप्रतिपत्तितथतां विशुद्धितथतां[1] सम्यक्प्रतिपत्तितथतां च । ३. युक्तिप्रज्ञप्तिव्यवस्थानं चतुर्विधम्—अपेक्षायुक्तिः, कार्यकारणयुक्तिः, उपपत्तिसाधनयुक्तिः, धर्मतायुक्तिश्च । ४. यानप्रज्ञप्तिव्यवस्थानं त्रिविधम्—श्रावकयानम्, प्रत्येकबुद्धयानम्, महायानं च । तत्रापेक्षायुक्तिस्त्रिष्वपि यानेषु योनिशोमनस्कारः, तमपेक्ष्य तेन प्रत्ययेन लोकोत्तरायाः सम्यग्दृष्टेरुत्पादात् । कार्यकारणयुक्तिः सम्यग्दृष्टिः सफला । उपपत्तिसाधनयुक्तिः प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षा । धर्मतायुक्तिरचिन्त्यं स्थानम् । सिद्धा हि धर्मता न पुनश्चिन्त्या । कस्माद् ? योनिशोमनस्कारात् सम्यग्दृष्टिर्भवति, ततो वा क्लेशप्रहाणं फलमित्येवमादि । यानत्रयव्यवस्थानं पञ्चभिराकारैर्वेदितव्यम्—आशयतः, देशनातः, प्रयोगतः, सम्भारतः, समुदागमतश्च । तत्र हीनामाशयदेशनाप्रयोगसम्भारसमुदागमाः श्रावकयानम्, मध्याः प्रत्येकबुद्धयानम्, उत्तमा महायानम् । यथाशयं हि यथाभिप्रायं धर्मदेशनाभिभवति । यथा देशनं तथा प्रयोगः । यथाप्रयोगं सम्भारः । यथासम्भारं च बोधिसमुदागम इति ॥ १-४ ॥

पर्येषणाविभागे श्लोकः—

आगन्तुकत्वपर्येषा अन्योन्यं नामवस्तुनोः ।
प्रज्ञप्तेर्द्विविधस्यात्र तन्मात्रत्वस्य वैषणा ॥ १ ॥

चतुर्विधा पर्येषणा धर्माणाम्—नामपर्येषणा, वस्तुपर्येषणा, स्वभावप्रज्ञप्तिपर्येषणा, विशेषप्रज्ञप्तिपर्येषणा च । तत्र नाम्नो वस्तुन्यागन्तुकत्वपर्येषणा नामपर्येषणा वेदितव्या । वस्तुनो नाम्न्यागन्तुकत्वपर्येषणा वस्तुपर्येषणा वेदितव्या । तदुभयाभिसम्बन्धे स्वभावविशेषप्रज्ञप्त्योः प्रज्ञप्तिमात्रत्वपर्येषणा, स्वभावविशेषप्रज्ञप्तिपर्येषणा वेदितव्या ॥ १ ॥

---

१. सि० पुस्तके नास्ति ।

यथाभूतपरिज्ञानविभागे[1] दश (अष्टौ ?) श्लोकाः—

सर्वस्यानुपलम्भाच्च भूतज्ञानं चतुर्विधम् ।
सर्वार्थसिद्धयै धीराणां सर्वभूमिषु जायते ॥ १ ॥

चतुर्विधं यथाभूतपरिज्ञानं धर्माणाम्—नामपर्येषणागतम्, वस्तुपर्येषणागतम्, स्वभावप्रज्ञप्तिपर्येषणागतम्, विशेषप्रज्ञप्ति- [SL 169] पर्येषणागतं च। तच्च सर्वस्यास्य नामादिकस्यानुपलम्भाद् वेदितव्यम्। उत्तरार्धेन यथाभूतपरिज्ञानस्य कर्मणां माहात्म्यं दर्शयति ॥ १ ॥

प्रतिष्ठाभोगबीजं हि निमित्तं बन्धनस्य हि ।
आश्रयाश्चित्तचैत्तास्तु बध्यन्तेऽत्र सबीजकाः ॥ २ ॥

तत्र प्रतिष्ठानिमित्तं भाजनलोकः। भोगनिमित्तं पञ्च रूपादयो विषयाः। बीजनिमित्तं यत्तेषां बीजमालयविज्ञानम्। अत्र[2] त्रिविधे निमित्ते साश्रयाश्चित्तचैत्ता बध्यन्ते। यच्च तेषां बीजमालयविज्ञानम्। आश्रयाः पुनश्चक्षुरादयो वेदितव्याः ॥ २ ॥

पुरतः स्थापितं यच्च निमित्तं यत्स्थितं स्वयम् ।
सर्वं विभावयन् धीमान् लभते बोधिमुत्तमाम् ॥ ३ ॥

तत्र पुरतः स्थापितं निमित्तं यच्छ्रुतचिन्ताभावनाप्रयोगेणालम्बनीकृतं परिकल्पितम्। स्थितं स्वयमेव यत्प्रकृत्यालम्बनीभूतमयत्नपरिकल्पितम्। तस्य विभावनाविगमोऽनालम्बनीभावः[3]। अकल्पना तदुपायो निमित्तप्रतिपक्षः। तच्चोभयं क्रमाद्भवति—पूर्वं हि स्थापितस्य, पश्चात् स्वयंस्थितस्य। तत्र चतुर्विपर्यासानुगतम् पुद्गलनिमित्तं विभावयन् महाबोधिम्। एतेन यथातत्त्वं परिज्ञाय मोक्षाय संवर्तते यथाभूतम् परिज्ञानम्, तत् परिदीपितम् ॥ ३ ॥

तथतालम्बनं ज्ञानं द्वयग्राहविवर्जितम् ।
दौष्ठुल्यकायप्रत्यक्षं तत्क्षये धीमतां मतम् ॥ ४ ॥

एतेन यथास्वभावत्रयपरिज्ञानात् परतन्त्रस्वभावक्षयाय संवर्तते। तत्परिदीपितम्। तथतालम्बनत्वेन परिनिष्पन्नं स्वभावं परिज्ञाय। द्वयग्राहविवर्जितत्वेन कल्पितम्। दौष्ठुल्यकायप्रत्यक्षत्वेन परतन्त्रम्। तस्यैव क्षयाय संवर्तते दौष्ठुल्यकायस्यालयविज्ञानस्य तत्क्षयार्थं तत्क्षये ॥ ४ ॥

---

१ ०परिहारविभागे–सि० । २ यत्र–सि० ।
३. विभावनाधिगमो–सि० ।

तथतालम्बनं ज्ञानमनानाकारभावितम् ।
सदसत्तार्थे प्रत्यक्षं विकल्पविभु चोच्यते ॥ ५ ॥

अनानाकारभावितम् निमित्ततथतयोरनानात्वदर्शनात् । एतेन श्रावकानिमित्ताद् बोधिसत्त्वानिमित्तस्य विशेषः परिदीपितः । ते हि निमित्तयोर्नानात्वम् पश्यन्तु । सर्वनिमित्तानाममनसिकारादनिमित्तस्य च धातोर्मन- [SL 170] सिकारादनिमित्तं समापद्यन्ते । बोधिसत्त्वास्तु तथताव्यतिरेकेण निमित्तमपश्यन्तो निमित्तमेवानिमित्तं पश्यन्ति, तस्तेषां तज्ज्ञानमनानाकारभावितम् । सत्तार्थे च तथतायामसत्तार्थे च निमित्ते प्रत्यक्षं विकल्पविभु चोच्यते । विकल्पविभुत्वलाभाद् यथाविकल्पं सर्वार्थसमृद्धितः ॥ ५ ॥

तत्त्वं सञ्छाद्य बालानामतत्त्वं ख्याति सर्वतः ।
तत्त्वं तु बोधिसत्त्वानां सर्वतः ख्यात्यपास्य तत् ॥ ६ ॥

एतेन यथा बालानां स्वरसेनातत्त्वमेव ख्याति निमित्तं न तत्त्वं तथता । एवं बोधिसत्त्वानां तत्त्वमेव ख्याति नातत्त्वमित्युपदर्शितम् ॥ ६ ॥

अख्यानख्यानता ज्ञेया असदर्थसदर्थयोः ।
आश्रयस्य परावृत्तिर्मोक्षोऽसौ कामचारतः ॥ ७ ॥

असदर्थस्य निमित्तस्याख्यानता सदर्थस्य तथतायाः ख्यानता आश्रयपरावृत्तिर्वेदितव्या । तथा हि तदख्यानं ख्यानं च । सैव च मोक्षो वेदितव्यः । किं कारणम् ? कामचारतः । तदा हि स्वतन्त्रो भवति स्वचित्तवशवर्ती, प्रकृत्यैव निमित्तासमुदाचारात् ॥ ७ ॥

अन्योन्यं तुल्यजातीयः ख्यात्यर्थः सर्वतो महान् ।
अन्तरायकरस्तस्मात् परिज्ञायैनमुत्सृजेत् ॥ ८ ॥

इदं क्षेत्रपरिशोधनोपाययथाभूतपरिज्ञानम्[1] भाजनलोकोऽर्थो[2] महानन्योन्यो वर्तमानस्तुल्यजातीयः ख्याति स एवायमिति । स चैवं ख्यानादन्तरायकरो भवति बुद्धक्षेत्रपरिशुद्धये । तस्मादन्तरायकरं परिज्ञायैनमुत्सृजेदेवं ख्यातम् ॥ ८ ॥

अप्रमेयविभागे श्लोकः—

परिपाच्यं विशोध्यं च प्राप्यं योग्यं च पाचने ।
सम्यक्त्वदेशनावस्तु अप्रमेयं हि धीमताम् ॥ १ ॥

पञ्चविधं हि वस्तु बोधिसत्त्वानामप्रमेयम्—परिपाच्यं वस्तु सत्त्वधातुरविशेषेण, विशोध्यं लोकधातुर्भाजनलोकसंगृहीतः । प्राप्यं धर्मधातु, परिपाचनयोग्यं विनेयधातुः, सम्यग्देशनावस्तु विनयोपायधातुः ॥ १ ॥

---

१. ०शोधनोपाये०–सि० । २. लोकार्थो—सि० ।

देशनाफलविभागे द्वौ श्लोकौ—

बोधिचित्तस्य[1] चोत्पादो नोत्पादक्षान्तिरेव च।
चक्षुश्च निर्मलं हीनमास्रवक्षय एव च॥ १॥
सद्धर्मस्य स्थितिर्दीर्घा व्युत्पत्तिच्छित्तिभोगता। [SL 171]
देशनायाः फलं ज्ञेयं तत्प्रयुक्तस्य धीमतः॥ २॥

देशनायां प्रयुक्तस्य बोधिसत्त्वस्याष्टविधं देशनायाः फलं वेदितव्यम्–श्रोतृषु केचिद् बोधिचित्तमुत्पादयन्ति, केचिदनुत्पत्तिकधर्मक्षान्तिं प्रतिलभन्ते, केचिद्विरजो विगतमलं धर्मेषु धर्मचक्षुरुत्पादयन्ति हीनयानसंगृहीतम्, केचिदास्रवक्षयं प्राप्नुवन्ति, सद्धर्मश्च चिरस्थितिको भवति परम्पराधारणतया, अव्युत्पन्नानामर्थव्युत्पत्तिर्भवति, संशयितानां संशयच्छेदो भवति, विनिश्चितानां सद्धर्मसम्भोगो भवति अनवद्यो प्रीतिरसः॥ १–२॥

महायानमहत्त्वविभागे द्वौ श्लोकौ—

आलम्बनमहत्त्वं च प्रतिपत्तेर्द्वयोस्तथा।
ज्ञानस्य वीर्यारम्भस्य उपाये कौशलस्य च॥ १॥
उदागममहत्त्वं च महत्त्वं बुद्धकर्मणः।
एतन्महत्त्वयोगाद्धि महायानं निरुच्यते॥ २॥

सप्तविधमहत्त्वयोगान्महायानमित्युच्यते – १. आलम्बनमहत्त्वेनाप्रमाणविस्तीर्णसूत्रादिधर्मयोगात्। २. प्रतिपत्तिमहत्त्वेन द्वयोः प्रतिपत्तेः स्वार्थे परार्थे च। ३. ज्ञानमहत्त्वतो द्वयोर्ज्ञानात् पुद्गलनैरात्म्यस्य धर्मनैरात्म्यस्य च प्रतिवेधकाले। ४. वीर्यारम्भमहत्त्वेन त्रीणि कल्पासंख्येयानि सातत्यसत्कृत्यप्रयोगात्। ५. उपायकौशलमहत्त्वेन संसारापरित्यागासंक्लेशतः। ६. समुदागममहत्त्वेन बलवैशारद्यावेणिकबुद्धधर्मसमुदागमात्। ७. बुद्धकर्ममहत्त्वेन च पुनः पुनरभिसम्बोधिमहापरिनिर्वाणसंदर्शनतः॥ १-२॥

महायानसंग्रहविभागे द्वौ श्लोकौ—

गोत्रं धर्माधिमुक्तिश्च चित्तस्योत्पादना तथा।
दानादिप्रतिपत्तिश्च न्यामाक्रान्तिरेव[2] च॥ १॥
सत्त्वानां परिपाकश्च क्षेत्रस्य च विशोधना।
अप्रतिष्ठितनिर्वाणं बोधिः श्रेष्ठा च दर्शना[3]॥ २॥

---

१. बोधिसत्त्वस्य–सि०। २. न्यायावक्रान्तिरेव–सि०।
३. दर्शनात्–सि०।

एतेन दशविधेन वस्तुना कृत्स्नं महायानं संगृहीतम् । तत्र सत्त्वानां परिपाचनं भूमिप्रविष्ठस्य[1] यावत्सप्तम्यां भूमौ वेदितव्यम् । क्षेत्रपरिशोधनम- [SL 172] प्रतिष्ठितनिर्वाणं चाविनिवर्तनीयायां भूमौ त्रिविधायाम् । श्रेष्ठा बोधिर्बुद्धभूमौ । तत्रैव चाभिसम्बोधिमहापरिनिर्वाणसन्दर्शना वेदितव्या । शेषं गतार्थम् ।। १-२ ।।

बोधिसत्त्वविभागे दश श्लोकाः—

आधिमोक्षिक एकश्च शुद्धाध्याशयिकोऽपरः ।
निमित्ते चानिमित्ते च चार्यप्यनभिसंस्कृते ।
बोधिसत्त्वा हि विज्ञेयाः पञ्चैते सर्वभूमिषु ।। १ ।।

तत्र निमित्तचारी द्वितीयां भूमिमुपादाय यावत् षष्ठ्याम् । अनिमित्त-चारी सप्तम्याम् । अनभिसंस्कारचारी परेण । शेषं गतार्थम् ।। १ ।।

कामेष्वसक्तस्त्रिविशुद्धकर्मा क्रोधाभिभूत्यां गुणतत्परश्च ।
धर्मेऽचलस्तत्त्वगभीरदृष्टिर्बोधौ स्पृहावान् खलु बोधिसत्त्वः ।।२।।

एतेन षट्पारमिताप्रतिपत्तितो महाबोधिप्रणिधानतश्च बोभिसत्त्वलक्षणं परिदीपितम् ।। २ ।।

अनुग्रहेच्छोऽनुपघातदृष्टिः परोपघातेष्वधिवासकश्च ।
धीरोऽप्रमत्तश्च बहुश्रुतश्च परार्थयुक्तः खलु बोधिसत्त्वः ।। ३ ।।

तत्र धीर आरब्धवीर्यो दुःखैरविषादात् । अप्रमत्तो ध्यानसुखेष्वसक्तः । शेषं गतार्थम् ।। ३ ।।

आदीनवज्ञः स्वपरिग्रहेषु भोगेष्वसक्तो ह्यनिगूढवैरः ।
योगी निमित्ते कुशलोऽकुदृष्टिरध्यात्मसंस्थः खलु बोधिसत्त्वः ।४।

तत्र भोगेष्वसक्तो यस्तान्विहाय प्रव्रजति । निमित्ते कुशलः शमथादिनि-मित्तत्रयकौशलात् । अध्यात्मसंस्थो महायानाविकम्पनात् । महायानं हि बोधिसत्त्वानामध्यात्मम् । शेषं गतार्थम् ।। ४ ।।

दयान्वितो ह्रीगुणसंनिविष्टो दुःखाधिवासात् स्वसुखेष्वसक्तः ।
स्मृतिप्रधानः सुसमाहितात्मा यानाविकार्यः खलु बोधिसत्त्वः ।।५।।

तत्र स्मृतिप्रधानो ध्यानवान्; स्मृतिबलेन चित्तसमाधानात् । सुसमाहि-[SL 173] तात्मा निर्विकल्पज्ञानः । शेषं गतार्थम् ।। ५ ।।

दुःखापहो दुःखकरो न चैव दुःखाधिवासो न च दुःखभीतः ।
दुःखाद्विमुक्तो न च दुःखकल्पो दुःखाभ्युपेतः खलु बोधिसत्त्वः ।।६।।

---

१. प्रतिष्ठस्य–सि० ।

तत्र दुःखाद्विमुक्तो ध्यानवान्, कामधातुवैराग्याद् दुःखदुःखतामोक्षतः। दुःखाभ्युपेतः संसाराभ्युपगमात्। शेषं गतार्थम् ॥ ६ ॥

धर्मेऽरतो धर्मरतः प्रकृत्या धर्मे जुगुप्सी धरमाभियुक्तः।
धर्मे वशी धर्मनिरन्धकारो धर्मप्रधानः खलु बोधिसत्त्वः ॥ ७ ॥

अत्र धर्मे जुगुप्सी अक्षान्तिजुगुप्सनात्। धर्मे वशी समापत्तौ। धर्मप्रधानो महाबोधिपरमः। धर्म एवात्र धरम उक्तो वृत्तानुवृत्त्या। शेषं गतार्थम् ॥ ७ ॥

भोगाप्रमत्तो नियमाप्रमत्तो रक्षाप्रमत्तः कुशलाप्रमत्तः।
सुखाप्रमत्तो धरमाप्रमत्तो यानाप्रमत्तो खलु बोधिसत्त्वः ॥ ८ ॥

तत्र रक्षाप्रमत्तः क्षान्तिमान् स्वपरचित्तानुरक्षणात्। धर्माप्रमत्तो यथाप्रभूतधर्मप्रज्ञानात्। शेषं गतार्थम् ॥ ८ ॥

विमानलज्जस्तनुदोषलज्ज अमर्षलज्जः परिहाणिलज्जः।
विसारलज्जस्तनुदृष्टिलज्जः[1] यानान्यलज्जः खलु बोधिसत्त्वः ॥९॥

तत्र विमानलज्जो योऽर्थिनो न विमानयति। तनुदोषलज्जोऽणुमात्रेष्ववद्येषु भयदर्शी तनुदृष्टिलज्जो धर्मनैरात्म्यप्रतिवेधी। शेषं गतार्थम्। सर्वैरेभिः श्लोकैः पर्यायान्तरेण षट्पारमिताप्रतिपत्तितो महाबोधिसत्त्वलक्षणं परिदीपितम् ॥ ९ ॥

इहापि चामुत्र उपेक्षणेन संस्कारयोगेन विभुत्वलाभैः।
समोपदशेन[2] महाफलेन अनुग्रहे वर्तति बोधिसत्त्वः ॥ १० ॥

इहैव सत्त्वानामनुग्रहे वर्तते दानेन। अमुत्र शीलेनोपपत्तिविशेषं प्राप्य। संस्कारयोगेनेति वीर्ययोगेन। महाफलेनेति बुद्धत्वेन। शेषं [SL 174] गतार्थम्। एतेन षड्भिः पारमिताभिर्महाबोधिप्रणिधानेन च यथा सत्त्वानुग्रहे बोधिसत्त्वो वर्तते तत्परिदीपितम् ॥ १० ॥

बोधिसत्त्वसामान्यनामविभागे अष्टौ श्लोकाः—

बोधिसत्त्वो महासत्त्वो धीमांश्चैवोत्तमद्युतिः।
जिनपुत्रो जिनाधारो विजेताथ जिनाङ्कुरः ॥ १ ॥
विक्रान्तः परमश्चार्यः सार्थवाहो महायशाः।
कृपालुश्च महापुण्य ईश्वरो धार्मिकस्तथा ॥ २ ॥

एतानि षोडश सर्वबोधिसत्त्वानामन्वर्थनामानि सामान्येन ॥ १-२ ॥

---

१. बिशाल०—सि०। २. शमोपदेशेन—सि०।

सुतत्त्वबोधैः सुमहार्थबोधैः सर्वार्थबोधैरपि[१] नित्यबोधैः ।
उपायबोधैश्च विशेषणेन तेनोच्यते हेतुन बोधिसत्त्वः ॥ ३ ॥

पञ्चविधेन बोधविशेषेण बोधिसत्त्व इत्युच्यते। पुद्गलधर्मनैरात्म्यबोधेन। सर्वाकारसर्वार्थबोधेन, अक्षयावबोधेन परिनिर्वाणसन्दर्शनेऽपि, यथा विनेयं च विनयोपायबोधेन ॥ ३ ॥

आत्मानुबोधात्तनुदृष्टिबोधाद्विचित्रविज्ञप्तिनिबोधतश्च ।
सर्वस्य चाभूतविकल्पबोधात्तेनोच्यते हेतुन बोधिसत्त्वः ॥ ४ ॥

अत्र पुनश्चतुर्विधबोधविशेषं दर्शयति चित्तमनोविज्ञानबोधतः। तेषां चाभूतपरिकल्पत्वावबोधतः। तत्र चित्तमालयविज्ञानम्। मनस्तदालम्बनमात्मदृष्टयादिसम्प्रयुक्तम्। विज्ञानं षड्विज्ञानकायाः ॥ ४ ॥

अबोधबोधादनुबोधबोधादभावबोधात्प्रभवानुबोधात् ।
अबोधबोधप्रतिबोधतश्च तेनोच्यते हेतुन बोधिसत्त्वः ॥ ५ ॥

अत्र पुनः पञ्चविधं बोधविशेषं दर्शयति—अविद्याबोधात्, विद्याबोधात्, परिकल्पितादिस्वभावत्रयबोधाच्च। तत्राबोधत्वेन बोधप्रतिबोधात् परिनिष्पन्नस्वभावबोधो वेदितव्यः ॥ ५ ॥

अनर्थबोधात्परमार्थबोधात्सर्वार्थबोधात् सकलार्थबोधात् ।
बोद्धव्यबोधाश्रयबोधबोधात् तेनोच्यते हेतुन बोधिसत्त्वः ॥ ६ ॥

[SL 175] अत्र पञ्चविधं बोधिविशेषं दर्शयति–परतन्त्रलक्षणबोधात्, परिनिष्पन्नलक्षणबोधात्, परिकल्पितलक्षणबोधात्, सर्वज्ञेयसर्वाकारबोधात्, बोध्यबोधकबोधत्रिमण्डलपरिशुद्धिबोधाच्च[२] ॥ ६ ॥

निष्पन्नबोधात् पदबोधतश्च गर्भानुबोधात् क्रमदर्शनस्य ।
बोधाद् भृशं संशयहानिबोधात् तेनोच्यते हेतुन बोधिसत्त्वः ॥७॥

तत्र निष्पन्नबोधो बुद्धत्वम्, पदबोधो येन तुषितभवने वसति, गर्भानुबोधो येन मातुः कुक्षिमवक्रामति, क्रमदर्शने बोधो येन गर्भान्निष्क्रमणं कामपरिभोगं प्रव्रज्यां दुष्करचर्यामभिसम्बोधिं च दर्शयति, भृशं संशयहानिबोधो येन सर्वसंशयच्छेदाय सत्त्वानां धर्मचक्रं प्रवर्तयति ॥ ७ ॥

लाभी ह्यलाभी धीसंस्थितश्च बोद्धानुबोद्धा प्रतिदेशकश्च ।
निर्जल्पबुद्धिर्हतमानमानी ह्यपक्वसंपक्वमतिश्च धीमान् ॥ ८ ॥

---

१. सर्वावबोधैरपि–सि० । २. ०बोधकबोधि०—सि० ।

अत्रैकादशविधेनातीतादिना बोधेन बोधिसत्त्वः परिदीपितः। तत्र लाभी आलाभी धीसंस्थितश्चातीतानागतप्रत्युत्पन्नैर्बोधैर्यथाक्रमम्। बोद्धा स्वयम्बोधात्। अनुबोद्धा परतो बोधात्। एतेनाध्यात्मिकबाह्यं बोधं दर्शयति। प्रतिदेशको निर्जल्पबुद्धिरित्यौदारिकसूक्ष्मम्। मानी हतमानीति हीनप्रणीतम्। अपक्वसंपक्वमतिश्चेति दूरान्तिकं बोधं दर्शयति ॥ ८ ॥

॥ इति महायानसूत्रालंकारे गुणाधिकारः एकोनविंशः ॥

२० २१

विंश एकविंशश्च चर्याप्रतिष्ठाधिकारः

लिङ्गविभागे द्वौ श्लोकौ—

अनुकम्पा प्रियाख्यानं धीरता मुक्तहस्तता ।
गम्भीरसंधिनिर्मोक्षो लिङ्गान्येतानि धीमताम् ।। १ ।।

परिग्रहेऽधिमुक्त्याप्तावखेदे द्वयसंग्रहे ।
आशयाच्च प्रयोगाच्च विज्ञेयं लिङ्गपञ्चकम् ।। २ ।।

तत्र प्रथमेन श्लोकेन पञ्च बोधिसत्त्वलिङ्गानि दर्शयति । [SL 176] द्वितीयेन तेषां कर्म समाससंग्रहं च । तत्रानुकम्पा बोधिचित्तेन सत्त्वपरिग्रहार्थं प्रियाख्यानं सत्त्वानां बुद्धशासनाधिमुक्तिलाभार्थं धीरता दुष्करचर्यादिभिरखेदार्थं मुक्तहस्तता गम्भीरसन्धिनिर्मोक्षणं च । द्वयेन संग्रहार्थमामिषेण धर्मेण च यथाक्रमम् । एषां पञ्चानां लिङ्गानाम् अनुकम्पा आशयतो वेदितव्या । शेषाणि प्रयोगतः ।। १-२ ।।

गृहिप्रव्रजितपक्षबिभागे त्रयः श्लोकाः—

बोधिसत्त्वा हि सतत भवन्तश्चक्रवर्तिनः ।
प्रकुर्वन्ति हि सत्त्वार्थं गृहिणः सर्वजन्मसु ।। १ ।।
आदानलब्धा प्रव्रज्या धर्मतोपगता परा ।
निदर्शिका च प्रव्रज्या धीमतां सर्वभूमिषु ।। २ ।।
अप्रमेयैर्गुणैर्युक्तः पक्षः प्रव्रजितस्य तु ।
गृहिणो बोधिसत्त्वाद्धि यतिस्तस्माद्विशिष्यते ।। ३ ।।

एकेन श्लोकेन यादृशे गृहिपक्षे स्थितो बोधिसत्त्वः सत्त्वार्थं करोति तत् परिदीपितम् । द्वितीयेन यादृशे प्रव्रजितपक्षे । तत्र त्रिविधा प्रव्रज्या वेदितव्या—समादानलब्धा, धर्मतालब्धा, निदर्शिका च निर्माणैः । तृतीयेन प्रव्रजितपक्षस्य विशेषः परिदीपितः ।। १-३ ।।

अध्याशयविभागे श्लोकः षट्पादः—

परत्रेष्टफलेच्छा च शुभवृत्ताविहैव च ।
निर्वाणेच्छा च धीराणां सत्त्वेष्वाशय इष्यते ।
अशुद्धश्च विशुद्धश्च सुविशुद्धः सर्वभूमिषु ।। १ ।।

एतेन समासतः पञ्चविधोऽध्याशयः परिदीपितः। सुखाध्याशयः। परत्रेष्टफलेच्छाहिताध्याशयः इहैव कुशलप्रवृत्तीच्छा निर्वाणेच्छा तदुभयाध्याशय एवेति नान्यो वेदितव्यः। अशुद्धादिकास्त्रयोऽध्याशया अप्रविष्टानाम्, भूमिप्रविष्टानाम्, अविनिवर्तनीयभूमिप्राप्तानां च यथाक्रमं वेदितव्याः॥

परिग्रहविभागे श्लोकः—

प्रणिधानात् समाच्चित्तादाधिपत्यात् परिग्रहः।
गणस्य कर्षणत्वाच्च धीमतां सर्वभूमिषु॥ १॥

चतुर्विधः सत्त्वपरिग्रहो बोधिसत्त्वानाम्—१. प्रणिधानपरिग्रहो वेदितव्यो बोधिचित्तेन सर्वसत्त्वपरिग्रहणात्, २ समचित्ततापरिग्रहः [SL177] आत्मपरसमतालाभादभिसमयकाले, ३ आधिपत्यपरिग्रहः स्वामिभूतस्य येषामसौ स्वामी, ४. गणपरिकर्षणपरिग्रहश्च शिष्यगणोपादनात्॥ १॥

उपपत्तिविभागे श्लोकः—

कर्मणश्चाधिपत्येन प्रणिधानस्य चापरा।
समाधेश्च विभुत्वस्य चोत्पत्तिर्धीमतां मता॥ १॥

चतुर्विधा बोधिसत्त्वानामुपपत्तिः कर्माधिपत्येन याधिमुक्तिचर्याभूमिस्थितानां कर्मवशेनाभिप्रेतस्थानोपपत्तिः, प्रणिधानवशेन या भूमिप्रविष्टानां सर्वसत्त्वपरिपाचनार्थं तिर्यगादिहीनस्थानोपपत्तिः, समाध्याधिपत्येन या ध्यानानि व्यावर्त्य कामधातावुपपत्तिः, विभुत्वाधिपत्येन या निर्माणैस्तुषितभवनाद्युपपत्तिसन्दर्शनात्॥ १॥

विहारभूमिविभागे द्वात्रिंशत्[1] श्लोकाः। तत्र प्रथम उदानश्लोकः—

लक्षणात् पुद्गलाच्छिक्षास्कन्धनिष्पत्तिलिङ्गतः।
निरुक्तेः प्राप्तितश्चैव विहारो भूमिरेव च॥ १॥

१. लक्षणविभागमारभ्य पञ्च श्लोकाः—

१. शून्यता परमात्मस्य कर्मानाशे[2] व्यवस्थितिः।
विहृत्य ससुखैर्ध्यानैर्जन्म कामे ततः परम्॥ २॥

२. ततश्च बोधिपक्षाणां संसारे परिणामना।
विना च चित्तसंक्लेशं सत्त्वानां परिपाचना॥ ३॥

३. उपपत्तौ च सञ्चित्य संक्लेशस्यानुरक्षणा।
एकायनपथश्लिष्टाऽनिमित्तैकान्तिकः पथः॥ ४॥

---

१. त्रिंशत्–सि०, मि०। २. कर्मनाशे–सि०।

४. अनिमित्तेऽप्यनाभोगः क्षेत्रस्य च विशोधना ।
सत्त्वपाकस्य निष्पत्तिर्जायते च ततः परम् ।। ५ ।।
५ समाधिधारणीनां च बोधेश्चैव विशुद्धता ।
एतस्माच्च व्यवस्थानाद् विज्ञेयं भूमिलक्षणम् ।। ६ ।।

एकादश विहारा एकादश भूमयः। तेषां लक्षणम्—

प्रथमायां भमौ परमशून्यताभिसमयो लक्षणं पुद्गलधर्मनैरात्म्याभिसमयात् ।

द्वितीयायां कर्मणामविप्रणाशव्यवस्थानं कुशलाकुशलकर्मपथतत्फलवैचित्र्यज्ञानात् ।

तृतीयायां सातिशयसुखैर्बोधिसत्त्वध्यानैर्विहृत्यापरिहीणस्यैव तेभ्यां कामधातावुपपत्तिः ।

चतुर्थ्यां बोधिरक्षबहुलविहारिणोऽपि बोधिपक्षाणां संसारे परिणामना ।

पञ्चम्यां चतुरार्यसत्यबहुलविहारितयाविनात्मनश्चित्तसंक्लेशेन सत्त्वान नानाशास्त्रशिल्पप्रणयनात् ।

[SL 178] षष्ठयां प्रतीत्यसमुत्पादबहुलविहारितया सञ्चित्यभवोपपत्तौ तत्र संक्लेशस्यानुरक्षणा ।

सप्तम्यां मिश्रोपमिश्रत्वेनैकायनपथस्याष्टमस्य विहारस्य श्लिष्ट आनिमित्तिकैकान्तिको मार्गः ।

अष्टम्यामनिमित्तेऽप्यनाभोगो निरभिसंस्कारानिमित्तविहारित्वाद् बुद्धक्षेत्रपरिशोधना च ।

नवम्यां प्रतिसंविद्वशितया सत्त्वपरिपाकनिष्पत्तिः सर्वाकारपरिपाचनसामर्थ्यात् ।

दशम्यां समाधिमुखानां धारणीमुखानां च विशुद्धता ।

एकादश्यां बुद्धभूमौ बोधिविशुद्धता लक्षणं[१] सर्वज्ञेयावरणप्रहाणात् ।।

२. भूमिष्वेव[२] पुद्गलविभागमारभ्य द्वौ श्लोकौ—

१. विशुद्धदृष्टिः सुविशुद्धशीलः समाहितो धर्मविभूतमानः ।
सन्तानसंक्लेशविशुद्धिभेदे निर्माण एकक्षणलब्धबुद्धिः ।। ७ ।।
२. उपेक्षकः क्षेत्रविशोधकश्च स्यात्सत्त्वपाके कुशलो महर्धिः ।
सम्पूर्णकायश्च निदर्शने च शक्तोऽभिषिक्तः खलु बोधिसत्त्वः ।।८।।

---

१. लक्षणां–सि० । २. भूमिष्ठे च–सि० ।

दशसु भूमिषु दश बोधिसत्त्वा व्यवस्थाप्यन्ते—

प्रथमायां विशुद्धदृष्टिः, पुद्गलधर्मदृष्टिप्रतिपक्षज्ञानलाभात्।

द्वितीयायां सुविशुद्धशीलः, सूक्ष्मापत्तिस्खलितसमुदाचारस्याप्यभावात्।

तृतीयायां समाहितो भवति, अच्युतध्यानसमाधिलाभात्।

चतुर्थ्यां धर्मविभूतमानः, सूत्रादिधर्मनानात्वमानस्य विभूतत्वात्।

पञ्चम्यां सन्तानभेदे निर्माणः, दशभिश्चित्ताशयविशुद्धिसमताभिः सर्वसन्तानसमताप्रवेशात्।

षष्ठ्यां संक्लेशव्यवदानभेदे निर्माणः प्रतीत्यसमुत्पादतथताबहुलविहारितया कृष्णशुक्लपक्षाभ्यां तथतायाः संक्लेशव्यवदानादर्शनात् प्रकृतिविशुद्धितामुपादाय।

सप्तम्यामेकचित्तक्षणलब्धबुद्धिः, निर्निमित्तविहारसामर्थ्यात् प्रतिक्षणं सप्तत्रिंशद्बोधिपक्षभावनातः।

अष्टम्यामुपेक्षकः क्षेत्रविशोधकश्च, अनाभोगनिर्निमित्तविहारित्वाद् मिश्रोपमिश्रप्रयोगतश्चाविनिवर्तनीयभूमिप्रविष्टैर्बोधिसत्त्वैः।

नवम्यां सत्त्वपरिपाककुशलः पूर्ववत्।

दशम्यां बोधिसत्त्वभूमौ बोधिसत्त्वो महर्द्धिकश्च व्यवस्थाप्यते, महाभिज्ञालाभात्; सम्पूर्णधर्मकायश्चाप्रमाणसमाधिधारणीमुखस्फुरणाश्रयस्य निदर्शने च शक्तो व्यवस्थाप्यते, तुषितभवनवासादिनिर्माणनिदर्शनात्। अभिषिक्तश्च बुद्धत्वे; सर्वबुद्धेभ्यस्तत्राभिषेकलाभात्॥ ७-८॥

३. शिक्षाव्यवस्थानमारभ्य पञ्च श्लोकाः—

१. धर्मतां प्रतिविध्येह अधिशीलेऽनुशिक्षणा[1]।
अधिचित्तेऽप्यधिप्रज्ञे प्रज्ञा तु द्वयगोचरा॥ ९॥

२. धर्मतत्त्वं तदज्ञानज्ञानाद्या वृत्तिरेव च।
प्रज्ञाया गोचरस्तस्माद् द्विभूमौ तद्व्यवस्थितिः॥ १०॥

३. शिक्षाणां भावनायाश्च फलमन्यच्चतुर्विधम्।
अनिमित्तससंस्कारो विहारः प्रथमं फलम्॥ ११॥

४. स एवानभिसंस्कारो द्वितीयं फलमिष्यते।
क्षेत्रशुद्धिश्च सत्त्वानां पाकनिष्पत्तिरेव च॥ १२॥

५. समाधिधारणीनां च निष्पत्तिः परमं फलम्। SL 179]
चतुर्विधं फलं ह्येतत् चतुर्भूमिसमाश्रितम्॥ १३॥

---

१. ०नुशिक्षणे–सि०।

प्रथमायां भूमौ धर्मतां प्रतिविध्य, द्वितीयायामधिशीलं शिक्षते । तृतीयायामधिचित्तम् । चतुर्थीपञ्चमीषष्ठीष्वधिप्रज्ञम् । बोधिपक्षसंगृहीता हि प्रज्ञा चतुर्थ्यां भूमौ । सा पुनर्द्वयगोचरा भूमिद्वये । द्वयं पुनर्धर्मतत्त्वं च दुःखादिसत्यम् । तदज्ञानज्ञानादिका च वृत्तिरनुलोमः प्रतिलोमः[1] प्रतीत्यसमुत्पादः । तदज्ञानादिका हि वृत्तिरविद्यादिका । तज्ज्ञानादिका च वृत्तिर्विद्यादिका । तस्माद् भूमिद्वयेऽप्यधिप्रज्ञव्यवस्थानम् । अतः परं चतुर्विधं शिक्षाफलं चतुर्भूमिसमाश्रितं वेदितव्यं यथाक्रमम्, तत्र प्रथमं[2] फलम् अनिमित्तो विहारः ससंस्कारः[2] । द्वितीयं फलं स एवानिमित्तो विहारोऽनभिसंस्कारः क्षेत्रपरिशुद्धिश्च वेदितव्यम् । शेषं गतार्थम् ॥ ९–१३ ॥

४. स्कन्धव्यवस्थानमारभ्य द्वौ श्लोकौ—

१. धर्मतां प्रतिविध्येह शीलस्कन्धस्य शोधना ।
समाधिप्रज्ञास्कन्धस्य तत ऊर्ध्वं विशोधना ॥ १४ ॥

२. विमुक्तिमुक्तिज्ञानस्य तदन्यासु विशोधना ।
चतुर्विधाद्यावरणात् प्रतिघातावृतेरपि ॥ १५ ॥

तदन्यास्विति । सप्तम्यां यावद् बुद्धभूमावुभयोर्विमुक्तिविमुक्तिज्ञानयोर्विशोधना । सा पुनर्विमुक्तिश्चतुर्विधफलावरणाच्च वेदितव्या । प्रतिघातावरणाच्च बुद्धभूमौ, येनान्येषां ज्ञेये ज्ञानं प्रतिहन्यते । बुद्धानां तु तद्विमोक्षात् सर्वत्राप्रतिहतं ज्ञानम् । शेषं गतार्थम् ॥ १४-१५ ॥

५. निष्पत्तिव्यवस्थानमारभ्य त्रयः श्लोकाः—

१. अनिष्पन्नाश्च निष्पन्ना विज्ञेयाः सर्वभूमयः ।
निष्पन्ना अप्यनिष्पन्ना निष्पन्नाश्च पुनर्मताः ॥ १६ ॥

२. निष्पत्तिर्विज्ञेया यथाव्यवस्थानमनसिकारेण ।
तत्कल्पनताज्ञानादविकल्पनया च तस्यैव ॥ १७ ॥

३. भावना अपि निष्पत्तिरचिन्त्यं सर्वभूमिषु ।
प्रत्यात्मवेदनीयत्वात् बुद्धानां विषयादपि ॥ १८ ॥

[SL 180] तत्राधिमुक्तिचर्याभूमिरनिष्पन्ना, शेषा निष्पन्ना इत्येताः सर्वभूमयः । निष्पन्ना अपि पुनः सप्तानिष्पन्नाः शेषा निष्पन्नाः, निरभिसंस्कारवाहित्वात् । यत्पुनः प्रमुदितादिभूमिर्निष्पन्ना पूर्वमुक्ता, तत्र निष्पत्तिर्यथाव्यवस्थापितभूमिमनसिकारेण । तस्य भूमिव्यवस्थानस्य कल्पना-

---

१. सि० पुस्तके नास्ति । २--२ सि० पुस्तके नास्ति ।

मात्रज्ञानात् तदविकल्पनया[1] च वेदितव्या। यदा तद्भूमिव्यवस्थानं कल्पनामात्रं जानीते। तदपि च कल्पनामात्रं न विकल्पयति। एवं ग्राह्यग्राहकाविकल्पज्ञानालाभाद् भूमिपरिनिष्पत्तिरुक्ता भवति। अपि खलु भूमीनां भावना च, निष्पत्तिश्च--उभयमचिन्त्यं सर्वभूमिषु। तथा हि तद्बोधिसत्त्वानां प्रत्यात्मवेदनीयम्, बुद्धानां च विषयो नान्येषाम् ।। १६-१८ ।।

६. भूमिप्रविष्टस्य[2] लिङ्गविभागमारभ्य द्वौ श्लोकौ—

१. अधिमुक्तिर्हि सर्वत्र सालोका लिङ्गमिष्यते।
अलीनत्वमदीनत्वमपरप्रत्ययात्मता ।। १९ ।।
२ प्रतिवेधश्च सर्वत्र सर्वत्र समचित्तता।
अनेयानुनयोपायज्ञानं मण्डलजन्म च ।। २० ।।

एतद्भूमिप्रविष्टस्य बोधिसत्त्वस्य दशविधं लिङ्गं सर्वासु भूमिषु वेदितव्यम्। यां भूमिं प्रविष्टस्तत्र सालोकैः, यां न प्रविष्टस्तत्राधिमुक्तिरित्येतदेकं लिङ्गम्। अलीनत्वं परमोदारगम्भीरेषु धर्मेषु। अदीनत्वं दुष्करचर्यासु। अपरप्रत्ययत्वं स्वस्यां भूमौ। सर्वभूमिप्रतिवेधश्च तदभिनिर्हारकौशलतः। सर्वसत्त्वेष्वात्मसमचित्तता। अनेया वर्णावर्णशब्दाभ्याम्। अननुनयश्चक्रवर्तीत्यादिसम्पत्तिषु। उपायकौशलमनुपलम्भस्य[3] बुद्धत्वोपायज्ञानात्। बुद्धपर्षन्मण्डलेषु चोत्पत्तिः सर्वकालमित्येतानि अपराणि लिङ्गानि बोधिसत्त्वस्य ।।

भूमिषु पारमितालाभलिङ्गविभागे द्वौ श्लोकौ—

१. नाच्छन्दो न च लुब्धह्रस्वहृदयो न क्रोधनो नालसो
नामैत्रीकरुणाशयो न कुमतिः कल्पैर्विकल्पैर्हृतः।
नो विक्षिप्तमतिः सुखैर्न च हतो दुखैर्न व्यावर्तते[4]
सत्यं मित्रमुपाश्रितः श्रुतपरः पूजापरः शास्तरि ।।२१।।
२. सर्वं पुण्यसमुच्चयं सुविपलं कृत्वान्यसाधारणं
सम्बोधौ परिणामयत्यहरहर्यो ह्युत्तमोपायवित्।
जातः स्वायतने सदा शुभकरः क्रीडत्यभिज्ञागुणैः [SL 181]
सर्वेषामुपरिस्थितो गुणनिधिर्ज्ञेयः स बुद्धात्मजः ।।२२।।

दशपारमितालभिनो बोधिसत्त्वस्य षोडशविधं लिङ्गं दर्शयति। षोडशविधं लिङ्गम्—१. सदा पारमिताप्रतिपत्तिच्छन्देनाविरहितत्वम्। २. षट्पापारमिताविपक्षैश्च रहितत्वं प्रत्येकम्। ३. अन्ययानमनसिकारेणावि-

---

१. तदविकल्पना–सि०। २. भूमिप्रतिष्ठस्य--सि०।
३.० नुपलम्भस्तस्य--सि०। ४. वा वर्तते–सि०।

क्षिप्तता । ४. सम्पत्तिसुखेष्वसक्तता । ५. विपत्तिदुष्करचर्यादुःखैः प्रयोगानिर्वर्तिता । ६. कल्याणमित्राश्रयः । ७. श्रुतपरत्वम् । ८. शास्तृपूजापरत्वम् । ९. सम्यक्परिणामना उपायकौशलपारमितया । १०. स्वायतनोपपत्तिः प्रणिधानपारमितया बुद्धबोधिसत्त्वाविरहितस्थानोपपत्तेः । ११. सदाशुभकरत्वम्[१]; बलपारमितया तद्विपक्षधर्माव्यवकिरणात् । १२. अभिज्ञागुणविक्रीडनं च ज्ञानपारमितया । १३. तत्र मैत्री व्यापादप्रतिपक्षः सुखोपसंहाराशयः । १४. करुणा विहिंसाप्रतिपक्षो दुःखापगमाशयः । १५. स्वभावकल्पनं कल्पः । १६. विशेषकल्पनं विकल्पो वेदितव्यः ॥ २१–२२ ॥

तत्रैवानुशंसविभागे श्लोकः—

१. शमथे विपश्यनायां च द्वयपञ्चात्मको मतः ।
धीमतामनुशंसो हि सर्वथा सर्वभूमिषु ॥ २३ ॥

तत्रैव पारमितालाभे सर्वभूमिषु बोधिसत्त्वानां सर्वप्रकारोऽनुशंसः पञ्चविधो वेदितव्यः—प्रतिक्षणं सर्वदौष्ठुल्याश्रयं द्रावयति, नानात्वसंज्ञाविगतिं च धर्मारामरतिः प्रतिलभते, अपरिच्छिन्नाकारं च सर्वतोऽप्रमाणं धर्मावभासं सञ्जानीते, अविकल्पितानि चास्य विशुद्धिभागीयानि निमित्तानि समुदाचरन्ति, धर्मकायपरिपूरिपरिनिष्पत्त्यै च उत्तरादुत्तरतरं हेतुसम्परिग्रहं करोति । तत्र प्रथमद्वितीयौ शमथपक्षे वेदितव्यौ, तृतीयचतुर्थौ विपश्यनापक्षे, शेषमुभयपक्षे ॥२३॥

७. भूमिनिरुक्तिविभागे नव श्लोकाः—

१. पश्यतां बोधिमासन्नां सत्त्वार्थस्य च साधनम् ।
तीव्र उत्पद्यते मोदो मुदिता तेन कथ्यते ॥ २४ ॥

अत्र न किञ्चिद् व्याख्येयम् ॥ २४ ॥

२. दौःशील्याभोगवैमल्याद् विमला भूमिरुच्यते ।

[SL 182] दौःशील्यमलस्यान्ययानमनसिकारमलस्य चातिक्रमाद् विमलेत्युच्यते, 'तस्मात्तर्ह्य स्माभिस्तुल्याभिनिर्हारे सर्वाकारपरिशोधनाभिनिर्हार एव योगः करणीयः'' इति वचनात् ।

महाधर्मावभासस्य करणाच्च प्रभाकरी ॥ २५ ॥

तथा हि तस्यां समाधिबलेनाप्रमाणधर्मपर्येषणधारणात् महान्तं धर्मावभासम् परेषां करोति ॥२५॥

---

१. शुभकरत्वे–सि० ।

३. अर्चिर्भूता यतो धर्मा बोधिपक्षाः प्रदाहकाः ।
अर्चिष्मतीति तद्योगात् सा भूमिर्द्वयदाहतः ॥ २६ ॥

सा हि बोधिपक्षात्मिका प्रज्ञा द्वयदहनप्रत्युपस्थाना तस्यां बाहुल्येन। द्वयं पुनः—क्लेशावरणं ज्ञेयावरणं चात्र वेदितव्यम् ॥२६॥

४. सत्त्वानां परिपाकश्च स्वचित्तस्य च रक्षणा ।
धीमद्भिर्जीयते दुःखं दुर्जया तेन कथ्यते ॥२७॥

तत्र सत्त्वपरिपाकाभियुक्तोऽपि न संक्लिश्यते। सत्त्वविप्रतिपत्त्या तच्चोभयं दुष्करत्वाद् दुर्जयम् ॥ २७ ॥

५. आभिमुख्याद् द्वयस्येह संसारस्यापि निर्वृतेः ।
उक्ता ह्यभिमुखी भूमिः प्रज्ञापारमिताश्रयात् ॥ २८ ॥

सा हि प्रज्ञापारमिताश्रयेण निर्वाणसंसारयोरप्रतिष्ठानात् संसारनिर्वाणयोरभिमुखी ॥ २८ ॥

६. एकायनपथश्लेषाद् भूमिर्दूरङ्गमा मता ।

एकायनपथः पूर्वं निर्दिष्टः, तदुपश्लिष्टत्वात् दूरं गता भवति; प्रयोगपर्यन्तगमनात् ।

द्वयसंज्ञाविचलनाद् अचला च निरुच्यते ॥ २९ ॥

द्वाभ्यां संज्ञाभ्यां अविचलनात् । निमित्ताभोगसंज्ञया[1], अनिमित्ताभोगसंज्ञया च ॥ २९ ॥

७. प्रतिसंविन्मतिसाधुत्वाद् भूमिः साधुमती मता ।

प्रतिसंविन्मतेः साधुत्वादिति । प्रधानत्वात् । [SL 183]

धर्ममेघा द्वयव्याप्तेर्धर्माकाशस्य मेघवत् ॥ ३० ॥

द्वयव्याप्तेरिति । समाधिमुखधारिणीमुखव्यापनान्मेघेनेवाकाशस्थलीयस्याश्रयसन्निविष्टस्य श्रुतधर्मस्य धर्ममेघेत्युच्यते ॥ ३० ॥

८. विविधे शुभनिर्हारे रत्या विहरणात् सदा ।
सर्वत्र बोधिसत्त्वानां विहारभूमयो मताः ॥ ३१ ॥

विविधकुशलाभिनिर्हारनिमित्तं सदा सर्वत्र रत्या विहरणाद्बोधिसत्त्वानां भूमयो विहारा इत्युच्यन्ते ॥ ३१ ॥

९. भूयो भूयोऽमितास्वासु ऊर्ध्वङ्गमनयोगतः ।
भूतामिताभयार्थाय त एवेष्टा हि भूमयः ॥ ३२ ॥

---

१. निमित्तसंज्ञया–सि० ।

भूयो भूयोऽमितास्वासूर्ध्वङ्गमनयोगाद् भूतामिताभयार्थाय त एव विहाराः पुनर्भूमय उच्यन्ते। अमितास्विति। दशसु भूमिषु; एकैकस्याप्रमाणत्वात्। ऊर्ध्वगमनयोगादिति। उपरिभूमिगमनयोगात्। भूतामिताभयार्थमिति। अमितानां भूतानां भयप्रहाणार्थम्॥ ३२॥

८. प्राप्तिविहारविभागे[1] श्लोकः—

भूमिलाभो[2]ऽधिमुक्तेश्च चरितेषु च वर्तनात्।
प्रतिवेधाच्च भूमीनां निष्पत्तेश्च चतुर्विधः॥ १॥

चतुर्विधो भूमीनां लाभः। अधिमुक्तिलाभो यथोक्ताधिमुक्तितोऽधिमुक्तिचर्याभूमौ। चरितलाभो दशसु धर्मचरितेषु वर्तनात्तस्यामेव। प्रतिवेधलाभः[3] परमार्थप्रतिवेधतो भूमिप्रदेशे। निष्पत्तिलाभश्चाविनिवर्तनीयभूमिप्रवेशे॥

चर्याविभागे श्लोकः षट्पादः—

महायानेऽधिमुक्तानां हीनयाने च देहिनाम्।
द्वयोरावर्जनार्थाय विनयाय च देशिताः।
चर्याश्चतस्रो धीराणां यथासूत्रानुसारतः॥ १॥

तत्र पारमिताचर्या महायानाधिमुक्तानामर्थे देशिता। बोधिपक्षचर्या श्रावकप्रत्येकबुद्धयानाधिमुक्तानाम्। अभिज्ञाचर्या द्वयोरपि महायानहीनयानाधिमुक्तयोः प्रभावेणावर्जनार्थम्। सत्त्वपरिपाकचर्या द्वयोरेव परिपाचनार्थम्। परिपाचनं ह्यत्र विनयनम्॥ १॥ [SL 184]

बुद्धगुणविभागे बहवः श्लोकाः। अप्रमाणविभागे तद् बुद्धस्तोत्रमारभ्यैकः—

अनुकम्पकसत्त्वेषु संयोगविगमाशय।
अवियोगाशय सौख्यहिताशय नमोऽस्तु ते॥ १॥

अत्र[4] अनुकम्पकत्वं सत्त्वेषु हितसुखाशयत्वेन सन्दर्शितम्। सुखाशयत्वं पुनः सुखसंयोगाशयत्वेन मैत्र्या। दुःखवियोगाशयत्वेन च करुणया। सुखावियोगाशयत्वेन च मुदितया। हिताशयत्वमुपेक्षया। सा पुनर्निःसंक्लेशताशयलक्षणा वेदितव्या॥ १॥

विमोक्षाभिभ्वायतनकृत्स्नायतनविभागे श्लोकः—

सर्वावरणनिर्मुक्त सर्वलोकाभिभू मुने।
ज्ञानेन ज्ञेयं व्याप्तं ते मुक्तचित्त नमोऽस्तु ते॥ १॥

---

१. प्रतिविहारे—सि०।
२. भूमिलाभे—सि०।
३ परमार्थलाभः—सि०।
४ सि० पुस्तके नास्ति।

अत्र विमोक्षविशेषं भगवतः सर्वक्लेशज्ञेयावरणनिर्मुक्ततया दर्शयति। अभिभ्वायतनविशेषं सर्वलोकाभिभुत्वेन स्वचित्तवशवर्तनाद् यथेष्टालम्बन-निर्माणपरिणामनताधिष्ठानतः। कृत्स्नायतनविशेषं सर्वज्ञेयज्ञानव्याप्तः[1]। अत एव विमोक्षादिगुण-विपक्षमुक्तत्वात् मुक्तचित्तः ॥ १ ॥

अरणाविभागे श्लोकः—

अशेषं सर्वसत्त्वानां सर्वक्लेशविनाशक।
क्लेशप्रहारक क्लिष्टसानुक्रोश नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

अत्रारणादिविशेषं भगवतः सर्वसत्त्वक्लेशविनयनादुत्पादितक्लेशेष्वपि च तत्क्लेशप्रतिपक्षविधानात् क्लिष्टजनानुकम्पया सन्दर्शयति। अन्ये ह्यरणा-विहारिणः सत्त्वानां कस्यचिदेव तदालम्बनस्य क्लेशस्योत्पत्तिप्रत्ययमात्रं प्रतिहरन्ति। न तु क्लेशसन्तानादपनयन्ति ॥ १ ॥

प्रणिधिज्ञानविभागे[2] श्लोकः—

अनाभोग निरासङ्ग अव्याघात समाहित।
सदैव सर्वप्रश्नानां विसर्जक नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

अत्र पञ्चभिराकारैः प्रणिधिज्ञानविशेषं भगवतः संदर्शयति—अनाभोग-सम्मुखीभावतः। असक्तिसम्मुखीभावतः, सर्वज्ञेयाव्याघाततः, सदा [SL 185] समाहितत्वतः, सर्वसंशयच्छेदनतश्च सत्त्वानाम्। अन्ये हि प्रणिधिज्ञानलाभिनो नानाभोगेनाप्रणिधाय[3] प्रणिधिज्ञानं सम्मुखीकुर्वन्ति। न चासक्तं समापत्ति-प्रवेशापेक्षत्वात्। न चाव्याहतं प्रदेशज्ञानात्। न च सदा समाहिता भवन्ति, न च सर्वसंशयांश्छिन्दन्ति ॥ १ ॥

प्रतिसंविद्विभागे श्लोकः—

आश्रयेऽथाश्रिते देश्ये वाक्ये ज्ञाने च देशिके।
अव्याहतमते नित्यं सुदेशिक नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

अत्र समासतो यच्च देश्यते येन च देश्यते तत्र नित्यमव्याहतमतित्वेन भगवतश्चतस्रः प्रतिसंविदो देशिताः। तत्र द्वयं देश्यते—आश्रयश्च धर्मः, तदाश्रितश्चार्थः। द्वयेन देश्यते—वाचा, ज्ञानेन च। सुदेशिकत्वेन तासां कर्म सन्दर्शितम् ॥ १ ॥

---

१. सर्वज्ञेयज्ञानाव्याघाततः—सि०। २. प्रणिधिज्ञानविशेषे—सि०।
३. नानाभोगान०—सि०।

अभिज्ञाविभागे श्लोकः—

उपेत्य वचनैस्तेषां चरिज्ञ आगतौ गतौ ।
निःसारे चैव सत्त्वानां स्ववबाद नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

अत्र षड्भिरभिज्ञाभिः सम्यगववादत्वं भगवतो दर्शितम् । उपेत्य विनेयसकाशमृद्धचभिज्ञया । तेषां भाषया दिव्यश्रोत्राभिज्ञया चित्तचरित्रं ज्ञात्वा चेतःपर्यायाभिज्ञया यथा पूर्वान्तादिहागतिर्यथा चापरान्ते गतिर्यथा च संसारान्निःसरणम्; तत्राववादं ददात्यवशिष्टाभिस्तिसृभिरभिज्ञाभिर्यथाक्रमम् ॥ १ ॥

लक्षणानुव्यञ्जनविभागे श्लोकः—

सत्पौरुषं प्रपद्यन्ते त्वां दृष्ट्वा सर्वदेहिनः ।
दृष्टमात्रात् प्रसादस्य विधायक नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

अत्र लक्षणानुव्यञ्जनानां भगवति महापुरुषत्वसम्प्रत्ययेन दर्शनमात्रात् परेषां प्रसादजनकत्वं कर्म सन्दर्शितम् ॥ १ ॥

परिशुद्धिविभागे श्लोकः—

आदानस्थानसन्त्यागनिर्माणपरिणामने ।
समाधिज्ञानवशितामनुप्राप्त नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

अत्र भगवतश्चतुर्विधया वशितया सर्वाकाराश्चतस्रः [SL 186] परिशुद्धयः परिदीपिताः । आश्रयपरिशुद्धिरात्मभावस्यादानस्थानत्यागवशितया । आलम्बनपरिशुद्धिर्निर्माणपरिणामनवशितया । चित्तपरिशुद्धिः सर्वाकारसमाधिवशितया । प्रज्ञापरिशुद्धिः सर्वाकारज्ञानवशितया ॥ १ ॥

बलविभागे श्लोकः—

उपाये शरणे शुद्धौ सत्त्वानां विप्रवादने ।
महायाने च निर्याणे मारभञ्ज नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

अत्र चतुर्ष्वर्थेषु सत्त्वानां विप्रवादनाय मारो यस्तद्भञ्जकत्वेन भगवतो दशानां बलानां कर्म सन्दर्शितम् । यदुत सुगतिदुर्गतिगमनाद्युपायविप्रवादने । अशरणे देवादिषु शरणविप्रवादने । साश्रवशुद्धिमात्रेण शुद्धिविप्रवादने । महायाननिर्याणविप्रवादने च । स्थानास्थानज्ञानबलेन हि भगवान् प्रथमेऽर्थे मारभञ्जको वेदितव्यः । कर्मविपाकज्ञानबलेन द्वितीये । ध्यानविमोक्षसमाधिसमापत्तिज्ञानबलेन तृतीये । इन्द्रियपरापरत्वादिज्ञानबलेन चतुर्थे । हीनानीन्द्रियादीनि वर्जयित्वा श्रेष्ठसन्नियोजनात् ॥ १ ॥

वैशारद्यविभागे श्लोकः —

ज्ञानप्रहाणनिर्याणविघ्नकारकदेशिक ।
स्वपरार्थेऽन्यतीर्थ्यानां निराधृष्य नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

अत्र ज्ञानप्रहाणकारकत्वेन स्वार्थे। निर्याणविघ्नदेशिकत्वे च परार्थे। निराधृष्यत्वादन्यतीर्थ्यैर्भगवतो यथाक्रमं चतुर्विधं वैशारद्यमुद्भावितम् ॥ १ ॥

आरक्षस्मृत्युपस्थानविभागे श्लोकः—

निगृह्यवक्ता[1] पर्षत्सु द्वयसंक्लेशवर्जित ।
निरारक्ष असम्मोष गणकर्ष नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

अनेन त्रीण्यरक्षाणि त्रीणि च स्मृत्युपस्थानानि भगवतः परिदीपितानि, तेषां च कर्म गणपरिकर्षकत्वम्। तैर्हि यथाक्रमं निगृह्यवक्ता च भवति पर्षत्सु निरारक्षत्वात्। द्वयसंक्लेशवर्जितश्चानुनयप्रतिघाभावादसम्मोषतया सदाभूयस्थितस्मृतित्वात् ॥ १ ॥

वासनासमुद्घातविभागे श्लोकः—

चारे विहारे सर्वत्र नास्त्यसर्वज्ञचेष्टितम् ।
सर्वदा तव सर्वज्ञ भूतार्थिक नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

अनेन चारे विहारे वा सर्वत्र सर्वदा वासर्वज्ञचेष्टि- [SL 187] तस्याभावात् भगवतः सर्वक्लेशवासनासमुद्घातः परिदीपितः। असर्वज्ञो हि क्षीणक्लेशोऽप्यसमुद्घातितत्वाद् वासनाया एकदा भ्रान्तेन हस्तिना सार्धं समागच्छति भ्रान्तेन रथेन—इत्येवमादिकमसर्वज्ञचेष्टितं करोति। यथोक्तं माण्डव्यसूत्रे। तच्च भगवतो भूतार्थसर्वज्ञत्वेन[2] नास्ति ॥ १ ॥

असम्मोषताविभागे श्लोकः—

सर्वसत्त्वार्थकृत्येषु कालं त्वं नातिवर्तसे ।
अबन्ध्यकृत्य सततमसम्मोष नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

अनेन यस्य सत्त्वस्य योऽर्थः करणीयो यस्मिन् काले तत्कालानतिवर्तनात् अबन्ध्यं कृत्यं सदा भगवत इत्यसम्मोषधर्मत्वं स्वभावतः कर्मतश्च सन्दर्शितम् ॥ १ ॥

महाकरुणाविभागे श्लोकः—

सर्वलोकमहोरात्रं षट्कृत्वः प्रत्यवेक्षसे ।
महाकरुणया युक्त हिताशय नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

---

१. बिगृह्यवक्ता–सि०। एवमुपर्यपि। २. सर्वज्ञत्वं–सि०।

अत्र महाकरुणा भगवतः कर्मतः स्वभावतश्च परिदीपिता। महाकरुणया हि भगवान् षट्कृत्वो रात्रिन्दिवेन लोकं प्रत्यवेक्षते—को हीयते, को वर्धते इत्येवमादि। तद्योगाच्च भगवान् सर्वसत्त्वेषु नित्यं हिताशयः॥ १॥

आवेणिकगुणविभागे श्लोकः—

चारेणाधिगमेनापि ज्ञानेनापि च कर्मणा।
सर्वश्रावकप्रत्येकबुद्धोत्तम नमोऽस्तु ते॥ १॥

अत्र चारसंगृहीतैः षड्भिरावेणिकैर्बुद्धधर्मैः। अधिगमसंगृहीतैः षड्भिः। ज्ञानसंगृहीतैस्त्रिभिः। कर्मसंगृहीतैश्च त्रिभिः। तदन्यसत्त्वोत्तमानामपि श्रावकप्रत्येकबुद्धानामन्तिकादुत्तमत्वेन सर्वसत्त्वोत्तमत्वं भगवतः परिदीपितम्। तत्र नास्ति तथागतस्य स्खलितम्, नास्ति रवितम्, नास्ति मुषिता स्मृतिः, नास्त्यसमाहितं चित्तम्, नास्ति नानात्वसंज्ञा, नास्त्यप्रतिसंख्यायोपेक्षेति चारसंगृहीताः षडावेणिका बुद्धधर्मा ये बुद्धस्यैव संविद्यन्ते नान्येषाम्। नास्तिच्छन्दपरिहाणिर्नास्ति वीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञाविमुक्तिपरिहाणिः—इत्यधिगमसंगृहीताः षट्। अतीतेऽध्वनि तथागतस्यासङ्गमप्रतिहतं ज्ञानम्। अनागते प्रत्युत्पन्नेऽध्वनि तथागतस्यासङ्गमप्रतिहतं ज्ञानमिति ज्ञानसंगृहीतास्त्रयः। सर्वं तथागतस्य कायकर्म ज्ञानपूर्वङ्गमं ज्ञानानुपरिवर्ति। [SL 188] सर्वं वाक्कर्म सर्वं मनस्कर्मेति कर्मसंगृहीतास्त्रयः॥ १॥

सर्वाकारज्ञताविभागे श्लोकः—

त्रिभिः कायैर्महाबोधिं सर्वाकारामुपागत।
सर्वत्र सर्वसत्त्वानां काङ्क्षाच्छिद नमोऽस्तु ते॥ १॥

अनेन त्रिभिश्च कायैः सर्वाकारबोध्युपगमत्वात् सर्वज्ञेयसर्वाकारज्ञानाच्च सर्वाकारज्ञता भगवतः परिदीपिता। त्रयः कायाः - स्वाभाविकः, साम्भोगिकः, नैर्माणिकश्च। सर्वज्ञेयसर्वाकारज्ञानं पुनरत्र सर्वसत्त्वानां देवमनुष्यादीनां सर्वसंशयच्छेदेन कर्मणा निर्दिष्टम्॥ १॥

पारमितापरिपूरिविभागे श्लोकः—

निरवग्रह निर्दोष निष्कालुष्यानवस्थित।
आनिङ्क्ष्य सर्वधर्मेषु निष्प्रपञ्च नमोऽस्तु ते॥ ५९॥

अनेन सकलषट्पारमिताविपक्षनिर्मुक्ततया षट्पारमितापरिपूरिर्भगवत उद्भाविता। तत्रानवग्रहत्वं भोगनिराग्रहत्वाद्वेदितव्यम्। निर्दोषत्वं निर्मलकायादिकर्मत्वात्। निष्कालुष्यत्वं लोकधर्मदुःखाभ्यां चित्ताकलुषी-

करणात्। अनवस्थितत्वमल्पावरमात्राधिगमानवस्थानात्[1]। आनिङ्क्ष्यत्व-मविक्षेपात्। निष्प्रपञ्चत्वं सर्वविकल्पप्रपञ्चासमुदाचारात्॥ १॥

बुद्धलक्षणविभागे द्वौ श्लोकौ—

निष्पन्नपरमार्थोऽसि सर्वभूमिविनिःसृतः।
सर्वसत्त्वाग्रतां प्राप्तः सर्वसत्त्वविमोचकः॥ १॥

अक्षयैरसमैर्युक्तो गुणैर्लोकेषु दृश्यसे।
मण्डलेष्वप्यदृश्यश्च सर्वथा देवमानुषैः॥ २॥

अत्र षड्भिः स्वभावहेतुफलकर्मयोगवृत्त्यर्थैर्बुद्धलक्षणं परिदीपितम्। तत्र विशुद्धा तथता निष्पन्नः परमार्थः। स च बुद्धानां स्वभावः। सर्वबोधिसत्त्वभूमिनिर्यातत्वं हेतुः। सर्वसत्त्वाग्रतां प्राप्तत्वं फलम्। सर्वसत्त्वविमोचकत्वं कर्म। अक्षयासमगुणयुक्तत्वं योगः।

नानालोकधातुषु दृश्यमानता निर्माणकायेन, पर्षन्मण्डलेष्वपि [SL 189] दृश्यमानता साम्भोगिकेन कायेन, सर्वथा चादृश्यमानता धर्मकायेनेति त्रिविधा प्रभेदवृत्तिरिति॥ १-२॥

॥ महायानसूत्रालंकारेषु व्यवदातसमयमहाबोधिसत्त्वभाषिते चर्याप्रतिष्ठाधिकारो नामैकविंशतितमोऽधिकारः॥

॥ समाप्तश्च महायानसूत्रालङ्कार इति॥

---

१. ०वरण०-सि०।

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः ॥

परिशिष्टोंऽशः

अभ्युपगमनमित्युच्यते। सा चाश्रयपरिनिष्पत्तिः; तत्समत्वात्। दर्शनमार्गाद्यवस्थायामपि परिवृत्तिसद्भावादिह परिनिर्देशः, निःशेषमलप्रहाणात्। सा चाश्रयपरिनिवृत्तिः कथं प्रवेष्टव्या ? कथं वा तत्प्रवेशः ? निरुत्तरो भवतीत्याह—

दशभिराकारैराश्रयपरिनिवृत्तिप्रवेशो निरुत्तरः। दशभिरिति वक्ष्यमाणैः स्वभाववस्तुपुद्गलविशेषप्रयोजनाश्रयमनसिकाराप्रयोगादीनवानुशंसप्रवेशैः।

तत्रादौ स्वभावप्रवेशस्तथतावैमल्यमागन्तुकमलतथता अप्रख्यानप्रख्यानाय। यत्तथतावैमल्यत्वमागन्तुकमलाप्रख्यानाय तथतामात्रप्रख्यानाय च स स्वभाव आश्रयपरिवृत्तेरेव यत् परिज्ञानम्, अयमुच्यते—स्वभावप्रवेशो निरुत्तर इति।

तत्र वस्तुप्रवेशः साधारणभाजनविज्ञप्तितथतापरिवृत्तिः सूत्रान्तधर्मधातुतथतापरिवृत्तिरसाधारणसत्त्वधातुविज्ञप्तिस्तथतापरिवृत्तिश्च। आश्रयपरिवृत्तस्त्रिविधतथतापरिवृत्तिर्वस्तु तदत्ययभेदात्। फलभेदाच्च सम्प्रख्यानदेशनादर्शनविशेषफलभेदतः।

तत्र पुद्गलप्रवेशो द्वे आद्ये तथतापरिवृत्ती बुद्धबोधिसत्त्वानां नान्येषामसाधारणत्वात्। पश्चिमा श्रावकप्रत्येकबुद्धानामपि अपि बुद्धबोधिसत्त्वानां साधारणत्वात्।

तत्र विशेषप्रवेशो बुद्धबोधिसत्त्वानां बुद्धक्षेत्रपरिशुद्धिविशेषः। बुद्धक्षेत्रपरिशुद्धिविशेषो बुद्धबोधिसत्त्वानामेव, न श्रावकादीनाम्; तदुकेलकुनिलप्रख्यानात् धर्मकायसाम्भोगिकनैर्माणिककायप्रतिलम्भश्च दर्शनदेशनाचित्तत्वप्रतिलम्भविशेषात्। तत्र दर्शनप्रतिलम्भविशेषः सर्वाकारज्ञेयप्रत्यक्षीभावतोऽवगन्तव्यः देशनाप्रतिलम्भविशेषो गाम्भीर्यौदार्यविचित्रानेकमुख्याप्रमेयदेशनतः। चित्तत्वप्रतिलम्भविशेषः सत्त्वकृत्यानुष्ठानाश्रयाप्रमेयाव्याहताभिज्ञादिगुणप्रतिलम्भतः। ते एते यथाक्रमं धर्मकायसाम्भोगिकनैर्माणिककायप्रतिलम्भा भवन्तीति वेदितव्यम्।

तत्र प्रयोजनप्रवेशः पूर्वप्रणिधानविशेषात्। महायानदेशनालम्बनविशेषात्। दशभूमिषु प्रयोगविशेषाच्च। तत्र त्रिविधेन प्रयोजनविशेषेण श्रावकप्रत्येकबुद्धेभ्यो बुद्धबोधिसत्त्वानामाश्रयपरिवृत्तिर्विशिष्यते। त्रिविधो विशेषः—प्रणिधानविशेषः, पूर्वप्रणिधानविशेषान्महाबोधिप्रणिधानतः; आलम्बनविशेषो महायानदेशनालम्बनविशेषात्, सर्वधर्मसम्भिन्नालम्बनतः, तत्तथतालम्बनतश्च।

प्रयोगविशेषश्च दशसु भूमिषु प्रयोगविशेषात्। सर्वावरणप्रहाणाय तत्प्रतिपक्षभावनाप्रयोगविशेषत:।

तत्राश्रयपरिवृत्तेराश्रयो निर्विकल्पज्ञानं तेनाश्रयेण तत्प्रतिलम्भात्। तस्य प्रवेश: कथं भवति ? इत्याह—षडाकारनिर्विकल्पज्ञानप्रवेशात्। षडाकार-प्रवेश: पुनरालम्बनत:, निमित्तपरिवर्जनत:, सम्यक्प्रयोजनत:, लक्षणत:, अनुशंसत:, परिज्ञानतश्च। तत्र चतुर्भिराकारैरालम्बनप्रवेश:। [SL 191] चतुर्भिरित्यनन्तरं वक्ष्यमाणै:। तद्यथा महायानदेशनातदधिमुक्तिनिश्चय-सम्भारपरिपूरिभि:। तस्य ज्ञानस्योत्पत्त्यालम्बनमहायानदेशना तत्राधि-मुक्ति:, तन्निश्चय, सम्भारपरिपूरिश्च। अन्यतमाभावे तदनुत्पादादिति समस्त आलम्बनप्रवेश: परिदीपितो भवेत्।

तत्र चतुर्भिराकारैर्निमित्तपरिवर्जनप्रवेशो विपक्षप्रतिपक्षतथताधिगम-धर्मनिमित्तपरिवर्जनतोऽनुगन्तव्य:। तत्र १ विपक्षनिमित्तपरिवर्जनं रागादि-निमित्तपरिवर्जनात्। २. प्रतिपक्षनिमित्तपरिवर्जनमशुभादिनिमित्तपरिवर्ज-नात्। ३. तथतानिमित्तपरिवर्जनं तथतेयमित्यप्याभोगनिमित्तपरिवर्जनात्। ४. अधिगमधर्मनिमित्तपरिवर्जनं प्रतिलब्धभावनाधिगमनिमित्तपरिवर्जनाद् भूमिषु।

एवं चौदारिकमध्यसूक्ष्मदूरानुगतनिमित्तपरिवर्जनं यथासंख्यमने-नोद्भावितं भवति। तत्र विपक्षनिमित्तं दौष्ठुल्यहेतुत्वात् सुलक्ष्यत्वात् चौदारिकम्; तत्प्रतिपक्षत्वात्। प्रतिपक्षनिमित्तं मध्यम; तदन्यसर्वप्रतिपक्ष-त्वात्। तथतानिमित्तं सूक्ष्ममनिमित्तभावनाफलत्वादधिगमनिमित्तं दूरानु-गतं वेदितव्यम्।

तत्र सम्यक्प्रयोगप्रवेशश्चतुर्भिराकारै:, तद्यथा—उपलम्भप्रयोगतो विज्ञप्तिमात्रोपलम्भात्, अनुपलम्भप्रयोगतोऽर्थानुपलम्भात्, उपलम्भानुप-लम्भप्रयोगतोऽर्थाभावे विज्ञप्तिमात्रानुपलम्भात् विज्ञप्त्यर्थाभावे विज्ञप्त्य-योगात्। नोपलम्भोपलम्भप्रयोगश्च द्वयानुपलम्भना द्वयोपलम्भात्।

तत्र लक्षणप्रवेशस्त्रिभिराकारै:। तद्यथा धर्मताप्रतिष्ठानतोऽद्वयनिर-भिलाप्यधर्मताप्रतिष्ठानात्तदालम्बनत:। सम्प्रख्यानतो द्वययथाभिलापेन्द्रि-यमविषयमविज्ञप्तिभाजनलोकासम्प्रख्यानात्। द्वययथाभिलापेन्द्रियविषय-विज्ञप्तिभाजनलोकनिमित्तानां यत्रासम्प्रख्यानं भवति तत् निर्विकल्पज्ञानम्। एवं सति किं देशितं भवति ? इत्याह—तदनेनारूप्यनिदर्शनमप्रतिष्ठामना-भाषमविज्ञप्तिकमनिकेतमिति निर्विकल्पस्य ज्ञानस्य यथासूत्रं लक्षणमभि-द्योतितं भवति; तत्र द्वयेन ग्राह्यग्राहकभावेन निरूपयितुमशक्यत्वात्॥

●

कारिकासूची

आर्यमैत्रेयनाथेन निबद्धाः कारिका इह।
स्वाभिप्रायप्रबोधाय, तासां सूची प्रतायते ॥

परिशिष्टम्–३

ग्रन्थ-ग्रन्थकृन्नामसूची

ग्रन्थाश्च ग्रन्थकाराश्च ये स्मृता इह दर्शने ।
सूची प्रतन्यते तेषामक्षरक्रमशालिनी ॥

परिशिष्टम्–४

विशिष्टशब्दसूची

इहोक्ता गुरुशिष्याभ्यां शब्दा ये पारिभाषिकाः।
सूचीयं तायते तेषामक्षरक्रमपूर्विका ॥

दिसम्बर १९८५

बौद्धभारती - ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक : स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

१. तत्त्वसङ्ग्रह, कमलशीलपंजिकासहित (भाग १) ७५)
२. तत्त्वसङ्ग्रह, ,, ,, (भाग २) ७५)
३. प्रमाणवार्त्तिक, मनोरथनन्दिवृत्तिसहित ७५)
४. परमार्थचिन्तन, (सिद्धार्थमहाभिनिष्क्रमण नाटक) २)
५-६. अभिधर्मकोश, भाष्य-स्फुटार्था सहित (भाग १) ७५)
७. वादन्याय, शान्तरक्षितकृत टीकासहित एवं
सम्बन्धपरीक्षा, प्रभाचन्द्रकृत व्याख्यासहित ४०)
८-९. अभिधर्मकोश, भाष्य-स्फुटार्थासहित (भाग २) ७५)
१०. बालावतार, पालि-व्याकरण १०)
११. न्यायदर्शन, वात्स्यायनभाष्य-हिन्दीरूपान्तर ४०)
१२. विसुद्धिमग्ग, हिन्दी-संक्षेपसहित ६०)
१३. मिलिन्दपञ्ह, हिन्दी-संक्षेपसहित ३०)
१४. अभिधानप्पदीपिका, (पालि-शब्दकोश) ४०)
१५. पालिसद्दनिदस्सिका, (पालि-संस्कृत-हिन्दीकोश) ३०)
१६. मध्यमकशास्त्र, प्रसन्नपदा, हिन्दीभावानुवादसहित ७०)
१७. (क) पातिमोक्खसुत्त, (भिक्खुपातिमोक्ख) १०)
(ख) गुह्यसमाजतन्त्र, (वज्रयान बौद्धतन्त्र) ७५)
१८. न्यायबिन्दु, विनीतदेव एवं धर्मोत्तरटीकासहित ७५)
१९. महायानसूत्रालङ्कार, (हिन्दीभावानुवादसहित) ७५)
२०. तत्त्वोपप्लवसिंह, (श्री जयराशिभट्ट कृत) (प्रेस में) ७५)

बौद्धभारती, पोस्ट बाक्स १०४९, वाराणसी-१ (उ०प्र०)

पो० बा० १०४६,
वाराणसी-२२१००१